Reg. No. : N-1316/2014-15

May-October, 2016
Vol. II, No. II
ISSN 2394-2207

उन्मेष

Unmesh

An International Multilingual
Half Yearly Refereed
Research Journal

सम्पादकद्वय

डॉ० राधेश्याम मौर्य   शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादकद्वय

डॉ० अरविन्द कुमार

प्रकाशक

जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़, उ०प्र०

Reg. No. : N-1316/2014-15

ISSN : 2394-2207

उन्मेष

Unmesh

An International Multilingual Half Yearly Refereed Research Journal

Vol. : 2 **No. 2** **May-October, 2016**

सम्पादकद्वय

डॉ० राधेश्याम मौर्य

शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादक

डॉ० अरविन्द कुमार

प्रकाशक

जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़-२३०००१ (उ०प्र०)

lj{kd&eMYk

M,0 gjh'kpUæ tk; lokYk] पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इविंग क्रिश्चियन महाविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

MkW0 ch0,u0 flag] पूर्व निदेशक, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

M,0 pEik dqekjh flag] प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

lEiknd

M,0 jk/ks';ke ekS;Z] प्रवक्ता, जी0वी0आई0सी0, देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ0प्र0

f'koUnz dqekj ekS;Z] शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

lg&lEiknd

MkW0 vjfoUn dqekj] हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ÁcU/k&lEiknd

MkW0 lhrk jke flag] एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
गणपत सहाय पी0जी0 कॉलेज, सुलतानपुर, उ0प्र0

M,0 fot;] प्रवक्ता, जी0वी0आई0सी0 देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ0प्र0

vuqokn lgk;d

lqeu yrk dqekjh] शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

lEiknd&e.MYk

MkW0 fgjks'kh llkdh ¼ एसो0 प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ सोशल एजूकेशन, हिरोशिया विश्वविद्यालय, जापान

M,0 Òj;YkkYk ¼ एसो0प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

MkW0 lehj dqekj ikBd ¼ असि0 प्रोफेसर, डी0ए0वी0 पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी, उ0प्र0

M,0 ih;w"kdkUr 'kekZ ¼एसो0 प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, एम0डी0पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़, उ0प्र0

M,0 jktho dqekj flag ¼ विभागाध्यक्ष, गणित विभाग, प्रताप बहादुर पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़, उ0प्र0

M,0 vjfoUn dqekj ¼ असि0 प्रोफेसर, डॉ0 हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

lar¨"k dqekj ¼ असि0 प्रोफेसर, राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी, उ0प्र0

egUæ flag ikloku ¼ असि0 प्रोफेसर, राममनोहर लोहिया विधि विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ0प्र0

ijke'kZ&e.My

डॉ0 प्रकाश चन्द्र तिवारी, तोशिको ईदाका, डॉ0 प्रचेतस, अशोक कुमार, अमित कुमार सिंह कुशवाहा, मो0 आसिम अंसारी

fof/k&ijke'kZ

Kku Ádk'k e©;Z	:	पूर्व राज्य सूचनायुक्त, उ0प्र0
Mh0oh0 lj¨t	:	एडवोकेट, हाईकोर्ट, मुम्बई
lEikndh; lEidZ	:	जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, सी–23, आवास विकास कालोनी प्रतापगढ़–230001 (उ0प्र0) भारत मो0– 09415627372, 08004802456 ई–मेल : unmesh0110@gmail.com shivendrakr.maurya@gmail.com

izdk'kd

tu lsok ,oa 'kks/k f'k{kk laLFkku] izrkix<+] m0iz0

eqæd

jkt xzkfQDl] ch0,p0;w0 jksM] ydadk] okjk.klh
मो0 : 09415842611 / 08081711954

---

u¨V ¼& सम्पादन, संचालन–पूर्णतः अवैतनिक / अव्यवसायिक / अनियतकालीन। उन्मेष में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं। लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद–विवाद के लिए लेखक की जिम्मेदारी स्वयं की होगी। सम्पादक, प्रकाशक एवं उन्मेष परिवार के किसी भी सदस्य की जिम्मेदारी नहीं होगी। किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र प्रतापगढ़ होगा।

lEikndh;

उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव होने को है। सभी दलबदलू अपना लाभ देखते हुए एक पार्टी से दूसरी पार्टी में बहुत तेजी से दलबदल कर रहे हैं। यह कोई नई बात नहीं है। दीपावली का पर्व अभी हाल ही में बहुत धूमधाम से मनाया गया। चीनी सामानों के बहिष्कार की बात बहुत हुई, लेकिन उन पर अमल कितनों ने किया? यह मत पूछिए। दीपक जलने से कीट–पतंगे स्वयमेव जल–मरते हैं, किन्तु अपने घरों व बड़ी–बड़ी इमारतों में लटकती चीनी छालरों से हमने उन्हें पलने का अवसर दिया। उनसे नुकसान कितना है उसे सोचे बगैर हम अपने–अपने नफा की बात सोच बैठे। पर्व बीतते ही वे झालरें किसी के घर या इमारतों पर दिखाई नहीं देतीं। यही हाल दलबदलू नेताओं का है। ढोल–नगाड़ों के साथ अगली पार्टी में उनका स्वागत होता है, दैनिक पत्रों में सुर्खियाँ पाते हैं, किन्तु यह कब तक? यह सत्य किसी से छिपा नहीं है।

इस बीच सबसे समसामायिक मुद्दा रहा– सर्जिकल स्ट्राइक का। इस मुद्दे ने रोहित बेमुला (हैदराबाद विश्वविद्यालय) व जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय परिसर में हुई घटनाओं की धार को कुंद कर दिया। महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की घटना इस सबसे छोटी थी जिसका समय रहते निस्तारण हो गया। अब बारी है– काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दैनिक वेतन भोगी कर्मचारियों तथा बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ से निष्काषित दलित छात्रों की। जो अपनी मांगो को लेकर दिन–रात अनशन पर बैठे हुए हैं। शैक्षिक परिसरों में ये सब क्या हो रहा हैं? सब अवाकू हैं। सर्जिकल स्ट्राइक तथा कश्मीर में शांति जैसी पहल की योजना स्वागतेय है, किंतु उस पर राजनीति हो, ये बात समझ में नहीं आती। ये बात समझ में आयेगी भी तो कैसे?

luk d m|kx l gvk lftdy LVkbdA

J; crkdj vkiuk ekyk yV ekbdAA

ऐसा माना जाता है कि 'सर्जिकल स्ट्राइक' उरी हमले की प्रतिक्रिया थी। इस बात से हमें मुँह नहीं फेरना चाहिए कि यह प्रतिक्रिया कम, सोची–समझी रणनीति ज्यादा हो सकती है, जो इतने दिन से चली आती हुई पाक के नापाक हरकतों का परिणाम बयाँ करती है। हाँ, ये हो सकता है कि भारतीय सेना तथा सत्ता को उचित अवसर की तलाश थी। पठानकोट के हमले का सबब इसे उतना भारी न पड़ा था जितना कि उरी हमला। इसीलिए यह उचित अवसर था कि पाक को उसी की भाषा में जवाब दिया जाय। इस हमले में मारे गये सभी भारतीय शहीदों को 'उन्मेष' परिवार अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।..... यदि 'सर्जिकल स्ट्राइक' का श्रेय भारतीय सेना या देश को न देकर किसी पार्टी विशेष को मिलता है तो एसे में राजनीतिक चर्चाओं का बाजार गरम होना स्वाभाविक है। संदेह की स्थिति में कुछ लोगों द्वारा उसके होने का सबूत तक भी माँगा गया। इन्हीं हरकतों के कारण 'सर्जिकल स्ट्राइक' भारतीय सेना का हल्ला बोल कम होकर राजनीतिक पार्टियों के हल्ला में परिवर्तित हो गया और जनता के बीच देश प्रेम उमड़ने का भाव धीरे–धीरे जाता रहा।

रियो ओलंपिक ने खुश होने के कुछ क्षण हमें अवश्य प्रदान किये, किन्तु जिस उम्मीद के साथ भारतीय टीम प्रवेश पायी थी, उसका प्रदर्शन निराशजनक रहा। उसमें अधिक निराश किया पुरूष प्रतिभागियों ने। इस बार 123 की संख्या में भारत की तरफ से किसी भी ओलंपिक में भेजा गया सबसे बड़ा खिलाड़ियों का दल था। पी0वी0 सिन्धु और साक्षी मलिक रियो ओलंपिक की हीरो रहीं, पुरूष इस प्रतियोगिता में जीरो सिद्ध हुए। महिलाओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखने वालों के लिए यह अच्छा सबब था। लोगों के मुँह से यह कहते हुए सुना गया कि जिस देश में महिला की नाक काटी गयी, उसी देश की नाक आज उन्हीं महिलाओं ने ही बचाई। वह रात सबको याद होगी, जब जिमनास्ट दीपा कर्माकर ने स्वर्ण पदक की प्रतिस्पर्धा में सबकी नींद उड़ाकर औरों का भी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। हालांकि वह यह स्पर्धा हारकर चौथे स्थान पर रहीं, फिर भी उन्होंने सपनों में नई उड़ान भर दी।

तमाम उठापटक के बावजूद हर्ष के साथ आप लोगों के बीच यह कह पा रहा हूँ कि इस अंक के साथ 'उन्मेष' पत्रिका ने अपने दो वर्ष पूर्ण कर लिए हैं। प्रत्येक अंक के प्रकाशन के साथ ही संतानोत्पत्ति जैसे सुख की अनुभूति होती है। संतान के विशिष्ट लक्षणों से युक्त होने पर वह खुशी दुगुनी हो जाती है, वैसे ही इस अंक के साथ भी है। इस अंक में अन्य अंको से बेहतर शोध–आलेखों की प्राप्ति ने मनोबल को और अधिक बढ़ा दिया है। किंतु इसका यह कारण नहीं कि पिछले अंको के शोध–आलेख कमतर थे। 'उन्मेष' एक अन्तर्राष्ट्रीय बहुभाषी पत्रिका है। इसकी अन्तर्राष्ट्रीयता तब सिद्ध होती जब विदेश का कोई विद्वान भी इसके सम्पादन मंडल से जुड़ा होता। डॉ0 हिरोशी ससाकी और तोशिको इदाका का लाख शुक्र है कि उन्होंने इस पत्रिका से जुड़ने की अपनी सहमति प्रदान कर उस कमी को भी पूरा कर दिया। इन विद्वानों से बात–चीत कराने में भाई अजय कुमार मौर्य (शोध छात्र, आर्य महिला पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी) का भरपूर सहयोग रहा। इनसे आगे यही उम्मीद भी है कि कठिनाइयों में मेरा साथ नहीं छोड़ेंगे। इन जापानी विद्वानों के प्रति हम ह्रदय से आभारी व कृतज्ञ हैं। इनसे आशा करता हूँ कि 'उन्मेष' पत्रिका को आगे बढ़ाने में सहयोग प्रदान करेंगे।

अन्तर्विषयी पत्रिका होने के नाते इस अंक में कई प्राध्यपकों और शोधार्थियों के महत्वपूर्ण शोध–आलेख सम्मिलित हैं। पत्रिका की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए कुछ मित्र, महानुभावों के शोध–पत्र शामिल नहीं किये जा सके, यदि उनकी भावना आहत होती है, तो उनसे विनम्र क्षमा प्रार्थी हूँ। कुछ शोधार्थियों के शोध–आलेखों में जो त्रुटियाँ थीं, उनका यथासंभव सुधार किया गया है। ताकि वे भविष्य में अपने को बेहतर बना सकें। विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी–विभागों से सम्मिलित किये गये शोध–पत्रों की संख्या अधिक है। अन्य विषयों में शोध का रूझान उतना दिखाई भी नहीं पड़ता, जितना की हिन्दी शोधार्थियों में हैं। इस अंक में सर्वेक्षणात्मक लेख भी शामिल किये गये हैं, जो काफी महत्व के हैं। स्त्री–विमर्श, दलित–विमर्श के अलावा विभिन्न दृष्टियों को उद्घाटित करने वाले शोध–पत्र इस अंक की उपलब्धि हैं।

कई महत्वपूर्ण रचनाकारों की जन्मशती के अवसर पर उन्हें याद करते हुए इस वर्ष मृत हुए गतावशेषों को नमन करता हूँ। जैसे–तैसे यह अंक बन पड़ा है, आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत है। 'उन्मेष' पत्रिका के सुव्यवस्थित टंकण एवं मुद्रण के लिए श्री राज मौर्य एवं राहुल मौर्य के प्रति ह्रदय से आभार व्यक्त करता हूँ, साथ ही इस पत्रिका के सुधी अध्येताओं, शोधार्थियों एवं अन्य सुह्रदय विद्वत्जनों तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वाले हितैषी जनों का ह्रदय से आभारी हूँ। 'उन्मेष' पत्रिका के सदस्य मंडलों का ऐसे ही सहयोग मिलता रहे साथ ही उपेक्षित सुझाव भी।

f’koUn dekj ek;

vu|Øef.kdk

■	ykdrÙo vkj dchj dk dk0;&l lkj *डॉ0 आशुतोष कुमार पाण्डेय*	1&3
■	Tkkrdk e iifrcfEcr jkT; dk udkjkRed Lo:i *डॉ0 जयन्त कुमार*	4&7
■	je'kpUn 'kkg d miU;kl k e ruko ,o fo?kVu *पूजा पुण्डीर*	8&14
■	inekor dk lkekU; ,o fof'k"V dFkkud *गोपेश पाण्डेय*	15&18
■	^inekor* dk ^ukxerh fo;kx&[k.M* % lUnHk vkj idfr *संध्या सिंह*	19&23
■	21oh lnh dh ie|[k dof;f=;k dh fgUnh dfork e lkekftd&ufrd eY; *श्वेता अग्रवाल*	24&29
■	ledkyhu fgUnh miU;klk e ekuoh; l?k"k d vk;ke *अमित कुमार*	30&32
■	d|r|cu d'r ^e'xkorh* % ,d v/;;u *सुकृति मिश्रा*	33&36
■	fgnh ukVdk e L=h&efDr *गौरव कुमार जायसवाल*	37&39
■	xhfr&rÙo dh nf"V l ykdxhrk dk eY;kdu *प्रियंका गुप्ता*	40&43
■	lkfgR; dk lokifj mí'; % ekuork vkj ufrdrk *मीरा*	44&45
■	ekphjke dfork % dfo /kfeYk *पंकज कुमार*	46&48
■	nekg fty d i|jkrkfÙod lk{; % ,d fo'y"k.k *उमेश चन्द्र पाण्डेय*	49&55
■	Hkkjr e ekuo tfur vkink icU/ku *देवेन्द्र नारायण पाण्डेय*	56&61
■	irkix< tuin d ikFkfed Lrj ij f'k{kkfe=k ,o fu;fer f'k{kdk dh f'k{k.k n{krk dk r|yukRed v/;;u *धर्मेन्द्र कुमार वैश्य*	62&67

■ **feJ] /khjknkRr] lkfRod rFkk lkRorh dk v/;;u** 68&70
¼vlxj otkgr d ukVd *xkM l@xk/kh-dke* d lUnHk e½
आशीष कुमार सिंह

■ tBu e lonuk ,o f'kYi 71&76
रविकान्त जैसल

■ eukgj ';ke tk'kh d miU;kl e L=h&i:"k dk jkxkRed lEcU/k 77&80
डॉ0 मृदुल जोशी एवं अनिका सिंह

■ jk"Vh; uotkxj.k o L=h i'u 81&87
मीता सोलंकी

■ vk/kfudrk vkj mÙkj&vk/kfudrk % Hkkjrh; ifjiz{; e 88&92
संजय कुमार

■ fgUnh miU;kl e ?kfVr 'kfYid&ifjorZu dh fn'kk ,o nf"V 93&96
हेमन्त प्रसाद

■ ixfr'khy pruk vkj ixfroknh dforK 97&99
अरूण कुमार शुक्ल

■ mRrj&vk/kfudrk 100&102
अनुपम मिश्र

■ Ákphu uhfr xzFk e lkekftd thou ,o 'kklu r= 103&111
डॉ0 रविश कुमार तिवारी

■ ukV;'kkL= okfpdkfHku;foe'k% 112&116
चक्रपाणिपोखेलः

■ f'kf{kr e/;oxZ dh ic/nrk] foo'krk] dqBk dk 117&120
ekufld] lkekftd fp=.k % foik=
अनुज कुमार शुक्ल

■ vK; d dFkk&lkfgR; dk Hkk"kk&lkUn;Z 121&124
अवनीश कुमार मिश्र

■ dk;jr v/;kid f'k{kdk dh lokdkyhu f'k{kk e uokpkfjd 125&131
o okLrfod if'k{k.k dh vko';drk dk v/;;u
बृजेश कुमार

■ fgUnh vkj mnZ d vkjfHkd miU;kl 132&136
चितरंजन कुमार

■ vdYkk iYkk'k % vk/kfud L=h thou 137&140
दिनेश पाल

■ Ukkjh fLFkfr % ckS) lkfgR; d fo'k"k lnHk e 141&145
ज्योति मन्द्रेल

■ L=h&eqfDr dk lUnHk vkj Hkkjrh; foe'kdkj 146&151
राजेश कुमार यादव

■ Hkkjr esa ckS) /kEe dk mnHko % ,d nk’kZfud foe’kZ 152&155
रमेश रोहित

■ ^Ykkd dyk lxgkYk;* y[kuÅ 156&157
आशीष कुमार सिंह

■ dUuM+ lkfgR; dk ifjp;kRed v/;;u 158&162
भरत

■ ukxktqu ds miU;klksa esa gkf’k, dk lekt 163&168
सियाराम

■ frfFkLo : ifoe’kZ% 169&172
उमाशंकर शर्मा

■ /keZ’kkL=h; çek.k 0;oLFkk dk foospukRed v/;;u 173&179
दिव्या भारती

■ Hkh"e lkguh ds miU;klksa esa 0;Dr lekt 180&182
सूर्य प्रकाश

■ fdlku psruk ds dfo % dsnkjukFk vxzoky 183&187
रामाश्रय पटेल

■ ckS) egk;ku lw=&lkfgR; esa ofLkZr; lw=ksa dk egÙo 188&190
डॉ0 नीलम यादव

■ okYehfd jkek;.k esa lapkj ds fofo/k lk/ku 191&195
डॉ. लोकनाथ

■ cq) /keZ esa lkkjferkvksa dk egÙo 196&201
डॉ0अरविन्द कुमार सिंह

■ frryh % ukjh vfLerk dh igpku 202&205
पीयूष कुमार द्विवेदी

■ **ARCHITECTURAL DEVELOPMENT OF SHARQI RULERS IN JAUNPUR** **206-208**
Rahul Maurya

■ **Social Networking Sites with proper Authentication** **209-213**
Aruni Singh & Sita Ram Singh

■ **POLITICS OF IMMIGRATION IN CANADA** **214-218**
Charu Ratna Dubey

■ **STARTUP INDIA** **219-222**
Dr. Ragini Shah

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

yksdrÙo vkSj dchj dk dkO;&lalkj

MkW0 vk'kqrks"k dqekj ik.Ms;*

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर का नाम बड़े ही आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है। वास्तव में कबीर जिस महान प्रतिभा को लेकर संत काव्य की दुनिया में पदार्पण करते हैं, वह अत्यन्त असाधारण है। कबीर ने, अपने असाधारण ज्ञान पुंज से लम्बे समय तक भारतीय जनमानस का पथ आलोकित किया और आज भी कर रहे हैं।

कबीर महान संत रामानन्द के शिष्य थे, जिन्हें उन्होंने बलात् अपना गुरू बनाया था। नाभा दास ने अपनी कृति 'भक्तमाल' में कबीर का रामानन्द के शिष्य के रूप में स्पष्ट उल्लेख किया है। कबीर दास जी निर्गुण काव्य धारा के एक तरह से प्रवर्तक माने जाते हैं और संत काव्य धारा के एक मजबूत आधार स्तम्भ भी हैं। तत्कालीन समय एवं परिस्थितियों में कबीर ने जिस आत्मबल, प्रखर वाणी एवं उदात्त व्यक्तित्व से समाज में व्याप्त कुरीतियों, कुप्रथाओं, छुआछूत, आडम्बर पूर्ण जीवन पर कुठाराघात किया। वह कहीं न कहीं भारतीय जनमानस के लिए संजीवनी सिद्ध हुई।

संत कवियों में कबीर सबसे असाधारण थे, और उनकी प्रतिभा किसी न किसी रूप में ईश्वरीय देन थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर की प्रतिभा के संदर्भ में बताते हुए लिखा है, कि 'कुछ भी हो कबीर में प्रतिभा बहुत ही प्रखर थी, कबीर जो बिल्कुल पढ़े लिखे नहीं थे, फिर भी उन्होंने जिस प्रकार अपनी सहज अनुभूति को शब्दों में अभिव्यक्त किया है वह घोर आश्चर्यजनक है, जिस प्रकार उनकी वाणी साखी, सबद–रमैनी का गायन सहज एवं लोक व्यवहार के शब्दों में करती है। वह इनके नैसर्गिक प्रतिभा की ओर संकेत करती है।

कवि के रूप में कबीर जीवन से बिल्कुल जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। कबीर ने वही लिखा जो सत्य था, यथार्थ था एवं सत प्रतिशत व्यवहारिक था। जिस प्रकार कबीर का व्यक्तित्व निराला एवं सहज था उसी प्रकार उनकी कविता भी बिल्कुल सहज एवं सुबोध है कबीर जिस विद्रोही प्रकृति को लेकर संत काव्यधारा में प्रवेश करते हैं, वह उस समय की मांग एवं आवश्यकता थी। तत्कालीन मुस्लिम शासित देश में समाज के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की कुरीतियाँ एवं कुप्रचार व्याप्त था। धर्म एवं जाति की श्रेष्ठता के नाम पर लोगों में झगड़े हो रहे थे। आडंम्बर पूर्ण जीवन का समाज में वर्चस्व व्याप्त था, सर्वत्र अशांति का बोल–बाला था। पंडित और मौलवी अपनी–अपनी प्रभुता स्थापित करने में लगे थे, समाज भेदभाव की भयंकर ज्वाला में जल रहा था, ऐसे समय में समाज सुधारक के रूप में युग पुरूष कबीर ने अवतरित होकर समाज में व्याप्त हर प्रकार की विसंगतियों को वाणी से दूर करने का प्रयास किया और अपने वाणी से पथ भ्रष्ट समाज का पथ प्रदर्शित किया।

कबीर ने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की उपासना पर बल दिया और उस ब्रह्म को प्रियतम की संज्ञा दी और खुद को उसकी प्रियतमा बतलाया। कबीर ने ईश्वर के जिस शरीर का विधान किया है, वह दुर्बोध तो अवश्य है, पर कबीर की सहज वाणी एवं व्यावहारिक ज्ञान ने उसे सहज बना दिया है, कबीर ने अपने दोहो में लोकतत्व का विधान खूब किया है, वह चाहे आध्यात्मिक विषय क्यों न हो? कबीर ने उसे भी लोक, व्यवहार से जोड़ दिया है–

nqyfgfu xkogq eaxy pkjA ge ?kj vk;s jktk jke HkjrkjA

---

*प्रवक्ता (हिन्दी), केन्द्रीय विद्यालय संगठन।

इसी प्रकार कबीर ने लौकिक प्रेम को भी पारलौकिकता तक पहुँचाने का प्रयास किया है। कबीर का ईश्वर घट–घट एवं कण–कण में बसता है वह सबके अन्तर में व्याप्त है। उसे ढूढ़ने के लिए हमें अपने हृदय के दरवाजे को खोलना होगा मन के मैल को साफ करना होगा कबीर ने अपने इस कठिन ज्ञान को भी लोक व्यवहार से जोड़ कर अत्यन्त सरल बना दिया है–

?k?kV dk iV [kksy rksdk fi;k feysxkA

?kV&?kV esa ogh lkbZ clr gS dVqd opu ugh ckyAA

कबीर ने जिस प्रकार ईश्वर प्राप्ति के लिए मन की स्वच्छता पर बल दिया उसी प्रकार उन्होंने मन्दिर–मस्जिद–गिरिजाघर आदि किसी को भी ईश्वर का स्थान नहीं माना न तो योग वैराग को ही ईश्वर प्राप्ति के लिए सहायक बताया अपितु उन्होंने ईश्वर को सब भूतो के अन्दर बतलाया, सब प्राणियों की स्वास में बतलाया और खोजने से पलभर में भी मिल जाने का समर्थन किया–

eksdks dgka <w<s cUns eSa rks rsjs ikl esaA

uk eSa noy uk eSa efLtn uk dkos dSykl esaAA

कबीर का दर्शन अद्वैतवादी है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म और जीव दो होते हुए भी एक है। माया के कारण ही जीव ब्रह्म से अपने को पृथक महसूस करता है और ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। इसीलिए कबीर ने माया को महाठगिनी की संज्ञा दी है कबीर का यह दर्शन बड़ा ही गुढ़ और चिन्तनशील है। इसे भी उन्होंने लोकतत्व और लोक व्यवहार से जोड़कर सरल बनाने का प्रयास किया है।

**ty esa dqEHk] dqEHk esa ty gS] ckgj Hkhrj ikuhA

QwVk dqEHk ty tyfg lekuk] ;g rr dFkh fx;kuhAA

कबीर में अद्भुत साहस एवं प्रचुर आत्म विश्वास था अन्ध विश्वासों पर कुठारा घात करते समय उन्होंने अपने इस आत्मविश्वास का परिचय दिया है। वह एक तरफ जहाँ सच्चे संत थे, वहीं दूसरी तरफ घोर समाज सुधारक भी थे समाज में व्याप्त रूढ़िगत उन्हें तनिक भी रास नहीं आती थी, वह कहते हैं–

ikgu iwts gfj feys] rks eSa iwtw igkjA

?kj dk pkdh dkm uk iwts] ihl [kk l lalkjAA

इसी प्रकार जीव हिंसा कर उदर भरने वाले लोगों के प्रति भी उनके मन में एक गहरा आक्रोश व्याप्त था, और उनका यह आक्रोश उनकी वाणी में फूटता रहता था। ऐसे लोगों को लोकव्यवहार के शब्दों द्वारा कड़ी फटकार लगाते हुए कहते हैं–

cdjh ikrh [kkr gS] frudj dk<h [kkyA

tks uj cdjh [kkr gS] mudj dou gokyAA

कबीर के समय में आर्थिक सत्ता मजबूती के साथ जड़ जमाए हुए थी, जिनके हाथ में आर्थिक शक्ति थी उसी को राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकार तथा शक्ति प्रदान होते थे, इस अर्थनीति ने ही एवं अत्यधिक अर्थ लोभ ने ही समाज में अराजकत व्याप्त कर दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि अधिकाधिक धनोपार्जन के प्रयास में समाज में अनेक तरह के अनैतिक संघर्ष छिड़ गए, फलस्वरूप निम्न मध्य वर्ग का अधिक शोषण प्रारम्भ हो गया। कबीर जिस तरह से पालित हुए थे उसका सीधा प्रभाव उनके मनोमस्तिष्क पर पड़ा था इसी कारण वे न तो हिन्दू के समर्थन में बोलते न तो मुस्लिम के, अपितु वे सत्य की वकालत करते हुए दिखाई पड़ते हैं। हालांकि इस सत्य कथन के कारण उन्हें तत्कालिक समाज में विभिन्न प्रकार के कठिनाईयों का सामना करना पड़ा फिर भी वे सत्य के मार्ग से हटे नहीं।

कबीर ने गुरु की महत्ता एवं अहम् के त्याग पर पूरा बल दिया है। कबीर की दृष्टि में गुरु सर्वोपरि है और गुरु ही हमें ईश्वर तक पहुचने का रास्ता बतलाता है उनके अनुसार गुरु के अभाव में ईश्वर प्राप्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती है उन्होंने लिखा है–

x# xksfoUn nksÅ [kM+s] dkds ykxw ik;]A

cfygkjh xq: vkius] ftu xksfoUn fn;ks crk;AA

इसी प्रकार कबीर ने अहम् के ध्यान पर पूरा ध्यान केन्द्रित किया है, उनके अनुसार जब जीव को 'मैं' का बोध होता रहेगा तब तक उसे ईश्वर प्राप्ति नहीं हो सकती और जिस दिन वह मैं की धरातल से उतर का तू की धरातल पर अवस्थित हो जाएगा उसे सर्वत्र ईश्वर अनुभूति होने लगेगी।

r&r djrk r Hk;k] e>e jgh u gA
okjh Qjh cyh x;h] ftr n[k frr rAA

कबीर को अपने समय के समाज का पूरा ज्ञान था उन्होंने कष्ट और पीड़ा को बहुत नजदीक से अनुभव किया था। जिस समय कबीर का धरा पर आगमन हुआ उस समय समाज में विभिन्न तरह की अन्तर्कलह, आपसी झगड़े एवं आपसी वैमनस्यता व्याप्त थी समाज का हर एक वर्ग, हर एक धर्म, हर एक जाति एवं संप्रदाय अपने को एक दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने में लगे हुए थे ऐसे समय में कबीर ने अपनी प्रखर वाणी से सत्य का उपदेश दिया एवं विभिन्न तरह के मतों में समन्वय करने का प्रयास किया उन्होंने समाज में व्याप्त हर एक तरह के मत धर्म, आडम्बर पूर्ण जीवन, संप्रदाय इत्यादि सबको नकारते हुए सत्य के संधान एवं सत्य के प्राप्ति पर बल दिया, कबीर ने समाज में व्याप्त हर एक तरह की अराजकता एवं असंगति को वाणी से ही ध्वस्त करने का प्रयास किया, और सफल रहे। पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक कबीर में इस युग पुरूष के विषय में लिखते हुए कहा है– ''परन्तु वे स्वभाव से फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो खोटा, जिससे एक बार चिपट गए जिन्दगी भर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था, वे सत्य के जिज्ञासु थे और कोई मोह ममता उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी।''

इस प्रकार कबीर जीवन में सात्विकता, आचरण की शुद्धता एवं मन की निर्मलता के प्रबल समर्थक जान पड़ते हैं। कबीर का समुचा दर्शन स्वानुभूति एवं सत्यानुभूति पर केन्द्रित है एवं उनका पूरा फक्कड़ व्यक्तित्व उनकी प्रखर वाणी में मूर्त हो उठा है जो कुछ भी उन्होंने देखा, अनुभव किया उसी को अभिव्यक्त किया और इस अभिव्यक्ति में उनका पूरा व्यक्तित्व साकार हो उठा।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है, कि कबीर का समस्त काव्य संसार लोकतत्व एवं लोक व्यवहार के शब्दों से परिपूरित है। इसी कारण उनका काव्य सामान्य से सामान्य जनमानस के अधिक करीब है।

lUnHkZ %

1. कबीर ग्रन्थावली, डा0 श्यामसुन्दर दास
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल
3. हिन्दी साहित्यिक का इतिहास, डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ0 126
4. चतुष्पदी, डा0 गया सिंह, पृ0 72
5. संतकाव्यधारा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 90
6. चतुष्पदी, डा0 गया सिंह, पृ0 72

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

Tkkrdk e ifrfcEcr jkT; dk udkjkRed Lo:i

MkO t;Ur dekj*

वर्तमान भारतीय राजनीति के संदर्भ में यह कहा जाता है, कि यह बहुत ही गन्दी हो चुकी है और इसमें मूल्यों एवं सिद्धांतों का परित्याग कर दिया गया है। इसके स्थान पर अवसरवाद एवं निजी हित को प्रमुखता दिया जाने लगा है। प्रसिद्ध समाज सेवी अन्ना हजारे ने तो वर्तमान राजनीति की तुलना कीचड़ से किया है।कुछ इसी प्रकार की परिस्थितियों का विवरण छठी शताब्दी ई0पू0 की जातक कथाओं में वर्णित मिलता है। जातक कथाओं में तत्कालीन राजनीति को कीचड़ से संबोधित करते हुए कहा गया है कि वहाँ जाने से गंदगी लगेगी ही। सोनक जातक में वर्णित है कि वाराणसी का राजा जब राज्य का परित्याग करता है और दीघार्यु नामक राजा सिंहासनारूढ़ होता है तो यह अफसोस एवं दुख जाहिर करते हुए कहता है कि जो पूर्ववर्ती राजा था वह कीचड़ से निकलकर स्थल पर प्रतिष्ठित हो गया एवं वह कण्टक–रहित खुले महापन्थ का पथिक हो गया जब कि मैं दुर्गम मार्ग पर चलने वाला राही हो गया, जो कण्टकाकीर्ण तथा गहन है जिससे मैं दुर्गति को प्राप्त होऊँगा। सम्भवतः इस प्रकार के विचार उन कठिनाईयों एवं दूरूह समस्याओं की ओर इंगित करता है जो शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए कार्यों से था। तत्कालीन समाज में यह धार्मिक मान्यताएँ विद्यमान थी कि राजनीतिक क्रियाकलापों को क्रियान्वित करने में कई बार राजा को कठोरतम फैसला जनता के कल्याण एवं राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए लेने पड़ते थे। इस प्रकार के फैसले से व्यक्ति को सांसारिक जीवन से मुक्ति नहीं मिलती है और भारतीय धार्मिक परम्परा में जो परलोक (में स्वर्ग एवं नर्क) की कल्पना की गयी उसमें उसे नर्क लोक भोगना पड़ता है। इसी कारण कई बार ऐसे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जब राज्य के संभावित उत्तराधिकारी ने सत्तासीन होने से बचने के लिए शरीरात्मक अस्वस्थता को दिखाने का प्रयास किया।

तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था पर प्रहार करते हुए जातकों में विवरण है कि प्रकृति में नदियाँ एवं समुद्र दोनों विद्यमान हैं तथा सारी नदियों की विपुल जलराशि समुद्र में गिरने के बावजूद वह नहीं भरता। उसी प्रकार ससमुद्र तथा सपर्वत अनन्त रत्नों की सारी पृथ्वी को जीतकर भी राजा समुद्र पार जीतने की तृष्णा को बनाये रखता है। यदि यह संभव हो जाए कि सम्पूर्ण पृथ्वी को एक ही राजा के अधीन कर दिया जाए तो भी वह शासक तृष्णा के वशीभूत होकर वह यशस्वी राजा मरण काल में भी राग–अतृप्त ही त्यागता है। इस प्रकार लौकिक लाभ के लिए भागते हुए अपने चित्त के वशीभूत शासक अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों के साथ उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होता हैं जिस प्रकार मच्छों का पीछा करने वाला मगरमच्छ। तत्कालीन परिस्थितियों में राजनीतिक स्थिति इतनी विषम हो गयी थी कि राजाओं को खतरनाक माना जाने लगा। उनकी चंचल प्रवृति के कारण उनके राजदर्शन को भी खतरनाक माने जाने लगा। भारतीय समाज में एक ऐसा वर्ग भी मौजूद था जो सांसारिक मोहमाया से दूर ब्रह्मचर्य का पालन करता था उसे साधू–संन्यासी कहकर संबोधित किया गया। ऐसा वर्ग समाज में बहुत प्रतिष्ठा एवं आदर के साथ देखा जाता था। चुल्लनारद जातक में ऐसे वर्ग को चेतावनी जारी करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी के सशस्त्र एवं ऐश्वर्यवान अधिपतियों से अलग रहें क्योंकि वे अरसी विष के समान हैं। उनमें अजर–अमर बनने की महत्वाकांक्षा होती है, जिसके वशीभूत होकर उजूल–फजूल कार्यों को क्रियान्वित करते रहते हैं।

*पोस्ट डॉक्टरेट फेलो, प्रा0भा0इ0सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

किसी भी राज्य के सिंहासनारूढ़ शासक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने जनता के कल्याण के उत्तरदायित्व को समझेंगे तथा प्रजाहित में कार्यों को करेंगे। इन सभी कार्यों एवं दायित्वों को पूरा करने के लिए ईमानदार एवं योग्य उत्तराधिकारी एवं अधिकारियों को नियुक्त करेंगे। परन्तु जातक कथाओं में अनेक ऐसे दृष्टांत मिलते हैं जब शासकों ने अपने निजी हित में सारे कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के विपरीत कार्य किया। पुटभत्त जातक में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत को कठोर एवं कृपण प्रवृति का व्यक्ति बताया गया है। ऐसे भी राजाओं का विवरण प्राप्त होता है जिन्होंने काम, भोग एवं धन के लालच में आकर मूर्ख व्यक्तियों को पद दिया। प्राचीन काल का व्यापारिक ढाँचा ऐसा था जिसमें व्यापारीगण व्यापार करने के लिए दूर–दूर की यात्राएँ सम्पन्न करते थे। ऐसे राजा इन व्यापारियों पर दबाव डालकर कम मूल्य पर अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए मजबूर करते थे। बारह योजन में विस्तृत काशी राष्ट्र का एक राजा तो व्यापारियों के साथ–साथ समाज के सबसे निचले वर्ग मजदूरों से अतिरिक्त धन की मांग किया करता था। कभी–कभी राजागण ऐसे नीतियों का निर्माण करते थे, जिनसे आतंकित होकर जनता अधिक से अधिक धन कर के रूप में दे। ऐसे कर धार्मिक रूप में अनुचित माने गये।

श्रावस्ती राज्य जो तत्कालीन समय में एक महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली राज्य के रूप में वर्णित है। गजकुम्भ जातक के विवरण के अनुसार एक समय ऐसा आया कि उस राज्य पर ऐसा आलसी राजा प्रतिष्ठित हो गया जिसके आलस्य दुखित एवं त्रस्त मंत्रीगण इसे गजकुम्भ उपनाम से पुकारने लगे। तत्कालीन समय में मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण साधन जुआ खेलना था जो एक व्यसन था और समाज के उच्च वर्गों में ज्यादा लोकप्रिय था। कुछ ऐसे राजाओं का विवरण प्राप्त होता है जो इस प्रकार के व्यसनों में इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें अपनी रानियों एवं प्रजा का भी ख्याल न रखा। ऐसे ही एक ऐतिहासिक पात्र का विवरण जातकों में मिलता है जो कोशल राज्य पर सिंहासनारूढ़ था और अपनी प्रजा के बीच लोभी तथा महापेटु के रूप में प्रसिद्ध थी। इस कोशलराज प्रसेनजित के बारे में जनता का यह विचार था कि इसे युद्ध का संचालन भी ढंग से नहीं आता था जिसके कारण अपने शत्रु राज्य मगध के शासक अजातशत्रु से लगातार पराजय होती थी।

राजतंत्र में कई बार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती थी जब राजा को राज्य का त्यागकर वनवास झेलना पड़ता था। वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त को जब वनवास में जाना पड़ा तो उनकी रानी ने उसका साथ जंगल में भी नहीं छोड़ा। परन्तु जब खाना बन रहा था तो पकी हुई गोध के मांस को खाने के लालच में ब्रह्मदत्त ने अपनी रानी से झूठ बोला। साथ ही वनवास उपरान्त में जब ब्रह्मदत सिंहासनारूढ़ हुआ तो उसने अपनी उस रानी का मान–सम्मान भी नहीं किया जिसने उसे दुःख के दिनों में साथ दिया था। तत्कालीन समय में संचार के साधनों का अभाव था और संचार के लिए लोग पक्षियों का पालन कर उसे प्रशिक्षित करते थे ताकि संदेश रूप वाली चिट्ठियाँ तीव्र गति से अपने गंतव्य तक पहुँच जाएँ। वाराणसी के एक राजा ने भी एक कौंच पक्षी को पाल रखा था जो दूती का कार्य करता था। परन्तु राजा की लापरवाही से उस कौंच पक्षी के बच्चों को राजा के बच्चों ने अपने खेलने के लिए मार डाला जबकि कौंच पक्षी उस समय राजा का कार्य करने के लिए गया था। इस घटना से राजा की संवेदनहीनता का पता चलता है।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर उचित राजा के चुनाव की बात बौद्ध ग्रंथों में वर्णित हैं। अगर किसी मूर्ख व्यक्ति को जो अपने आप को पण्डित समझता है, उसको समूह का नेता अर्थात् राजा का पद मिल जाता है तो वह अपने चित्त से वशीभूत होकर अपने आप को सर्वशक्तिमान समझने लगता हैं। अपने इस गलतफहमी में अपने साथ–साथ अपने वंश अथवा कुल का विनाश ठीक उसी प्रकार कर देता है जैसे – तीतर पक्षियों की भाँति दिन में स्वर निकालने वाले तीतर को अन्य पक्षी नहीं बल्कि अपनी ही जाती वाले मार डालते हैं जिससे उस पक्षी समुदाय की हानि होती है। राजागण अत्यन्त कठोर स्वभाव वाला माना जाता था। जिन्हें अपने उन पुत्रों अथवा उत्तराधिकारियों को, जो राज्य के वारिस थे, को शंका मात्र पर कारागार अथवा गुप्त जगह कैद करवा देते थे या फिर राज्य से निष्काषित कर देते थे। राजगृह का राजा तो दूसरे की प्रशंसा सुनकर ही ईर्ष्यालु हो गया था। इस प्रकार की ईर्ष्या की भावना से वशीभूत

होकर राजाओं में अग्र बनने के लिए वाराणसी के राजा ने अनोखा, भव्य एवं उत्कृष्ट प्रासाद बनवाकर कारीगरों की आँखें निकलवा दी जिससे कि इस प्रकार का निर्माण दुबारा न हो सके। काशी के राजा कलाबू ने अपने यहाँ निवास करने वाले साधु का अंग भंग करने का अदेश दिया क्योंकि उसे साधु से ईर्ष्या हो गयी थी कि उसके सेवा में आयी सेविका साधु के पास चली गयी थी।

राजागणों के कई ऐसे शौक थे जिसे पूरा करने के लिए वे परिवार अथवा प्रजा हितों को अनदेखा कर दिया करते थे।तत्कालीन समय में कृषि कर्म एक महत्वपूर्ण व्यवसाय होने के साथ–साथ जीविकोपार्जन का मुख्य साधन हुआ करता था परन्तु ऐसे भी राजाओं का विवरण प्राप्त होता है जो अपने मांस खाने के शौक को पूरा करने के लिए कृषि कार्य को छुड़वाकर जनता को भी जंगल ले जाया करते थे। तो वही वाराणसी के राजा ने तो मांस खाने के लिए अपने पुत्र की हत्या कर उसका मांस खाया। वही ब्रह्मदत्त नामक राजा तो मांस खाने के शौक में नरभक्षी बन गया और अपने ही प्रजा का भक्षण करने लगा। वहीं वाराणसी के राजा धर्मपाल ने पुत्रमोह में आसक्त रानी चन्दादेवी के व्यवहार को अपने लिए तिरस्कार मानकर अपने पुत्र के ही हाथ–पैर को काटने की आज्ञा दे दी। इसी प्रकार श्रावस्ती के राजा सर्वमित्र का उल्लेख मिलता है जो सुरा पीने का शौकीन होता है। इस सुरापान में राजसिंहासन की मर्यादा को भूलकर उसी पर आसीन होकर सुरापान करने लगता है। उसके इस प्रकार के दुष्कर्म कार्यों में उनके मंत्रीगण तथा आमात्य भी साथ देते हैं। नशे के वशीभूत होकर राजा अपने आप को चक्रवर्ती राजा के ऊपर समझने लगता है, जबकि वास्तव में वह बहुत छोटा राजा होता है। नशे में राजा यह समझता है कि सम्पूर्ण पृथ्वी उसकी है और इस आधार पर अपने आमात्यों की अनाप–शनाप बातों को मानने लगता है।

छठी शताब्दी ई0पू0 में राज्य संचालन में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। राजा द्वारा जो भी कार्य अथवा राज्य संचालन के लिए उठाये गये कदम धार्मिक विचारों से ही अभिप्रेत होते थे। परन्तु ऐसे भी राजाओं का विवरण प्राप्त होता है जो कर्तव्यों का निर्वहन ढ़ंग से नहीं करते थे। वाराणसी के राजा महापिङ्गल का जो विवरण जातक से प्राप्त होता है उससे पता चलता है कि वह अनुचित एवं अधार्मिक तरीके से राज्य का संचालन करता था। रौद्र, कठोर, एवं दुस्साहसी स्वभाव के कारण यह राजा अपने संतानों एवं सभा के आमात्यों तथा ब्राह्मणों में भी अप्रिय था। दया, दान करने की जगह यह जनता को तरह–तरह के दण्ड तथा बलि से प्रताड़ित करता था। कुछ ऐसी रानियों का भी उल्लेख है जो राजाओं के साथ दासों, सेवकों एवं कर्मचारियों से अनुचित व्यवहार एवं वाणी का प्रयोग किया करती थी। वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त की माता जो राजमाता के पद पर विराजमान थी अपने क्रोध, चण्डकठोर, कोसने तथा परिहास करने के लिए कुख्यात थी। ऐतिहासिक राजा कोशल नरेश विडूड्भ जिसका विवरण बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त तत्कालीन साक्ष्यों से मिलता है, ने शाक्यों से अपना बदला लेने के लिए क्रूरता का परिचय देते हुए दूध पीते बच्चों तक को मरवा डाला। एक ऐतिहासिक पात्र ब्रह्मदत्त कुमार वाराणसी का विवरण प्राप्त होता हैं जो कठोर एवं दुस्साहसी प्रकृति वाला था। अपने पुरोहित के कहने पर समस्त जम्बूद्वीप को हस्तगत करने निकला परन्तु तक्षशिला के सुट्ढ़ढ बुर्ज को वह जीत न सका। जीतने के लिए उसने धार्मिक क्रियाकलाप भी किया जैसे–बलि चढ़ाना इत्यादि, परन्तु वह तक्षशिला को अधीनस्थ न कर सका। अपनी सेना के साथ ब्रह्मदत्त कुमार उसी प्रकार काल कलवित हो गया जिस प्रकार समुद्र में नौका टूटने पर सब कुछ विनष्ट हो जाता है।

इस काल में ऐसे राजाओं का भी विवरण प्राप्त होता है, जिन्हें सनकी कहना उचित प्रतीत होता है। वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का पुरानी वस्तुओं को तुड़वाना तथा वृद्ध मनुष्यों का अपमान करना उनके स्वभाव का हिस्सा बन गया था। वहीं किसी राजा की वाचालता के सनकपन से प्रजा तथा सभा दोनों ही परेशान रहते थे। वाराणसी के राजा को मंत्रीगण समझाते थे कि चाहे मनुष्य हो या पशु–पक्षी असमय अधिक बोलने से दुःख भोगते हैं। इसलिए पण्डित जन को चाहिए कि समय–असमय वाणी की रक्षा करें, अपने ही समान हो तो भी किसी के साथ बहुत अधिक बातचीत न करें। जो बुद्धिमान समय पर विचारपूर्वक अल्पभाषी होता है वह सभी पशुओं को भी अपने अधिकार में कर लेता है जैसे–गरूड़, सर्प को। परन्तु इन बातों का राजा पर कोई असर नहीं हुआ। इसके विपरीत ये राजागण समझाने का प्रयास करने वाले

पुरोहितों इत्यादि को ही राज्य से निष्कासित कर देते थे। वाराणसी के राजा सेनकुमार ने अपने राज्य से समस्त साधुओं को निष्काषित करने का आदेश दे दिया क्योंकि एक साधु ने उसके अन्तःपुर को दूषित किया था। अर्थात् एक साधु द्वारा किये गलत कृत्य के लिए सारे साधुओं को दोषी ठहरा दिया। जबकि तत्तकालीन समाज में साधुओं का आदर–सत्कार होता था। चेतिय राष्ट्र के अन्तर्गत पड़ने वाले नगर सौत्थिवती का शासक अपचर अपने अभिमान के कारण ऋषियों का अपमान करता था। परन्तु ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं जब राजा के इस प्रकार के कुकृत्य के कारण जनता ने विद्रोह कर दिया परिणामस्वरूप वह परिषद् सहित नष्ट हो गया। वहीं समाज में ऐसे भी तपस्वी साधुओं का विवरण प्राप्त होता है जो मिथ्यावादी थे और अपने असत्यपूर्ण कार्यों को उचित ठहराकर राजा से मान–सम्मान पाते थे। मिथिला के वेदेह नामक राजा प्रश्नों का उत्तर न मिल पाने की स्थिति में राज्य से निष्काषित करने का मूर्खतापूर्ण आदेश जारी किया था।

जातक कथाओं में राज्य से सम्बन्धित मान्यताओं में राजनीति में कल्याण के साथ–साथ नैतिक मूल्यों की भी वकालत करता है तथा सह–अस्तित्व एवं जनकल्याण की नींव पर निर्मित एक राज्य की परिकल्पना प्रस्तुत करता है। परन्तु जातक कथाओं के आर्दश एवं यथार्थ राजनीति में अन्तर दिखाई देता है। इसी कारण इन कथाओं के द्वारा आदर्श राजा के मान्याताओं को त्यागने वाले राजाओं की स्थिति को प्रस्तुत कर कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना को प्रस्तुत किया गया है जो आधुनिक कल्याणकारी देशों के लिए प्रेरणादायक है।

lUnHk %

1. कौसल्यायन,भदन्त आनन्द,(1985)सोनक जातक–529,हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
2. मुगपक्ख जातक – 538
3. कुणाल जातक –536
4. उदय जातक –458
5. वविकण्णक जातकजातकों में प्रतिबिम्बित राज्य का नकारात्मक स्वरूप – 233
6. महाहंस जातक – 534
7. चुल्लहंस जातक – 533
8. चुल्लनारद जातक – 477
9. पुटभत्त जातक – 223
10. तण्डुलनालि जातक – 1
11. सुहनु जातक –158
12. संवर जातक – 462
13. दूत जातक – 478
14. गजकुम्म जातक –345
15. काकातीय जातक – 327
16. अण्डभूत जातक – 62
17. बड्ढकी सूकर जातक – 283
18. पक्कगोघ जातक – 333
19. कुन्तिनी जातक – 343
20. कपि जातक – 404
21. रोहन्तमिग जातक – 501
22. थुस जातक – 338
23. सुच्चज जातक – 320
24. दुम्मेघ जातक – 122
25. घोनसारव जातक – 353
26. खन्तिवादी जातक – 313
27. नन्दियमिगराज जातक – 385
28. धम्मधज्ञ जातक – 220
29. महासुत्तसोम जातक – 537
30. चुल्लधम्मपाल जातक – 358
31. कुम्भ जातक – 512
32. महापिंगल जातक – 240
33. गररहित जातक – 219
34. सुजात जातक – 269
35. भद्रसाल जातक – 269
36. घोनसारव जातक – 353
37. केलिसील जातक – 202
38. कच्छप जातक – 215
39. कोकालिक जातक – 331
40. पुण्णनदी जातक – 214
41. धजविछेद्द जातक – 391
42. चेतिय जातक – 422
43. मातंग जातक – 497
44. श्वेतकेतु जातक – 377
45. महाउम्मग्ण जातक – 546

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

je'kpUnz 'kkg ds miU;klksa esa ruko ,oa fo?kVu

iwtk iq.Mhj*

हिन्दी साहित्य में पूर्व में भी अनेक उपन्यासों में तनाव एवं विघटन को भली भांति उकेरा गया है। जिस भी उपन्यास में समाज को अभिव्यक्ति दी जायेगी उसमें अवश्य ही तनाव एवं विघटन को भी समाहित किया जायेगा, क्योंकि समाज में हर वर्ग होता है और हर वर्ग की अपनी अलग परिस्थितियाँ होती है। जो व्यक्ति जैसा अपने लिए सोचता है जैसी अपेक्षा रखता है उसके विपरीत अगर परिस्थिति होती है, तो स्वाभाविक है कि तनाव की स्थिति उत्पन्न होगी ही। व्यक्ति की इच्छा के अनुरूप कार्य न होना, विभिन्न पारिवारिक परिस्थितियाँ, धर्म एवं जाति को लेकर अनेक आडम्बर आदि यह सब ही तनाव को जन्म देते है और वहीं फिर विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

समकालीन उपन्यासकारों में यों तो अनेक लेखकों ने अपनी रचनाओं में तनाव एवं विघटन को भली–भांति मुखरित किया है। परन्तु जिस प्रकार से रमेशचन्द्र शाह जी ने अपने उपन्यासों में आम व्यक्ति के जीवन की सरल सहज अभिव्यक्ति दी है वह बहुत प्रभावोत्पादक बन पड़ी है। एक सजग लेखक की विद्वता इसी में है, कि वह अपने उपन्यासों में जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का अंकन करें। साथ ही पाठकों को यह सन्देश देता चले कि जीवन में हर एक परिस्थिति आने से ही व्यक्ति सुदृढ़ बनता है फिर यह तनाव ही क्यों न हो। तनाव एवं तत्वजनित पारिवारिक बिखराव का अंकन करने में शाह जी ने अपनी पैनी दृष्टि दिखाई है। अब हम उनके उपन्यासों में तनाव एवं विघटन को खोजने का प्रयत्न करेंगे।

सर्वप्रथम हम उनके प्रथम एवं बहुचर्चित उपन्यास 'गोबर गणेश' में तनाव एवं विघटन को वर्णित करते हैं। उपन्यास के केन्द्र में एक आर्थिक रूप से कमजोर संयुक्त परिवार को रखा गया है जो समाज या परिवार आर्थिक रूप से कमजोर होगा वहाँ रोज़मर्रा के जीवन में ढेरों परेशानियाँ आती रहेंगी। वहाँ तनाव की स्थिति उत्पन्न होगी ही क्योंकि जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। ऐसी ही एक सरल अभिव्यक्ति हम यहाँ देख सकते हैं ''मगर अपने भाग का दलिद्दर कहाँ जाता है? सारा पैसा बर्बाद हो गया, दुकान भी चौपट हो गयी और अब साल भर से बेकार बैठे हैं। बस पचास–साठ रूपया माहवार ट्यूशन करते हैं। जगन काका तेरे बराबर थे, तब से इनको मैनें ही पाला, माँ कहती है।''[1]

विनायक की बहन सरोज अपने विवाह के पश्चात अनुकूल परिस्थितियों में नहीं है। प्रतिकूल परिस्थितियों में जो तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है– वह वर्णनीय है। सरोज विनायक को पत्र के माध्यम से बताती है कि ''मैं जिस दिन से इस घर में आई उसी दिन से मुझे अपने इस विचार पर ग्लानि होने लगी। मैं सचमुच बहुत मूर्ख थी। मुझे पता नहीं था कि पैसा किस तरह कमाया जाता है। बहुत जल्दी मेरी समझ में आ गया कि यह ईमान धर्म का पैसा नहीं है, यह सीधे–सीधे गरीब लोगों का खून–चूसकर उनके साथ पचास तरह के कपट करके आता है। गुड्डन मैंने उसी दम ठान लिया कि मैं अपने भाई के लिये इस घर का एक भी पैसा नहीं लूँगी।''[2] एक स्वाभिमानी स्त्री के लिये यह स्थिति बहुत ही पीड़ादायी होती है कि उसका पति व्यसनों में पड़कर, गरीबों की खून पसीने की मेहनत को अपने हक में लेकर उस पर ऐशो आराम करे। यह स्थिति उसके लिये अस्वीकार्य है। फिर आगे पत्र में वह अपनी मानसिक तनाव की स्थिति को बताते हुये कहती है – ''मैंने अभी तुझसे वो बात बताई ही नहीं, जिसे सुनके तू हो सकता है मुझी से घृणा करने लगे। क्या तू विश्वास कर सकता है कि तेरी सीधी–सादी दीदी अपने पति के मुँह पर थप्पड़ मार सकती है। नहीं करता है तो अब कर ले। मुझे अब किसी की परवाह नहीं रह गई।''[3]

*शोध छात्रा, हिन्दी, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)।

स्वाभिमानी और महत्वाकांक्षी नारी के लिये अपने पति का कोई भी कुकर्म असहनीय होता है। फिर चाहे उसके लिये उसे कोई भी कठोर कदम ही क्यों न उठाना पड़े। इस सारे तनाव व कुंठा की शिकार दीदी के लिये विनायक सिर्फ अपने पिता को ही जिम्मेदार मानता है। ''विनायक को फिर अपने पिता पर ही बेतरह गुस्सा आने लगा। दीदी उनका कितना ख्याल रखती थी। फिर भी अपनी इकलौती लड़की के विवाह जैसे गंभीर मामले में उनकी उस जड़ भरत उदासीनता में रत्ती भर भी हलचल नहीं हुई। दीदी के उस निराश आत्मसमर्पण के पीछे अपने पिता की असहायता का बोध भी निश्चय ही रहा होगा। खुद विनायक के भीतर जो कुंठा है हीन भावना है उसका स्त्रोत कहाँ है? कौन उसके लिये सीधा जिम्मेदार है? पिता! सिर्फ पिता!''[4]

उपन्यास में पारिवारिक तनाव के साथ–साथ धर्म और जातिवाद पर भी विस्तृत चर्चा हुई है। किस प्रकार से हम आने वाली पीढ़ियों में धार्मिक एकता व सद्भावना के बीज रोपित कर सकते हैं। यह धार्मिक रूढ़ियों के विरोधी जगन काका के स्वर में समझाया गया है। जगन काका विनायक व उसके दोस्तों को समझाते हुये कहते हैं कि ''यही तो सारी मुश्किल है लच्छू ....। यही अलगाव यही छुआछूत को सारी मुसीबतों की जड़ है। एक साथ ही एक मुहल्ले में रहते हुये हमें एक दूसरे से डर लगता है। क्या यह कायर और कमजोर जाति के लक्षण नहीं है।''[5] आज का बुद्धिजीवी वर्ग जातिगत वैमनस्य व विद्वेश से परेशान है, वह इस दुर्व्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन का हिमायती है।

''अच्छा लच्छू एक बात बताओ जिन्हें तुम लोग शिल्पकार कहते थे, डूम भी कहते हो, वे तो हिन्दू ही हैं। फिर तुम क्यों नहीं अपने साथ खिलाते?

वे नीच कौम के होते हैं, मेरे पिता जी कहते हैं, शेखर कहता है। फिर जगन काका कहते हैं कि तुम्हारे पिता जी का भी क्या कसूर है? उन्हें उनके पिता जी ने यही सिखाया होगा। गुलाम देश के बच्चों को यही सिखाया जाता है कि अपने से ज्यादा ताकतवर के सामने गिड़गिड़ाओं और कमजोरों को दबाओ। मगर अब यह सब नहीं चलेगा। हिन्दुस्तान आजाद होने जा रहा है बच्चों। तुम स्वतंत्र भारत के नागरिक हो, तुम्हें स्वतंत्र आदमी की तरह सोचना और जीना चाहिये।''[6]

समाज में सभी धर्मों के लोग एक साथ रहते हैं तो व्यावहारिकता को लेकर तनाव की स्थिति भी उत्पन्न होगी। किसी एक धर्म के लिये दूसरे धर्म के व्यक्ति की संवेदनाएँ भिन्न होती हैं। विशेषकर धर्म के पुजारियों की। पर्व आदि पर साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न होना आम बात है। ''मगर होली ...... ? आप खुद सोचिये यह कैसे हो सकता है। पिछले साल की बात है मैंने यूँ ही करीम पे रंग डाल दिया था, डाला किसी दूसरे लड़के पर था, करीम उधर से आ रहा था, उस पर पड़ गया तो उसका बड़ा भाई आकर मुझे सीढ़ियों से जबरदस्ती घसीटकर गली में गिरा ले गया और जेब से चाकू निकाल लिया। वो तो अल्लादिया चाचा उसी वक्त बीच में आ पड़े वरना वो मुझे चाकू मार देता और आपको पता है काका! क्या होता? दंगा हो जाता दंगा।''[7]

लच्छू की इन बातों से स्पष्ट होता है कि हमारे समाज में व्यक्तियों में कितना कट्टरपन धर्म को लेकर है। लच्छू जगन काका को अहमद (विनायक के दोस्त) के पिता के पास जाने को कहता है। क्योंकि अहमद उनके साथ देवथल जाना चाहता है इसके लिये पिता की अनुमति आवश्यक है। जगन काका के पूछने पर अहमद के पिता दाढ़ी चाचा कहते हैं कि ''ऐतराज! दाढ़ी चाचा एकाएक बहुत उदास पड़ गये हैं। ऐतराज मुझे क्या होगा जगन? मैंने लड़के से कुछ नहीं कहा–क्या कहता? उस वक्त मौलवी साहब भी बैठे हुए थे। बेहद खफा हुए। कहने लगे, यह क्या तमाशा है? मना क्यों नहीं कर दिया लड़के को? मैं चुप लगा गया। उनसे क्या बहस करता? मैं जानता हूँ इन मामलों में बहस करने का कोई मतलब नहीं होता। इतनी जिन्दगी काट दी .... आगे भी अल्लाह खैर करेगा। मैं बच्चे का दिल नहीं तोड़ सकता। मगर बेटा रहना तो इन्हीं लोगों के साथ है। सुनना भी पड़ता है ......! दाढ़ी चाचा चुप हो गए।''[8]

यहाँ पर जो सहृदयता और कोमलता हिन्दू–मुस्लिम के बीच दिखाई देती है वह हमें एक प्रकार से सन्देश भी देती चलती है कि सभी धर्मों के व्यक्तियों के बीच प्रेम, सौहार्द, सद्भावना बनी रहनी चाहिये। इसके लिये प्रयत्न भी हमें ही करने होंगे।

'किस्सागुलाम' शाह जी का अति महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसके माध्यम से उन्होंने पिता और पुत्र को केन्द्र में रखकर यह समझाने का प्रयास किया है कि एक शूद्र जाति के बालक के मन में ताउम्र इस बात को लेकर उलझन बनी रहती है कि वह क्यों पिडड़ी जाति में जन्मा? समाज में वह स्वयं को जन्मजात ही बहिष्कृत समझता है। जीवन में वह उन्नति के शिखर पर पहुंचकर भी इसी शूद्रता के बिंधाव में अपने को बंधा अनुभव करता है। जीवन के एक पड़ाव में कुन्दन (मुख्य पात्र) अपने पिता तथा जर्मनी पत्नी एलिस दोनों से वंचित हो जाता है। कुन्दन उपन्यास में एक बुद्धिजीवी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। एक व्यक्ति जो पूर्ण रूप से परिपक्वता लिए हुए है। उसके जीवन का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व इस कृति में इस प्रकार से लेखक ने उभारा है कि समूचे भारतीय समाज के जीवन का व उसके परिवेश का तनाव हमारे समक्ष मुखरित हो उठता है।

व्यक्ति के जीवन में तनाव किसी भी क्षेत्र से आ सकता है। वह उसके सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक यहाँ तक कि उसके दाम्पत्य जीवन से भी आ जाता है। तनाव चाहे कहीं से भी आये परन्तु व्यक्ति के जीवन को, उसके समूचे व्यक्तित्व को इस कदर प्रभावित करता है कि अनेक बार टूटन व बिखराव की स्थिति बन जाती है।

भारतीय समाज में व्यक्ति चाहकर भी ईमानदार नहीं बना रह सकता और अगर बनना भी चाहे तो तमाम मुश्किलें उसके सामने उपजती हैं। इन मुश्किलों में अपने को दृढ़ बनाये रखना किसी चुनौती से कम नहीं है। ऐसा ही एक उदाहरण हम उपन्यास में देख सकते हैं। ''रमदा क्या बताऊँ? मेरा जी खट्टा हो गया है न ससुर जी से पटती है न यहाँ के खादी आश्रम वालों से। अखबार निकाला तो जमा पूँजी भी गयी। स्कूल चलाया वो भी चौपट हो गया। मैं बिल्कुल उल्लू–बेल्लू हो गया हूँ। सच कहूँ तो मुझे काट खाने को दौड़ता है यह कस्बा।''[9]

कुन्दन के पिता नारायण लाल टम्टा द्वारा यह वार्तालाप किया गया है। हमारे वर्तमान सामाजिक परिवेश में भी ईमानदार व्यक्ति को इन्हीं परिस्थितियों से दो चार होना पड़ता है। आम व्यक्ति के रोज़मर्रा के जीवन में विभिन्न परिस्थितियाँ घटित होती हैं। किसी विशेष घटित घटना के परिणामस्वरूप घर के सदस्य इतने तनाव ग्रस्त हो जाते हैं कि उनकी सामान्य दिनचर्या भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। ''कुंदन के पिता ने चुनाव में खड़े होने से साफ मना कर दिया है। घर के सभी सदस्यों में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है। ''कुन्दन कहता ''सुबह कि रोटियाँ पड़ी थीं न। किसी को भूख नहीं थी। इसलिये चूल्हा नहीं जलाया। आप खा लीजिये चलके।

पिता जी एकटक कुन्दन को घर रहे हैं। उस दृष्टि में जाने क्या है कुन्दन एकाएक सहम जाता है। ''मैं सबकुछ समझता हूँ। जब घर में कोई मर जाता है उस दिन चूल्हा नहीं जलता है। तुम लोगों के लिये मैं जिन्दा ही मरे से भी बदतर हो गया। इस घर में अब मेरे लिये कोई जगह नहीं।''[10]

उपन्यास में बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता कुंदन अपनी विषम पारिवारिक परिस्थितियों के बीच जब आशा के अनुरूप अपना परीक्षा परिणाम नहीं पाता तो वह विचलित हो उठता है। ''मगर परीक्षाफल निकला तो कुन्दन की सारी आशाओं पर तुशारापात हो गया। उसे सैकेण्ड डिवीजन ही मिल सका। दिन दोपहर जब अपनी कोठरी में बंद होके वह फूट–फूट कर रो रहा था उसे सहसा एक साक्षात्कार हुआ। एकाएक उसे दिखा कि उसका यह विलाप सिर्फ डिवीजन के लिये ही नहीं है एक पूरी दुनिया के लिये है जो अकस्मात् उससे छीन ली गयी है। इतने अरसे में पहली बार उसे पिता की अनुपस्थिति का सम्पूर्ण और जड़ से हिला देने वाला अहसास हुआ। अगर वे उस तरह घर छोड़के नहीं जाते तो उसका डिवीज़न खराब नहीं होता।''[11]

यहाँ तक कि उसकी मानसिक स्थिति इतनी विकट हो जाती है कि वह अपनी शूद्रता को लेकर व्यथित हो उठता है। लेखक ने जो मानसिक तनाव यहाँ जाति को लेकर को दिखाया है वह हम वर्तमान में भी अपने आसपास देख सकते हैं। ''निश्चय ही वह एक डूम है, अपने आस–पास की जिन्दगी की कई सारी खुशियों और नियामतों से वंचित। आखिर यह अलगाव पहले भी तो था। फिर महसूस क्यों नहीं होता था।''[12]

परिवार में पिता का घर छोड़कर जाना किसी भी बालक के लिये हृदय विदारक घटना है। समाज में उस बालक को किन कटु वचनों से दो –चार होना पड़ता है जो उसे अपने परिवेश के लोगों द्वारा सुनने पड़ते है यह स्थिति किसी भी बालक के लिये पीड़ा उत्पन्न करने वाली है। ''डुमौड़े से अब कुन्दन को कोई शिकायत नहीं है। शिकायत है तो केवल उन शुभचिन्तकों से जो उसका जीना हराम करने पर तुले हुये हैं। तुम्हारे पिता जी कहाँ है? क्या कर रहे हैं? घर क्यों नहीं आ रहे हैं? .... ? अरे, तुमसे मतलब..... तिस पर तरह–तरह की अफवाहें। इन लोगों को जैसे कोई और काम ही नहीं रहा। कोई कहता है, ''साधु बन गये हैं, हम खुद देखके आये हैं। कोई कहता है, ''कमाई करने गया है– देखना मालामाल ही होके लौटेगा।''[13]

इस कृति में रचनाकार ने मुख्य पात्र कुन्दन के माध्यम से सामाजिक जीवन की उस प्रत्येक स्थिति को उजागर किया जो एक दलित व्यक्ति की पीड़ा बनकर उभरा है। वाद–विवाद प्रतियोगिता में जब कुंदन को उसकी प्रतिभा के अनुसार पुरस्कार नहीं मिलता तो वह भीतर ही भीतर कुंठित हो उठता है। उसकी यह मानसिक स्थिति प्रत्येक उस प्रतिभावान व्यक्ति की स्थिति है जिसे उसकी प्रतिभा के अनुरूप फल नहीं मिलता।

''तूने कन्सोलेशन प्राईज़ लेने से इनकार करके अच्छा नहीं किया। यह आयोजकों का अपमान नहीं तो क्या है?

आपको आयोजकों की पड़ी है और मैं? क्या मेरा अपमान, अपमान नहीं लगता आपको?....... कुन्दन बुरी तरह चीख पड़ा है। मगर मन ही मन।''[14]

उपन्यास में कुंदन के पिता का घर छोड़कर अज्ञातवास के लिये चले जाना उसके समूचे जीवन की महत्वपूर्ण घटना है जिसने उसको बुरी तरह से भीतर तक झकझोर दिया है। वह इतना भीतर से बिखर गया है कि विद्रोही हो उठा है।

''तो मैं क्या करूँ? कुन्दन का धीरज जवाब दे जाता है किसने कहा था स्वर्ग नरक देखो, बच्चों को लावारिस छोड़के जंगल–पहाड़ भटको। इससे हमें क्या मिल गया? दुनिया भर बदनामी मोल ली सो अलग। मेरा उनसे बात करने का तो क्या सामने पड़ने का भी जी नहीं करता। तूझे क्या पड़ी है? तू खामखाह क्यों जिद करती है? मुझे मालूम है, मैं उनसे बोलूँगा तो झगड़ा ही होगा वो अच्छा लगेगा तुझे?''[15]

यही मानसिक तनाव व कुंठा उसके भीतर इतनी गहरी जड़ गई कि वह चाहकर भी इसकी जड़ों को उखाड़कर नहीं फेंक सकता। बालपन से किशोरावस्था तथा फिर वयस्क होने पर कुंदन के मन में यह मानसिक विद्रोह इस प्रकार जन्म लेता है जैसे बालपन में जो संस्कार बालक में डाले जाते हैं वही उसके वयस्क होने पर भी फलित होते हैं। संस्कारों की भांति ही यह विद्रोह भी उम्र की तरह बढ़ता ही जाता है। ''दिन रात, बरसों–बरस तक मैं उस शहर के अपनों और परायों की हिकारत भरी करूणा तले कुचला जाता रहा ''हाय! रामी का छोरा!'' वे मुझे देखते ही शुरू हो जाते– इतनी जोर से कि, मेरे लिये उन्हें न सुनना असम्भव होता– रास्ता चलते वे क्रूर टिप्पणियाँ मेरे कानों में पिघला सीसा उँड़ेलती रहतीं .... हाय रे कसाई। रामी के तो भाग ही फूट गए .... वैसे ही कौन बड़ी कमाई करके लाता था पर कहने को तो था कि है। मैं चुपचाप उन चुड़ैलों के पास से गुजर जाता..... कुछ न सुने होने का अभिनय करता हुआ .... शर्म और ग्लानि में गले–गले तक डूबा हुआ।''[16]

उपन्यास में कुन्दन को ताउम्र यही पीड़ा सताती रही कि वह शोषित वर्ग से है। एक दलित पिता की संतान होकर उसने जिन पीड़ाओं को झेला है वह सशक्त रूप से उपन्यास में लेखक ने उभारा है। जीवन में उच्च पद को प्राप्त करके भी उसे हीन भावना से मुक्ति नहीं मिल पायी है और वह कुण्ठित जीवन जीने को विवश है।

'विनायक' भी शाह जी का प्रसिद्ध एवं पुरस्कृत उपन्यास है। यह उपन्यास इनके प्रथम उपन्यास 'गोबर गणेश' की उत्तरकथा भी है ओर अपने आप में स्वतंत्र रचना भी है। इसमें लेखक ने उपन्यास के मुख्य पात्र 'विनायक' के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह प्रत्येक

व्यक्ति के जीवन को उद्घाटित करती प्रतीत होती है। विनायक का सब कुछ जिया भोगा संवेदनशील पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इस उपन्यास में मुख्यतः विनायक का पारिवारिक व दाम्पत्य में तनाव दिखााया गया है। कई बार व्यक्ति साधन सम्पन्न होकर भी अपने व्यक्तिगत जीवन से सन्तुष्ट नहीं होता। पहले यह तनाव दाम्पत्य में फिर परिवार में अपनी जड़ें जमाता है।

विनायक की पत्नी मालती व उसके बीच जैसी अन्तरंगता पहले थी वैसी अब नहीं रह गयी है। दाम्पत्य में कुछ भी साझा करने के लिये एक –दूसरे के प्रति निकटता होनी आवश्यक है। अपने से भिन्न अपनी पत्नी का स्वतंत्र व्यक्तित्व देख पाना किसी भी पुरूष के लिये सहज स्थिति नहीं हेाती है। विनायक की पत्नी मालती एक स्कूल व आश्रम चलाकर समाज सेवा करती है। जिसमें उसे वास्तविक खुशी की अनुभूति होती है। इस सबसे विनायक के मन में जो कुंठा उत्पन्न होती है। वह हमारे सामने कुछ इस प्रकार प्रस्तुत है। ''अब कई बरसों से ठीक इसका उलटा हो रहा है और वह चाहकर भी अपनी एकाएक चौड़ी हो गई दुनिया में मालती की कोई भूमिका नहीं देख पा रहा है, न ही इस परिस्थिति के लिये खुद को कहीं से भी जिम्मेदार मान पाता है। अनायास ही एक दुराव–छिपाव दोनों के बीच पनपता गया है। उसी के चलते चीजें अपने हाल पर छोड़ दी जाती है। जो चल रहा है चलने दो– क्योंकि कुछ नहीं किया जा सकता कुछ भी।''[17] समय के बहाव के साथ कब व्यक्ति के जीवन में रिश्तों में तनाव उत्पन्न हो जाता है यह उसे स्वयं भी पता नहीं चल पाता। धीरे–धीरे यही तनाव व खटास परिवार में पनपने लगता है। नई पीढ़ी की अलग अपनी स्वतंत्र इच्छाएँ होती हैं। पिता के साथ विशेष रूप से पुत्रों के विचार न मिलें यह भी भारतीय समाज में स्वाभाविक स्थिति है। ''सवाल हमारे चाहने न चाहने का नहीं है पापा। अभी तक आप कहाँ थे? आज तक तो कभी आपको हमें पहाड़ दिखाने की नहीं सूझी। अभी ही क्यों सूझी, जब हम बिल्कुल भी इस हालत में नहीं। याद करिए जरा, जब आप विदेश जाने वाले थे तो सारे घर को किस तरह सूली पे टांग दिया था अब हमारी बारी आई है तो आपको यह बच्चों का खेल लग रहा है। क्यों मम्मी?''[18] यहाँ पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि पिता व पुत्रों में कितना वैचारिक मतभेद है। जिसमें ऐसा लगता है जैसे सम्बन्धों की ऊष्मा ही खत्म हो गई है।

दाम्पत्य जीवन के किसी भी पड़ाव पर किसी तीसरे व्यक्ति का प्रवेश हो जाये तो वहां पर सब कुछ सहज सरल बना रहे इसकी तो गुंजाइश ही नहीं रह जाती। भारतीय पवित्रता स्त्री के लिये तो यह बिल्कुल असहनीय है तथा वह खुलकर इसका विरोध भी करती है। विनायक की विदेशी महिला मित्र की चिठ्ठी जब उसके घर के पते पर आती है तब वह सोचता है– ''ठीक है कुछ तथ्यों का उल्लेख तो कर ही सकते थे कि एक बड़ी ही मेधावी महिला मिली वहाँ जिसका नाम मार्गरेट था और जो उसकी सबसे अच्छी मित्र बनी ..... वगैरह–वगैरह .....। बिना कहीं से भी यह जताए की आप भावनात्मक स्तर पर इस कदर उसके साथ उलझ गये थे। यानी मालती को पहले से थोड़ा जिक्र कर दिया होता तो खामख़ाह उसे इतना भीषण कुतूहल भी नहीं होता।''[19]

विनायक के लिये आया पत्र पढ़कर मालती का तनाव स्वाभाविक है। एक पत्नी के लिये यह घटना अत्यंत पीड़ा दायी है। इस एक घटना का असर उसके पूरे परिवार पर पड़ता है। सब कुछ एक बारगी अस्त–व्यस्त व बिखरा हुआ लगने लगता है। लेखक ने इस तनाव को बेहद सहजता से व्यक्त किया है। ''बन्द करो यह रोना–धोना अभी मरा नही मैं जिंदा हूँ।''

उधर से सिसकियाँ एकाएक थम गई हैं और फिर उससे भी तीखा सुर प्रत्युत्तर में गूँजता है। चिल्लाओ मत। तुम्हें मुझ पर चीखने चिल्लाने का कोई हक नहीं है।

क्यों? और इस क्यों के धक्के से ही विनायक सीधे रसोई घर में फिंका गया है। क्यों नहीं है हक मुझे ..... और मेरी निजी चिठ्ठी खोलकर पढ़ जाने का हक तुमको कब से हासिल गया?''[20]

यहाँ सम्बन्धों में तनाव की स्थिति स्पष्ट देखी जा सकती है। मालती अपने पति के इस अप्रत्याशित कृत्य पर उससे भरसक जवाब देही करना चाहती है। परन्तु इस स्थिति में किसी भी स्त्री का मन व्यथित हो उठता है वह कुछ भी कहने सुनने की स्थिति में नहीं रहती। ''कितना कुछ मन में उबल रहा है बाहर आने को पर उससे होना क्या है? कुछ भी तो नहीं। क्या वह नहीं जानती विनायक के मन

में उसके लिये कितनी जगह है। पहले की बात और थी। अब सिवा ऊब और खीझ के विनायक के पास क्या बचा है उसके लिये? फूट–फूट कर रोना चाहती है वह। मगर अकेले में। इस आदमी के सामने नहीं, जो उसका पति है। उसके बच्चों का बाप।''[21] पति–पत्नी के सम्बन्धों की ऊष्मा कैसे पिघलती है यहाँ यह लेखक ने दिखाने का भरसक प्रयत्न किया है। दाम्पत्य का रिश्ता प्रेम, स्नेह और विश्वास के ईंट सीमेंट से बनाया जाता है जीवन भर। जहाँ इस सम्बन्ध में इन तत्वों में से किसी एक में भी गिरावट आती है वहीं यह रिश्ता अपनी ऊष्मा खोने लगता है। यही स्थिति लेखक ने मालती व विनायक के सम्बन्धों को लेकर दिखाई है। विनायक के इस कृत्य से कुंठित मालती कहती है कि–

''तुम पति और पिता होकर भी अपनी कुंठाओं को पोसने और मनमानी करने को आजाद हो। मैं पत्नी और होकर भी तुम्हारें खूँटे से बंधी रहूँ और तुम्हारे ईगो को चुपड़ती और माँ सहलाती रहूँ–यही न तुम चाहते हो? मेरी अपनी कोई इच्छा न हो, मेरा मन भी मेरा न हो, बस तुम्हारी पसंद–नापसंद ही मेरी भी पसंद–नापसंद हो–यही न थी, यही न है तुम्हारे लिये तुम्हारे प्रेम और तुम्हारे पौरूष की परिभाषा और कसौटी, जिस पर मुझे खरी उतरना चाहिए था और मैं खरी नहीं उतरी।''[22] यहां स्त्री का बदला हुआ स्वरूप आकृति ले रहा है यहाँ वह अपने अधिकारों के प्रति भी सजग है और स्वाभिमान की रक्षा को अहम मान रही है।

दाम्पत्य का संबंध बहुत ही कोमल तंतुओं से जुड़ा होता है। इसमें पति या पत्नी किसी भी एक तरफ से कोई तन्तु कमजोर होकर टूट जाये तो यह रिश्ता सहज स्वाभाविक बना रहे ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती। इस स्थिति में दोनों में वैचारिक मतभेद उत्पन्न हो जाता है जिसे पाटना भी सरल नहीं होता। यह स्थिति हम यहाँ पर देख सकते हैं – ''मालती तुम्हारे लिये तुम्हारे घर की मालकिन जरूर है पर तुम्हारे दिलो दिमाग से निष्कासित। रही होगी वह कभी भी तुम्हारे लिये इर्म्पोटेंट। अब नहीं है। अब वह तुम्हारे भीतर केवल ऊब, चिढ़ और विरक्ति ही उपजाती है।''[23]

इस उपन्यास में लेखक ने अपनी पैनी दृष्टि दाम्पत्य सम्बन्धों में तनाव को लेकर दिखाई है वह आम भारतीय दाम्पत्य जीवन को उद्‌घाटित करती है। किस प्रकार से, किन परिस्थितियों में, जीवन के किस पड़ाव पर सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो सकता है वह उपन्यास में बड़ी उत्कृष्टतापूर्वक दिखाया गया है। पति–पत्नी के बीच का तनाव कैसे उनके पूरे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है यह भी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तीनों उपन्यासों में लेखक ने तनाव व विघटन के विभिन्न क्षेत्रों को जिस प्रकार से अपनी कलम के जरिए उभारा है वह अत्यन्त सराहनीय है। तनाव से किस तरह व्यक्ति के जीवन में बिखराव आता है यह लेखक ने ''किस्सा गुलाम'' में भरसक दिखाने का प्रयत्न किया है। साम्प्रदायिक व पारिवारिक तनाव 'गोबर गणेश' उपन्यास में भली भांति मुखरित हो उठा है। दाम्पत्य तनाव का व्यक्तिगत जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है यह लेखक ने 'विनायक' में बढ़िया ढंग से प्रस्तुत किया है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तनाव को हमने यहाँ दृष्टिगोचर किया है। कहना न होगा कि रमेशचन्द्र शाह की तीनों औपन्यासिक कृतियाँ बेजोड़ हैं।

lUnHkZ %

1. रमेशचन्द्र शाह, गोबर गणेश, राजकमल प्रकाशन, प्रा0लि0, 1–बी0 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002। पृ0–90
2. वहीं, पृ0–295
3. वहीं, पृ0–297
4. वहीं, पृ0–262
5. वहीं, पृ0–94
6. वहीं, पृ0–94
7. वहीं, पृ0–96
8. वहीं, पृ0–97
9. रमेशचन्द्र शाह, किस्सा गुलाम, वाणी प्रकाशन, 21–ए0, दरियागंज, नई दिल्ली 110002। पृ0–96

10. वहीं, पृ0–143
11. वहीं, पृ0–149
12. वहीं, पृ0–151
13. वहीं, पृ0–153
14. वहीं, पृ0–155
15. वहीं, पृ0–176
16. वहीं, पृ0–224
17. रमेशचन्द्रशाह, विनायक, राजकमल प्रकाशन, प्रा0लि0, 1–बी0 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ0–34
18. वहीं, पृ0–42
19. वहीं, पृ0–62
20. वहीं, पृ0–73
21. वहीं, पृ0–77
22. वहीं, पृ0–78
23. वहीं, पृ0–79

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

inekor dk lkekU; ,oa fof'k"V dFkkud

xkSis'k ik.Ms;*

पद्मावत का कथानक ऐसा सुसंगठित और जीवन्त कथानक है, जिसमें नायक और नायिका को समान महत्व दिया गया है और दोनों के ही जन्म से लेकर मृत्यु तक की सम्पूर्ण कथा वर्णित है। कथा में जीवन व्यापी कार्यों, संघर्षों और परिस्थितियों का चित्रण है जिससे कथानक में महाकाव्योचित विस्तार दिखाई पड़ता है, जो कि स्वयं में निराला है। कथानक में अनेक ऐसे मोड़ और पड़ाव आते हैं जिनके कारण कथा का समुचित विस्तार हुआ है, जो कि इसके जीवन्तता और प्रवाह का सूचक है। कथानक की जीवन शक्ति इन्हीं विस्तार बिन्दुओं के आधार पर से नये मोड़ लेती, लांघती, पड़ाव लेती पूर्णता की ओर अग्रसर होती है। इन विस्तार बिन्दुओं के अपने विशेष आधार हैं। वे आधार क्या है? इस पर ध्यान देना आवश्यक है। कथानक में आदि, मध्य और अन्त का निर्धारण कथानक की कार्यान्विति हेतु ही किया गया है। जैसी तल्लीनता और आत्मानुभूति हमें पद्मावत के कथानक में प्राप्त होती है। वैसी अन्य किसी काव्य के कथानक में कम ही मिलती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार– ''पद्मावत की कथावस्तु प्रमुख रूप से प्रेम विषयक ही है, धर्मविषयक बातें गौण होकर आयी हैं। इसे हम यों भी कहेंगे कि 'पद्मावत' की कथा वसुन्धरा प्रेम की धुरी पर ही घूमती है। इस ग्रन्थ में रत्नसेन और पद्मावती की कथा है। वस्तुतः इसमें प्रेम ही सारी कथा का मूल है। प्रेम के उदात्त और अखिल सृष्टि–व्यापी एवं लोकोत्तर स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिये इसकी कथावस्तु का निर्माण किया गया है।''[1] आचार्य द्विवेदी आगे लिखते हैं– ''चरित्रों के विकास में कथानक कहीं–कहीं डगमगाता सा नज़र आता है और कहीं कहीं अत्यन्त दृढ़ रूप में भी।....वैसे सम्पूर्ण कथा को हम गढ़ी हुयी और सर्वथा सशक्त नहीं मान सकते। उसमें अनेक कमजोरियाँ भी हैं।....सारी कथा प्रेम रस से सराबोर है और कवि अपनी बात कहने में सफल हैं।''[2] बात कहने की सफलता ही कथानक की सफलता भी होती है और वही कथानक की उद्देश्य सिद्धि भी है।

कथानक को इस रूप में समझने से पूर्व हमें काव्य के मूल प्रेरणा–स्रोत को देखना होगा कि पद्मावत को लिखने की प्रेरणा किस बिन्दु से मिली और उसके पीछे कौन–कौन से उद्देश्य थे जिसकी सार्थकता ने इसे साकार बना दिया। कोई भी कवि जब काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तो उसके काव्य में निहित सन्देशों और विचारधाराओं पर तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती विभिन्न परिस्थितियों (यथा राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक) आदि का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ता है।

जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है कि पद्मावत का उद्देश्य काम और मोक्ष है। इसका प्रयोजन यशार्जन है जो काम में अन्तर्भूत होता है। काम को यहाँ व्यापकतम अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। यहाँ काम का अर्थ संकुचित न होकर व्यापक है, काम केवल श्रृंगार या यौन–भावना का पर्याय नहीं। काम से अभिप्राय मानव और उसके शक्ति के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाली भावना विशेष से है। जायसी ने काम–भावना का उन्नयन कर उसे पारमार्थिक सत्ता के प्रति सूक्ष्म प्रेम का वाची बना दिया है। जायसी के प्रेम का उद्देश्य जैसा कि डॉ0 शम्भूनाथ सिंह ने लिखा है– ''लौकिक प्रेम के रास्ते से आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति का आभास देना है।''[3] अभिप्राय यह है कि पद्मावत के पात्र और उसका कथानक दोनों ही द्विविधा व्यक्तित्व सम्पन्न हैं। उसकी घटनाएँ लौकिकता और पारलौकिकता दोनों ही तरफ संकेत करती हैं। पद्मावत में रत्नसेन और पद्मावती तो निमित्त मात्र हैं, साधन मात्र हैं, साध्य तो 'प्रेम का पीर' है। यद्यपि जायसी ने प्रेम का तत्व सूफियों से ग्रहण किया लेकिन पूरे काव्य में उन्होंने उसके प्रचार–प्रसार

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

का कोई भी सचेष्ट प्रयास नहीं किया है। तथापि सूफियों के प्रति उनकी वह आस्था विभिन्न स्थलों पर स्वतः ही अभिव्यंजित हो गयी है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अपनी आस्था के लिये उन्होंने कहीं भी कथानक की बलि नहीं दी।

पद्मावत में दर्शन की अन्तर्धारा निरन्तर प्रवाहमान है और वह रेगिस्तानी नदी की भाँति स्थल–स्थल पर फूटती चलती है। पद्मावत की दार्शनिकता कहीं भी थोपी हुयी सी नहीं दिखती वरन् वह तो कथानक के सहज प्रवाह सी लगती है। इसमें प्रेम कथा की परम्परा में योग देने की कामना से काव्य और भक्ति मस्तिष्क के साथी न होकर हृदय के साथी हैं। भक्त, साधक होने के साथ जायसी ऐसे महाकवि हैं जो देशकाल तथा युग की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। पद्मावत हिन्दू और मुसलमानों दोनों के लिये प्रेरणास्रोत हैं, क्योंकि इसके कथा के ताने–बाने बहुरंगी हैं। कवि का पद्मावत रचने का उद्देश्य हिन्दू और मुसलमान इन दो धर्म के लोगों के बीच असहिष्णुता की खाई को कम करना या पाटना भी था। इसी कारण इन दो संस्कृतियों, दो धर्मों, दो मान्यताओं और दो साहित्यों के बीच समन्वय रखते हुये उन्होंने कथानक में विभिन्न घटनाओं का संयोजन किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार– ''पद्मावत महाकाव्य हिन्दू और मुसलमानों के दिल को जोड़े रखने वाला एक वृहत् इकरारनामा है (एग्रीमेंट फार्म) है, जिसका न्यायालय हृदय है और न्यायाधीश प्रेम। इस अनोखी अदालत की प्रतिष्ठा करने में जायसी ने जान लगा दी।''[4]

पद्मावत का उद्देश्य तत्कालीन धार्मिक–सामाजिक सम–विषम परिस्थितियों के बीच एक सीधा रास्ता प्रशस्त करने का भी रहा। मूलतः तो यह मार्ग प्रेम का ही है किन्तु यह प्रेम पूर्णतः भीतरी न होकर स्थल–स्थल पर व्यावहारिक स्थितियों एवं मान्यताओं का भी समीचीन विश्लेषण करता है। इस सबसे जायसी का सीधा आशय यही व्यंजित हुआ कि धार्मिक विषमता वर्जनीय है और इसके स्थान पर जहाँ सद्समता है वहीं आदर्श है और वह वरण योग्य है। इस प्रकार पद्मावत में सत्य, दया, धर्म, आचरण, चरित्र, ईमानदारी आदि के संदेश भी जगह–जगह मुखरित हो उठे हैं जिसने कथानक को नये पड़ाव दिये हैं कवि का सामाजिक दृष्टिकोण हर क्षेत्र में विशेष रूप से सजग है। काव्य में जायसी के ये दृष्टिकोण कोरे उपदेश के ही रूप नहीं हैं वरन् उसे उन्होंने सुप्रसिद्ध लोकगाथा के कमनीय आवरण में लपेटकर इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह राजा–रंक, स्त्री–पुरुष, हिन्दू–मुसलमान, वैरागी–गृहस्थ सभी को समान रूप से रूचिकर और उपादेय प्रतीत हुयी है। जायसी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की भांति केवल किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों और मन्तव्यों के प्रचार के लिये ही पद्मावत की रचना नहीं की है। इन्होंने तो प्रचलित जन–गाथा (लोकगाथा) की ऐतिहासिक श्रृंखला सजाकर उसे बड़े ही मनमोहक रूप में प्रस्तुत किया जिसकी सार्थकता और सजीवता स्पष्ट है। जायसी ने लोक–कथा को ज्यों का त्यों प्रस्तुत न करके अपनी कल्पना से यथा–स्थान उसमें फेर–बदल भी किया है जिससे कथा के उद्देश्य की पूर्ति हो सके। यह तो सर्वविदित है कि कथा को काव्योपयोगी स्वरूप देने के लिये ऐतिहासिक घटनाओं के ब्यौरों में कुछ फेर–बदल करने का अधिकार कवि के पास बराबर बना रहता है जिसका प्रयोग जायसी ने बराबर किया भी है। अब प्रश्न यह उठता है कि पद्मावत की पूर्वार्द्ध कथा जायसी द्वारा कल्पित है अथवा जायसी के पहले से कहानी के रूप में जनसाधारण के बीच में प्रचलित चली आती है। इस दिशा में शुक्ल जी के विचार महत्वपूर्ण हैं, वह लिखते हैं– ''उत्तर भारत, विशेषतया अवध में 'पद्मिनी रानी और हीरामन सुए' की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है। जायसी इतिहास–विज्ञ थे, इसलिए पात्रों को उन्होंने रत्नसेन, अलाउद्दीन आदि नाम दिये हैं, पर कहानी कहने वाला नाम नहीं देता। केवल यही कहता है कि 'एक राजा था', 'दिल्ली का बादशाह था' इत्यादि। यह कहानी बीच–बीच में गा–गाकर कही जाती है। इसी प्रकार 'बाबा लखनदेव' आदि की और रसात्मक कहानियाँ अवध में प्रचलित है जो बीच–बीच में गा–गाकर कही जाती है।'' शुक्ल जी आगे लिखते हैं– ''इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यह है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर, सूक्ष्म ब्यौरों की मनोहर कल्पना करके उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया है। इस मनोहर कहानी को कई लोगों ने भी काव्य के रूप में बांधा है। हुसैन गजनवी ने 'किस्सा पद्मावत' नाम का एक फारसी काव्य लिखा जिसकी कहानी

भी इसी से मिलती–जुलती है। सन् 1652 ई0 में राय गोविन्द मुंशी ने पद्मावत की कहानी फारसी गद्य में 'तुकफतुल कुलूब' नाम से लिखी। उसके बाद मीर जियाउद्दीन 'इब्रत' और गुलाम अली 'इशरत' ने मिलकर सन् 1796 ई0 में उर्दू शेरों में इस कहानी को लिखा।''[5]

डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत लिखते हैं– ''पद्मावती की कथा के कुछ धूमिल सूत्र हमें दो–एक पुराणों में भी मिलते हैं। जैसे कल्किपुराण में हमें पद्मावती की कथा के कुछ बिखरे सूत्र एक दूसरी कथा के रूप में संकलित जान पड़ते हैं। हमारा अनुमान है कि इस पुराण में पद्मावती की कथा का जो रूप आया उसका आधार लोककथा ही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि लोककथाओं में पद्मावती की कथा बहुत प्राचीन है। पद्मावती की कथा के कुछ पूर्व रूप का आभास हमें प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी मिलता है। भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक में पद्मावती और उदयन की प्रेमकथा बड़े विस्तार से वर्णित की गयी है। प्रतिज्ञायोगन्धरायण नामक नाटक में उदयन और पद्मावती की कथा का ही एक रूप अपने ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इनके और भी नाटकों में इस कथा के कुछ बिखरे हुये सूत्र मिलते हैं। इस प्रेमकथा का मूलस्रोत सम्भवतः गुणाढ्य की बृहत्–कथा थी। उदयन और पद्मावती की कथा में वासवदत्ता विवाहित पत्नी के रूप में चित्रित की गयी है और पद्मावती प्रेमिका के रूप में। बाद में राजा का परिणय भी करा दिया जाता है। वृहत्कथा में आई हुयी पद्मावती की त्रिकोणात्मक प्रेमकथा ही आगे चलकर एक प्रसिद्ध लोककथा के रूप में विकसित हुयी और उसमें धीरे–धीरे और कई युगों की त्रिकोणात्मक प्रेमकथाएँ मिलती हुयी एक नये रूप में विकसित होती गयी। इस प्रेमकथा की दो शाखाएँ बहुत ही स्पष्ट दिखाई पड़ती है। एक राजस्थानी शाखा और दूसरी पंजाबी शाखा। राजस्थानी शाखा की लोक–कथा रतनसी और उसकी पत्नी पद्मावती की प्रणय–कथा को आत्मसात किये हुये है और पंजाबी शाखा वाली कथा पर हमें नाथपंथ का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। जायसी ने राजस्थानी और पंजाबी दोनों लोक–कथाओं को मिलाकर अपनी कथा की पृष्ठभूमि तैयार की थी। इस सम्मिश्रण के कारण 'पद्मावत' की कहानी अपनी नवीनता लिये है।''[6]

प्रचलित विभिन्न धर्मों का प्रभाव और उनकी अभिव्यक्ति भी जायसी को अभीष्ट थी। पद्मावत लिखते समय उनका लक्ष्य सूफियों, नाथों, सिद्धों, वाममार्गियों और कुछ वैष्णव मान्यताओं का उद्घाटन करना भी रहा है। धर्मकथाओं, आस्थाओं, रीति–रिवाजों एवं परम्पराओं का समाहार एवं समीकरण करते हुये जायसी ने उन्हें पद्मावत के कथानक में संजोया है। सूफी मत का अनुयायी होने के बावजूद हिन्दुओं की नीति आदर्श और धर्म पर भी उनकी पूर्ण आस्था थी। इसीलिये हिन्दू धर्म और इस्लाम पद्मावत में एकाकार हो गये हैं। वह एक तरफ तो गोरख की अन्तःसाधना शिवाराधना से प्रभावित हुये तो दूसरी ओर सूफियों के तौहीद और इश्क हकीकी से। किन्तु इन दोनों की चरम परिणति एक ही ईश्वर की प्राप्ति या अनुभूति में ही है। जायसी ने मन को राजा और बुद्धि को पद्मावती का प्रतीक कहा है। भारतीय दर्शन में बुद्धि को मन की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी परे आत्मा है। दूसरा प्रधान कारण है कि ब्रह्म की विराट भावना भी बुद्धिगम्य मात्र है। कवि ने पद्मावती को बुद्धि रूप कहा है और उसकी स्थिति हृदय रूपी सिंहल में बताई है। मन को इसी हृदयस्थ बुद्धि में केन्द्रित करना ही आध्यात्मयोग है।

साधना सम्प्रदायों में नाथपंथ का महत्व सुधार और सामंजस्य की दृष्टि से अतुलनीय है। नाथपंथ जहाँ एक ओर प्राचीन शैव–योगी सम्प्रदाय का विकसित, परिष्कृत एवं अभिनवीकृत रूप है वहीं उसमें वैष्णव, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त–तन्त्रों, पातंजल योग आदि एवं अनेक तत्कालीन संप्रदायों के उदत्त–तत्व भी संकलित हैं। मध्ययुग में नाथपंथ की इतनी प्रतिष्ठा थी कि सूफी साधना भी इससे प्रेरित हुये बिना न रह सकी। दूसरा पैरा अनेक परम्परागत नियम या कार्य निरन्तर जन–विश्वास का सम्बल पाते रहने के कारण चलन या रूढ़ि मान लिये जाते हैं। उनके वास्तविक अर्थ या मूल का तात्पर्य का पता किसी को नहीं होता फिर भी विशेष अवसरों पर लोग इनका पालन करते ही हैं जिनका प्रयोग कवि भी प्रायः अपनी कृतियों में कर लेते हैं। कथानक रूढ़ि की आत्मा और स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं– ''सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के

साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिये कुछ ऐसे अभिप्राय दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं जो थोड़ी दूर तक यथार्थ होते थे और आगे चलकर कथानक रूढ़ि में बदल गये हैं।''[7] यह कथन विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि सम्भावना जीवन का आधार, विश्वास और शक्ति है। कथानक–रूढ़ि का सम्बन्ध विशुद्ध रूप से कथानक (ढांचे) से रहता है, लेकिन काव्य–रूढ़ियां उससे बिल्कुल भिन्न कथा या काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष से सम्बन्धित होती हैं। (नगर, उपवन, आश्रम, नखशिख, ऋतुवर्णन आदि वर्णन सम्बन्धी रूढ़ियाँ काव्य के वाह्याकार से सम्बन्धी रखती हैं। इन्हें हम वर्णन रूढ़ि कह सकते हैं। समर्थ कवि घटना–चक्र के बीच में उपयुक्त स्थलों का चयन कर रस सृष्टि करते चलते हैं। शुक्ल जी के अनुसार– ''जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है, वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं, जो कथा प्रवाह के बीच–बीच में आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुंचने के लिये होती है।''[8]

कथान्तर्गत घटनावली को खोलने का अर्थ कथा को गति देना ही है और इसमें कथानक रूढ़ियों का विशेष महत्व है। लेकिन जायसी का मौलिक दृष्टिकोण इन रूढ़ियों से ऊपर है जो कथानक के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट हो जाता है जहाँ प्रेमाख्यान रूढ़िगत स्वरूप से अलग होकर युग–युगान्तर तक मानवता का सन्देश देता रहेगा।

lUnHkZ %

1. जायसी और उनकी पद्मावत, पृ0 96
2. वहीं, पृ0 98
3. डॉ0 शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ0 428
4. हिन्दी साहित्य, पृ0 262
5. जायसी व रामचन्द्र शुक्ल
6. डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत, जायसी की पद्मावत, पृ0 57–58
7. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ0 80
8. जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ0 69

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

^inekor* dk ^ukxerh fo;kx&[k.M* % lUnHk vkj idfr

l/;k flg*

'पद्मावत' की रचना अवध क्षेत्र के जायस नगर में रहने वाले साधारण फकीर मलिक मुहम्मद जायसी ने की। साधारण फकीर इसलिए कि उनका जन्म जायस में हुआ और वहीं वे गृहस्थ जीवन बिता रहे थे। वे एक सामान्य किसान थे लेकिन, किसी दुर्घटना में कहते हैं कि उनका परिवार समाप्त हो गया। जिसके बाद उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया, किन्तु वे अपना समाज नहीं छोड़ सके। उनकी रचना में सामाजिक जीवन चारों तरफ व्याप्त है। वह अलौकिक अर्थ देने वाली, हठ साधना के विचारों से प्रभावित होते हुए भी इस लौकिक समाज और उसकी परिस्थितियों से मुक्त रचना नहीं है।

जायसी के बारे में जो भी जानकारियाँ मिलती हैं वे स्पष्ट करती हैं कि वे सामाजिक व्यक्ति थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका लिखते हुए उस किवदन्ती का उल्लेख करते हैं जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि किवदंतियाँ समाज की देन होती हैं, किसी व्यक्ति विशेष की नहीं। उसमें पूरा सच तो नहीं होता, किन्तु वह कहीं से तो यथार्थ से जुड़ी होती है– ''उनका नियम था कि जब वे अपने खेतों में होते तब अपना खाना वहीं मँगा लिया करते थे। खाना वे अकेले कभी न खाते; जो आस–पास दिखाई पड़ता उसके साथ बैठकर खाते थे।''[1] इत्यादि उपर्युक्त भावना से स्पष्ट है कि जायसी घर गृहस्थी वाले किसान थे और उनका अपने समाज से इतना गहरा सम्बन्ध था कि अपना भोजन तक वे साझा करते थे। या यह भी हो सकता है कि खेत की मेड़ पर बैठकर आने जाने वालों की हाल खबर पूछते रहते और उन्हें भी विश्राम करने का एक मौका देते रहे हों। यह अन्तःसम्बन्ध सहज ही व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ देता है। वैसे अभी भी गांवों की सहजता खतम नहीं हुई है। वे एक दूसरे के दुःख–सुख में शामिल होते हैं। एक गांव का व्यक्ति अपने गांव के हजारों व्यक्तियों के साथ–साथ बगल के, इलाके के विशेष व्यक्तियों को भी जानता है, उससे उसका एक सामाजिक सम्बन्ध होता है। जायसी का समय 15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा है। तब का समाज तो जनसंख्या और आधुनिकता, नहीं आधुनिकता नहीं, भौतिक वस्तुओं की उपभोक्ता दोनों दृष्टि से कम था। आवागमन, संचार, सुख–सुविधा की वस्तुओं का अभाव था। समाज सहज, सरल होते हुए भी संघर्षरत था। चेतना का अभाव पूरे मध्यकाल में किसी भी क्षेत्र में आपको देखने को नहीं मिलेगा। समाज की राजनीतिक उथल–पुथल (इब्राहिम लोदी का हार जाना, मुगल साम्राज्य की स्थापना, राणासांगा इत्यादि राजाओं से बाबर के युद्ध, हुमायूँ और शेरशाह का युद्ध) सामाजिक और साहित्यिक जीवन को प्रभावित करती है। जायसी अपने समय और समाज को समझने वाले एक भावुक व्यक्ति थे। उनकी रचना में मार–काट, युद्ध के साथ प्रेम पक्ष, विरह और त्याग पक्ष अधिक प्रभावशाली ढंग से चित्रित है।

जायसी जिस क्षेत्र के रहने वाले थे वह साहित्यिक और राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रगतिशील क्षेत्र रहा है। अवध का यदि हम इतिहास में राजनैतिक और साहित्यिक योगदान को देखते हैं तो पाते हैं कि उसकी सक्रियता, प्रतिबद्धता और रचनाशीलता ही उसका महत्वपूर्ण योगदान है। अवध में, मध्यकाल में ही नहीं बल्कि स्वतंत्रता संग्राम अर्थात् 19वीं और 20वीं शताब्दी में भी एक शक्तिशाली विद्रोह करने वाला क्षेत्र रहा है। इसमें किसानों द्वारा किया गया विद्रोह अत्यधिक महत्वपूर्ण

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

था। वह अपने ही जमींदारों, तलुकेदारों के विरूद्ध था। निम्न जाति वालों की सामाजिक बहिष्कार आदि घटनाएँ महत्व रखती हैं। इसी अवध में या आसपास कबीर, तुलसी, जायसी जैसी प्रतिभाओं का जन्म हुआ।

जायसी भी एक किसान थे। 'पद्मावत' का जीवन, उसकी संरचना जायसी की चेतना से उत्पन्न समाज की परिकल्पना थी। 'पद्मावत' यथार्थ, इतिहास के मिश्रण के साथ–साथ कवि की अपनी कल्पना से तैयार कृति है। जिसमें तत्कालीन जनजीवन, प्रचलित कहानियाँ, भविष्य के संकेत और तत्कालीन समाज की विभिन्न परिस्थितियाँ उभरकर सामने आती हैं। 'पद्मावत' का अध्ययन स्पष्ट करता है कि कवि की भाषा, उसकी अभिव्यक्ति, उसकी कल्पनात्मकता, कृत्रिम नहीं है बल्कि सहज ही विकसित हुई है। जायसी की रचना में लोक प्रचलित नायक, नायिका, खलनायक ही वैसे प्रयुक्त किये गये हैं, जबकि आगे की महत्वपूर्ण रचना 'मधुमालती', 'रामचरितमानस' आदि में कवि तत्कालीन और कालजयी, गम्भीर समस्याओं को उठाता अवश्य है, प्रबन्धकाव्य की रचना करता है, जीवन का सम्पूर्ण अंग का चित्रण करता है। अपने समय के अनुसार नायक, नायिका के जीवन संघर्ष को रचता है किन्तु वे पौराणिक पात्रों के माध्यम से या काल्पनिक वे तत्कालीन समय के पुरुष–स्त्री नहीं हैं। तुलसीदास के राम और रावण का संघर्ष, जीवन की परिस्थितियों का चित्रण अपने समय के अनुसार हुआ है। उन्होंने रामकथा का दोहराव, राम का वर्णन करने मात्र के लिए नहीं किया था। 'रामचरितमानस' अवध क्षेत्र की अवधी भाषा में लिखा गया दूसरी बहुत ही महत्वपूर्ण रचना है।

'पद्मावत' प्रबन्धकाव्य है। जिसमें नायक और नायिका के जीवन का सम्पूर्ण अंश चित्रित किया गया है। 'पद्मावत' के 58 खण्डों में कवि रूपक या उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग करते हुए धीरे–धीरे कथा को आगे बढ़ाता है और आन्तरिक सम्वेदना उथल–पुथल, मानसिक संघर्ष को अधिक चित्रित करता है। इसी चित्रण की भाषा को आचार्य, कवि की काव्यभाषा कहते हैं। जायसी की काव्यभाषा का अध्ययन करने के पूर्व भाषा, समय और समाज को समझना आवश्यक है क्योंकि भाषा विचारों की क्रमबद्धता है। उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्द भाषा का निर्माण नहीं करते, जब तक उनका प्रयोग वाक्य में न किया जाय। यही वाक्य रचना जब वि अपनी कल्पना में करता है तो वह कुछ सोच रहा होता है। वह विचार और भाषा का एक अन्तःसम्बन्ध होता है। वही जब कुछ चमत्कार उत्पन्न करती है तो काव्यभाषा कहलाती है। काव्य की भाषा सहज बोलचाल की भाषा से अलग होती है। वह चित्रण करती है, बिम्ब का निर्माण करती है। बिम्ब का निर्माण कवि अपनी कल्पना से करता है। कल्पना कवि के सामाजिक अनुभवों से निर्मित होती है। इसलिए भाषा, कल्पना, बिम्ब सभी का सम्बन्ध कवि के समाज से होता है। कवि जो सोचता है वह एक भाषा में सोचता है। तब उसे चित्रित करता है और वह भाषा उसकी अपनी विशेषता से युक्त होती है जैसे जायसी की भाषा अवधी है। उन्हें अवधी सीखने की आवश्यकता नहीं। वह उनकी मातृभाषा, सोचने, समझने की भाषा थी किन्तु 'पद्मावत' की भाषा जायसी की अपनी काव्यभाषा है। जिससे 'पद्मावत' एक चल–चित्र के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। कविता की भाषा की विशेषता पर 20वीं शताब्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने निबन्ध 'कविता क्या है'? में बात करते हैं वे कहते हैं कि– ''कविता में कही गयी बात चित्र–रूप में हमारे सामने आनी चाहिए।''[2] अर्थात् कविता की भाषा चित्रात्मक होती है और दूसरी विशेषता– ''इस मूर्ति–विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा–शक्ति से काम लेती है।''[3] भाषा की लक्षणा शक्ति है। लक्षणा शक्ति ही भाषा को बहु अर्थी और समय के साथ परिवर्तित होने की विशेषता प्रदान करती है। पद्मावत में बहुअर्थता का बाहुल्य हैं। काव्यभाषा की तीसरी विशेषता जिससे रचना की आयु बढ़ती है शुक्ल जी मानते हैं– ''नाद सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है''[4] अर्थात् नाद सौन्दर्य। जायसी ग्रंथावली की भूमिका में शुक्ल जी लिखते हैं कि– ''पद्मावत के कई अंशों को वे गाते फिरते थे और चेले लोग भी साथ–साथ गाते चलते थे। परम्परा से प्रसिद्ध है कि एक चेला अमेठी में जाकर उनका नागमती की बारहमासा गाकर घर–घर भीख माँगा करता था–

dloy tk foxlk ekulj] fcu ty x;m lq[kkbA
lf[k cfy ifu iyg] tk fi; lhp vkbAA**[5]

अमेठी के राजा, कहते हैं इस पद पर मुग्ध हो गये थे। नाद सौन्दर्य से युक्त होने के कारण 'पद्मावत' प्रबन्धकाव्य होने पर भी फकीरों के मुख पर थी।

भारतीय प्रेमाख्यानों की अपनी एक परम्परा और विशेषता रही है। 'पद्मावत' के पूर्व कई प्रेमाख्यान लिखे गये जिसका जायसी एक पद में वर्णन करते हैं–

foØe /k lk ie d ckjk] liukofr dg x,m irkjkAA
e/kikN ex/kkifr ykxhA xxui j gkbxk cjkxhAA
jktdoj dpuij x;ÅA fejxkofr dg tkxh Hk;ÅAA
lk/k doj [k.Mkor tkxA e/kekyfr dj dhUg fo;kxAA
iekofr dg lj lfj lk/kkA Å"kk yfx vfu#) cj ck/kkAA[6]

उपर्युक्त प्रेमगाथाओं में जो प्राप्त हैं वे या तो अपूर्ण हैं या संदिग्ध एक मिरिगावती ही पूर्ण रूप से प्राप्त है। इन प्रेमाख्यानों में दोहे, चौपाई की शैली और अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है। एक और महत्वपूर्ण बात की सारी प्रेमकहानियाँ सूफियों द्वारा लिखी गयी है, किन्तु सब की कथा में नायिका को पाने के लिए नायक योगी वेश में निकलता है, उसे ईश्वर की कृपा से प्राप्त करता है, अन्त में नायिका नायक के साथ सती हो जाती है और कहानी समाप्त। लेकिन सभी प्रेमाख्यान एक दूसरे से भिन्न हैं। भाषा अवधी होते हुए भी सभी की काव्य भाषा में विशिष्टता है। सबका अपना एक अलग सौन्दर्य रहा है।

'पद्मावत' की काव्यभाषा अन्य प्रेमाख्यानकों की तुलना करने पर अधिक सशक्त और बिम्बनिर्मित करने वाली लगती है। प्रेमाख्यानकों में विरह और प्रेम का सन्दर्भ अत्यधिक लोकप्रचलित रहा। नागमती का वियोग वर्णन, कवि इतनी सहज भाषा में करता है कि वह अद्वितीय बन जाता है। नागमती के दर्द को कवि ने वाह्य प्रभाव से न माप कर अन्दर होने वाले मानसिक संघर्ष, उथल–पुथल, और द्वन्द्व का उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से पाठकों एवं श्रोता के सामने चित्रित किया है। नागमती जायसी को रानी न लगकर जायस में रहने वाली एक सामान्य स्त्री लगती है जो पति के अभाव में कैसे तिरस्कृत होती है, कैसे निरावलम्ब हो जाती है कैसे पति की वापसी की इच्छा रखती है, कैसे उसके हृदय का विस्तार हो जाता है कि बावली होकर पशु पक्षियों से सन्देशा भेजने लगती है। 'नागमती वियोग खण्ड' को देखते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि– ''नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे अपना दुःखड़ा सुनाती है। वह पुण्य दशा है जिसमें सब अपने सगे लगते हैं...वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है।''[7]

जायसी राजदरबारी कवि तो थे नहीं जो किसी पटरानी का विरह करीब से देखे रहे हों। उन्होंने जो अपने आस–पास देखा था उसी का अपनी कल्पना के माध्यम से बिम्ब चित्रित कर दिए हैं। यह दृश्य देखिए कैसे सामान्य भाषा में होने पर भी काव्यत्वमय है–

^^cjl e?kk >dkfj >dkfjA ekj nb uu po t l vkjhA**[8]

जायसी के सामने राजमहल की उपमा न आकर छप्परों से बने घरों की कल्पना आती है। क्योंकि चारों तरफ किसानों के घर घास फूसों से ही निर्मित हुआ करते थे। ऊपर से यदि प्रतिवर्ष उसकी मरम्मत न की जाय तो जीवन की अत्यन्त दयनीय स्थिति हो जाती है। पानी का टपकना मानों जीवन से सुख के रिसने सा लगने लगता है। नागमती के नैन राजमहल की छतों से बहने वाले पनारे भी कवि कह सकता था उसमें तो वेग भी अधिक होता है, किन्तु ओरी कहना दुःख की दीर्घता को भी दिखलाता है। छतों पर पानी टिकता नहीं है, किन्तु ओरियाँ वर्षा निकल जाने के बाद भी घण्टों टपकती हैं हप्तों छप्पर गीले रहते हैं। उनमें संवेदना की अभिव्यक्ति करने की क्षमता अधिक है। यही कवि की काव्यभाषा का चमत्कार हैं नागमती वियोग वर्णन स्त्री की दशा का चित्रण करती है; वास्तविक चित्रण। इसलिए यह और महत्वपूर्ण है। इतिहास में 15–16 शताब्दियों में स्त्रियों की क्या स्थिति थी का संकेत 'पद्मावत' में बिखरा हुआ है। जब रतनसेन के अभाव में नागमती सोचती है–

^^ekfg fcu fim dk vknj nb**[9]

यह रानी नागमती का ही नहीं जायसी के समाज की स्त्रियों का सामान्य सत्य है। स्त्रियों का अपना कुछ भी नहीं है। सब कुछ पिता, पति, पुत्र के होने से है। वह महादेवी, पटरानी, कुलदेवी मात्र हैं। न तो उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता है न पहचान। पति के अभाव में स्त्रियों को न तो ससुराल में मान मिलता रहा होगा न ही मायके। आज भी पति परित्यक्त स्त्री को समाज हीन दृष्टि से ही देखता है। मीरा का भी संघर्ष कुछ ऐसा ही रहा होगा।

नागमती के वियोग से बाह्य प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु नागमती की वर्णित स्थिति, विह्वल मनोदशा को देखकर पाठक उसके दुःख से दुःखी हो जाता है। जब नागमती कहती है–

^^fim lk dgm lnslMk] g Hkjk ! g dkxA
lk /kfu fojg tfj eb] rfg d /kok gEg ykxkA**[10]

तो ऐसा लगता है कि नागमती रतनसेन तक जल्द से जल्द अपनी स्थिति का वर्णन करने वाला भेजना चाहती है। मध्यकाल में भौरा और कौआ अविश्वसनीय हैं, किन्तु नागमती के लिए वे भी अपने होकर विश्वसनीय लगते हैं। इस प्रकार एक वर्ष बीत जाता है। एक–एक माह नागमती के लिए भारी हो जाते हैं। किन्तु स्त्री के दर्द को सुनने वाला पूरे समाज में कोई नहीं है। पूरा समाज स्त्री के दुःख पर मूक, बधिर है। अब और इससे बड़ा सत्य क्या जायसी चित्रित करते और अन्त में विहंगम के द्वारा पूछवा ही लेते हैं कि तुम दुःखी क्यों हो–

^^fQfj fQfj jko dkb ufg Mkyka vk/kh jkr fogxe ckykA
r fQfj fQfj nkg lc ik[khA dfg n%[k jfu u ykofl vk[khA**[11]

सम्वेदना का, दुःखी मन स्पर्श पाकर क्या करता है जायसी बखूबी जानते हैं। यह वही जान सकता है जिसकी समाज और भावना में गहरे पैठ हो। जायसी लिखते हैं कि–

^^ukxerh dkju d jkbA**[12]

कारन करके नागमती का रोना अत्यन्त दुःखी होना आप ही स्पष्ट कर देता है। तब स्त्री हृदय सहानुभूति पाकर अपनी आन्तरिक वेदना की ज्वाला को कह सुनाती है।

इस प्रकार नागमती वियोग वर्णन पूर्व और बाद के वियोग वर्णन से अलग हो जाता है। नागमती का गृहस्थ होना, सुख के बाद दुर्दिन देखना और भी भावुक बनाने वाला प्रसंग है। यह कहीं न कहीं बहुपत्नी विवाह पर भी प्रश्न चिह्न लगाता है कि पारिवारिक स्थिति और स्त्रियों की क्या स्थिति होती है। नागमती के विरह का कारण शारीरिक से अधिक मानसिक और आर्थिक अभाव है क्योंकि जब नागमती सोचती है कि–

^^i"; u[kr flj Åij vkokA gk fcu ukg] efnj dk NkokA**[13]

घर की मरम्मत में अर्थ लगता है जो नागमती जैसी स्त्रियों के पास होता नहीं है। जिससे वे कष्ट उठाती हैं उनके साथ–साथ परिवार भी कष्ट उठाता है।

नागमती वियोग खण्ड में जितने भी बिम्ब कवि खड़ा करता है वे सभी ग्राम्य जीवन या प्रकृति से सम्बन्धित हैं। बारहमासा का कवि प्रयोगकर्ता है, किन्तु एक स्वतंत्र प्रयोग। कुछ इसी तरह 'पद्मावत' में भी प्रस्तुत–अप्रस्तुत बिम्ब विधानों के माध्यम से कवि अपनी बात कहता चलता है। समकालीन जीवन संघर्ष, और दर्शन के साथ प्रेमाख्यान की कहानी आगे बढ़ती है। 'पद्मावत' का रूपकत्व भाषा के एक अलग अर्थ को खोलने वाली विशेषता लिए हुए है, क्योंकि जब कवि बिम्ब निर्माण कर रहा होता है तो उसमें आये रूपक लक्षणाशक्ति का प्रयोग करके अर्थों का विस्तार कर देते हैं। जैसे जब कवि जीवन दर्शन, रहट के माध्यम से प्रस्तुत करता है तो बिम्ब तो पानी खींचने का है जो किसानी जीवन से जुड़ा हुआ है। लोक सामान्य की दिनचर्या के उदाहरण में कवि रूपक का प्रयोग करके दर्शन प्रस्तुत करता है और सामान्य सी बात बड़ी गम्भीर अर्थ को धारण कर लेती है–

^^egEen thou ty Hkju] jgV ?kjh d jhfrA
?kjh tk vkb T;k Hkjh] <jh] tue xk chfrAA**[14]

आवागमन के चक्र का उदाहरण अब और क्या हो सकता है। जायसी 'पद्मावत' को लगभग 20 सालों तक लिखते रहे। जीवन के तमाम अनुभवों से गुजरते रहे। जीवन के अनुभवों से उत्पन्न रचना 'पद्मावत' कालजयी प्रबन्धकाव्य है। उसको रचने वाला खूबसूरत तो नहीं था लेकिन रचना अत्यन्त सौन्दर्य से युक्त है उसको रचने में कवि ने अपना सब कुछ लगा दिया। तब कवि कहता है कि–

egEen dfo tks fojg Hkk u ru jdr u eklqA
tsbZ e[k ns[kk rsbZ glk] lqfu rfg vk;m vklqAA[15]

'पद्मावत' एक त्रासदी है, क्योंकि उसके सारे बड़े पात्र नष्ट हो जाते हैं। आक्रमणकारी अलाउद्दीन को पद्मावती नहीं मिलती उसकी भी विजय को कवि झूठी साबित कर देता है–

^^Nkj mBkb yhUg ,d eqBhA nhUg mMkb] fijfFkeh >qBhA**[16]

कवि ने युद्ध के बाद की बड़ी लगने वाली विजय को भी झूठा बताता है, क्योंकि युद्ध के पूर्व जो सुन्दर था युद्ध उसको नष्ट ही करता है। युद्ध से किसी भी पक्ष को कोई फायदा कभी नहीं हुआ सिवाय गवाने के। शान्ति युद्ध में कभी नहीं मिल सकती। शान्ति के लिए त्याग चाहिए और इस प्रकार 'पद्मावत' समाप्त हो जाता है।

lUnHkZ %

1. 'जायसी ग्रन्थावली', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा प्रकाशन, संस्करण–21वाँ, पृष्ठ संख्या–5
2. 'चिन्तामणि' भाग–1, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण–8वाँ, पृष्ठ संख्या–101
3. वहीं, पृष्ठ संख्या–102
4. वहीं, पृष्ठ संख्या–104
5. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण–12वाँ, पृष्ठ संख्या–8/9
6. 'जायसी ग्रन्थावली', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा प्रकाशन, संस्करण–21वाँ, पृष्ठ संख्या–2
7. वहीं, पृष्ठ संख्या–29
8. वहीं, 'नागमती संदेश खण्ड', पद संख्या–6, पृष्ठ संख्या–138
9. वहीं, 'नागमती संदेश खण्ड', पद संख्या–4, पृष्ठ संख्या–138
10. वहीं, 'नागमती संदेश खण्ड', पद संख्या–9, पृष्ठ संख्या–139
11. वहीं, 'नागमती संदेश खण्ड', पद संख्या–1, पृष्ठ संख्या–144
12. वहीं।
13. वहीं, 'नागमती संदेश खण्ड', पद संख्या–4, पृष्ठ संख्या–138
14. वहीं, 'सिंघलद्वीप वर्णन खंड', पद संख्या–18, पृष्ठ संख्या–14
15. वहीं, 'स्तुति खंड', पद संख्या–23, पृष्ठ संख्या–8
16. वहीं, 'पद्मावती–नागमती–सती खण्ड', पद संख्या–4, पृष्ठ संख्या–269

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

21oh: lnh dh i:e|[k dof;f=;k: dh fgUnh dfork e: lkekftd&ulfrd eY;

'ofrk vxzoky*

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज–निर्माण के साथ–साथ उसमें उत्पन्न समस्याओं के समाधान भी खोजे गये परिणामस्वरूप ऐसे निमयों का निर्माण हुआ जो सर्वसहमति से समाज द्वारा स्वीकृत हुए जिससे सुखमय एवं सामंजस्यपूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सके।

सामाजिक–नैतिक मूल्यों पर चर्चा करने से पूर्व 'मूल्य' के अर्थ को स्पष्ट करना आवश्यक है कि आखिर हमारे जीवन में 'मूल्य' से क्या तात्पर्य है?

^eY;* dk vFk ,o Lo:i

'मूल्य' अंग्रेजी के 'वैल्यू' शब्द से निष्पन्न हुआ है और अंग्रेजी का 'वैल्यू' लैटिन के 'वैलेर' से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है – 'अच्छा सुन्दर'। इस आधार पर 'अच्छे या सुन्दर' लगने वाले या दूसरे शब्दों में इच्छित को मूल्य कहा जा सकता है।[1]

भारत में प्राचीनकाल से जीवन के चार पुरूषार्थ माने गये हैं – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। जिनमें से प्रथम तीन (धर्म, अर्थ, काम), साधन मूल्य तथा चतुर्थ (मोक्ष) साक्ष्य मूल्य माना जा सकता है क्योंकि प्रथम तीन से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है अतः वह साधन मूल्य तथा मोक्ष स्वयं में एक उद्देश्य है अतः यह साध्य मूल्य है। 'मूल्य' के स्वरूप को अनेक विद्वानों द्वारा कोषों में परिभाषित किया गया हैः–

¼1½- o`gr~ ikekf.kd fgUnh dk"k

eY; ¼ i0¼l0½

1. कोई वस्तु खरीदने पर उसके बदले में दिया जाने वाला धन, दाम, कीमत (प्राइस)
2. वह तत्व या गुण जिसके कारण किसी वस्तु का महत्व या मान होता है।
3. नैतिक आदर्श, सिद्धान्त या स्वर।[2]

¼2½- fgUnh&fgUnh 'kCndk"k

मूल्यः–वि0 (सं0) खोदने योग्य, उन्मूलन के योग्य पु0 दाम, कीमत, वस्तु के बदले में दिया जाने वाला धन, पारिश्रमिक, वेतन, उपयोगिता।[3]

¼3½- fMD'kujh vkQ lk';kykth

'मूल्य, किसी वस्तु की मानवीय इच्छा को तृप्त करने की विश्वास्य क्षमता' को माना जाता है।[4]

अतः कहा जा सकता है कि मूल्य एक व्यापक शब्द है, जो सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि संदर्भो में भिन्न–भिन्न अर्थ व्यंजित करता है। समाज द्वारा स्वीकृत रीति–रिवाज, परंपरा आदि ही मूल्यों का निर्धारण करते हैं।

lkekftd eY; ,o ufrd eY; l rkRi;Z

lkekftd eY; %& मूल्यों के विकास में समाज की भूमिका स्पष्ट करते हुए राधाकमल मुखर्जी का कथन है – 'समाज द्वारा अनुमोदित वे इच्छाऐं और लक्ष्य मूल्य हैं जो परिवेशमय निबन्धना शिक्षा अथवा समाजीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हुए आन्तरिक स्वरूप धारण करके विषयीनिष्ठ वरीयताओं, परिनिष्ठाओं

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

तथा लालसाओं के रूप में परिवर्तित हो गऐ हैं'।[5] अतः सभी मूल्य, सामाजिक होते है।

uhfr %&

Ethics यूनानी विशेषण 'Ethica' जो 'Ethos' से व्युत्पन्न होता है, से फलित हुआ है। 'Ethos', रीति, प्रचलन अथवा आदत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'एथिक्स'को 'Moral Philosophy' भी कहते है। 'Moral' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'Mores' से हुई है, जिनका अर्थ भी रीति या आदत होता है।[6]

निम्न कोषों में 'नीति' के स्वरूप को समझा जा सकता हैः—

¼1½ ogr~ ikekf.kd fgUnh dks"k

वह शास्त्र,जिसमें समाज—कल्याण के लिए आचार—व्यवहार बतलाए गये हों।[7]

¼2½ fgUnh&fgUnh 'kCndks"k%&

नीतिः स्त्री0(सं0) व्यवहार का ढंग, लोकव्यवहार के निर्वाह के लिए नियत किया गया आचार, लोकाचार की एक पद्धति जिससे अपना कल्याण हो और दूसरे को हानि न पहुंचे।[8]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि जो आचरण समाजोपयोगी है वही नैतिक भी है। अतः सामाजिक—नैतिक मूल्य एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित है।

प्राचीनकाल से समाज में कुछ व्यवस्थायें स्थापित की गई थी जिससे समाज का प्रत्येक वर्ग व व्यक्ति सुचारू रूप से जीवन—यापन कर सके। समय परिवर्तनशील है और साहित्य व समाज पर भी इसका प्रभाव पूर्णरूपेण पड़ता है। 'जाति—प्रथा या वर्ण—व्यवस्था, शिक्षा—व्यवस्था, पारिवारिक—सौहार्द, पातिव्रत्य, सतीत्व, पर—हित, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, सत्यनिष्ठा, संघर्षशीलता एवं कर्मठता[9] आदि ऐसे सामाजिक—नैतिक मूल्य हैं, जिन पर समाज की रूपरेखा निर्मित थी परन्तु बदलते परिवेश में कुछ मूल्य रूढ़ हुए हैं, कुछ का विघटन हुआ है, कुछ के प्रति विद्रोह पनपा है तथा कुछ को आवश्यक माना गया है जिनका रहना अनिवार्य है। 21वीं सदी की कात्यायनी अनामिका, निर्मला पुतुल, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी आदि कवयित्रियों ने इन बदलते, विघटित, रूढ़ होते मूल्यों पर अभिव्यक्ति तो दी है, साथ ही नये मूल्यों को भी अपनी कविताओं में स्थान दिया है।

¼1½ o.kZ 0;oLFkk ,o tkfr okn %&

समाज में भेद—भाव, अस्पृश्यता, फूट आदि बुराईयों का कारण बनकर उसे विच्छिन्न करने में वर्ण—व्यवस्था के विकश्त रूप का बहुत योग रहा है। वर्तमान साहित्य में इसको सिरे से नकारा गया है। 21वीं सदी की कवयित्रियों ने इसे समाज का कैंसर कहा है, जो समाज की प्रगति में बाधक है।

निर्मला पुतुल इस व्यवस्था पर अपनी कविता 'मेरा सब कुछ अप्रिय है उनकी नज़र में' के माध्यम से समाज के प्रत्येक वर्ग को अवगत कराना चाहती हैं कि इससे पीड़ित वर्ग—समूह की मनः स्थिति क्या है? समाज में दोगलापन क्यों?

^o ?k.kk djr g ge I@gekj dky iu I@ o ugh pkgr Ih[kuk@ gekj chp jgr] gekjh Hkk"kk@pkgr g] mudh Hkk"kk Ih[k ge@ vkj mUgh dh Hkk"kk e ckr dj mu I@ ejk Ic dN vfi; g mudh @utj e@fi; g rk cI@ej i Ihu I i"V g, vukt d nku@txy d Qy] Qy] ydfM;k@[krk e mxh IfCt;k*[10]

वहीं 'निर्मला पुतुल' विद्रोही तेवरों के साथ समाज के प्रत्येक शोषित व्यक्ति को उठने के लिए कहती हैं:— ^cVkj iFoh dh ijh Åtk@ mBxk /khj&/khj tehu I@ tehu ij fxjk vkneh*[11]

यहाँ उनका कहने का आशय प्रत्येक समुदाय के सजग वंचित, प्रत्येक जाति के ऊर्जस्वी दमित से है, क्योंकि जमीन की सारी ऊर्जा समेटने की स्थिति में वे लोग कभी नहीं हो सकते जिनके पांव जमीन पर नहीं पड़ते।

सविता सिंह जातिवाद में पनपते आतंक को अत्यन्त ही मार्मिक एवं कारुणिक रूप में प्रस्तुत करती है जहाँ भाई—बहन का खूबसूरत रिश्ता भी जातिवाद के नाम पर रक्त से सराबोर हो जाता हैः—

^e> c['k nk@vkt Hkh igy dh rjg rEg viuk Hkkb ekurh g@ j[k nk f='ky MM ryokj Hkky@Fkd nk uQjr xLI k@ckgj fudy vkvk bI u;h Øjrk IA[12]

अपनी दूसरी कविता 'मुश्ताक मियाँ की दौड़' के माध्यम से भी हिन्दू–मुस्लिम के झगडों में खत्म होते रिश्तों को बखूबी व्यक्त करती हैः–^nkM+rs jgs e'rkd fe;k¡ cpkj@ <kck pykrs Fks@ dkus ugha vkrk Fkk cPpks Fkk mudh cksp ij@D;k irk Fkk vkt cny pqds gS@ lkjs irs fBdkus nkLrkus dh@ lcds fny iRFkj gks pqds gSA*[13]

¼1½- lkekftd laca/k ½ प्रत्येक संस्कृति में सामाजिक सम्बन्धों की विशेष रूपरेखा होती है उसी के आधार पर समाज में नये सम्बन्धों की कल्पना की जाती है। माता–पिता का संतान के प्रति प्रेम, परिवार में आपसी सौहार्द मित्रों के प्रति स्नेह, आदि।

'अनामिका' की 'बच्चा' कविता में माँ के अमिट स्नेह का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है कि थोडी देर के लिए भी बच्चा मां से दूर हो जाए तो माँ को कैसा लगता हैः–^?kj ls cPpk pyk x;k gS@ NV xbZ gS tSls jkc @ Tkxh vka[kks es NVk gks@ tSls ,d f[kykuk [okcA*[14]

बच्चे की अनुपस्थिति, माँ की साँसों में हवा की तरह उपस्थित रहती है।

बदलते परिवेश में समाज में आत्मीयता कहीं लुप्त हो गई। महानगरीय सभ्यता में व्यक्ति आत्म केन्द्रित हो गया है। अपने स्वार्थ के समक्ष उसे अन्य किसी के सुख–दुःख से कोई लेना देना नहीं है। सभ्यता की कथित उन्नति के कारण सामाजिक ढाँचा बदल गया है, शहरों में भीड़ बढ़ गई है, जीवन में यांत्रिकता आ गई है परिणामतः सामाजिक सम्बन्ध बदल गये हैं। सामाजिक मूल्यों का विघटन हो रहा है।

नीलेश रघुवंशी ने 'अजनबी शहर' कविता में महानगरीय सभ्यता का यथार्थ चित्रण किया है कि अनजान शहर में प्राकृतिक चीजें भी अनजान सी जान पड़ती हैः–

^cgqr vtuch gS ;g 'kgj@ vtuch 'kgj dk gj iM+ Hkh vtuch&lk@vtuch ls drjkrs ls QwyA@ bl vtuch ls 'kgj es <y<rh gSA@viuk 'kgj lh dkbZ xyhA*[15]

'अनामिका' भी शहरों में समाप्त होती मानवीय संवेदनाओं व आपसी–सौहार्द के विघटन की स्थिति का वर्णन इन शब्दों में करती हैं :–

^bl 'kgj es yfdu ^pqVifV;k^ utj gh ugha vkrs &@ Lkrifr;k f>xqjuh dh rjg ;gka ,d flj's ls xk;c gS@ pqVifV;k tu vkj cVuA@ fdruk Hkh dhft, tru@ pqV ls iqV ugha gh ctxA*[16]

चुटपुटिया को प्रतीक बनाकर अनामिका ने बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार लोगों में आपसी प्रेम था। लोग एक साथ किस तरह मिलकर रहते थे उनमें स्वार्थ नहीं था ऊँच–नीच का भाव नहीं था, परन्तु आज इस मशीनी युग में लोग कितना भी जतन करो एक साथ रह ही नहीं सकते ।

¼3½- ukjh&xfjek ½ युग–परिवर्तन के साथ समाज में नारी की महत्ता भी घटती–बढ़ती रही है। वर्तमान में नारी की स्थिति बहुत कुछ बदली है। नारी–शिक्षा, समाज में उसकी सहभागिता आदि में स्थिति सुधरी है। हालांकि यह स्थिति शहरों में ज्यादा सुदृढ़ हुई परन्तु गांवों में भी नारी–जागरण की लहर पहुंच चुकी है। सतीत्व, पातिव्रत्य आदि मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगे हैं और 21वीं सदी की कवयित्रियों ने इस विकृत मूल्यों का विरोध अपनी कविताओं में किया है।

गृहस्थी में पति और पत्नी के दोनों के दायित्व हैं, किन्तु भारत में अति प्राचीनकाल से ही पति–पत्नी सम्बन्धों में पत्नी से पति के प्रति एकनिष्ठा की अपेक्षा अधिक की जाती रही है। पति स्वयं स्वच्छन्द रहे और पत्नी पति–धर्म निभाये, यह सम्भव नहीं है। ऐसे में नारी विद्रोहिणी हो सकती है।

सविता सिंह 'मैं किसकी औरत हूँ' कविता में इसी प्राचीन अवधारणा (पति–परमेश्वर) का विद्रोह अपने अंदाज़ में करती नज़र आती हैं–

^eS fdlh dh vkSjr ugha g@ eS fdlh dh ekSj ugha lgrh@ vkSj esjk dkbZ ije'oj ugha*[17]

vfLerk dh ryk'k ½& वर्तमान में नारी अपने अस्तित्व को लेकर सजग हुई है। समाज में अपनी स्थिति की बात करने में आज वह स्वयं को स्वतन्त्र महसूस करती है। 'पुरूष के समान अधिकार उसके चयन,वरण व नकारने की स्वतंत्रता,स्त्री–अस्मिता की मुख्य शर्ते हैं।'[18]

आज की कवयित्रियों ने 'अस्मिता की तलाश' कविताओं में व्यक्त की है। 'कात्यायनी' स्त्री की तलाश, अपने शब्दों में करती है:–

^esa thfor jgq¡xh@D;ksafd vHkh Hkh esa thfor jguk pkgrh gw¡@ Ukgha] ;g dguk mfpr gksxk fd@ vc esa thfor gksuk pkgrh gw¡ nqxZ ifr @ esjs thus nks@ esa viuh igpku rd tkuk pkgrh gw¡@ viuh vkRek rd @ viuh vfLerk rd tkuk pkgrh gw¡ eSaA*[19]

निर्मला पुतुल, आदिवादी स्त्रियों के समाज में स्थान को लेकर बात करती हैं। अपनी साथिनों को उनके अस्तित्व के लिए प्रेरित करती कहती हैं – ^tekuk cny jgk gS@Ckny jgh gS nqfu;k@ ge Hkh [kqn dks cnysa@le; rFkk lekt ds lkFk cny jgk gSA*[20]

वहीं व्यवस्था के प्रति आक्रोश भी इन कवयित्रियों के अंतस् में भरा है क्योंकि कई जगहों पर आज भी स्त्री की स्थिति पतन की ओर है और वर्तमान में इस सामाजिक–नैतिक पतन पर निर्मला पुतुल विद्रोही अंदाज में कहती हैं :–

^mles ty jgh gS esa@vkSj jg&jgdj HkM+d jgh gS@esjs Hkhrj vkx@rqe euk djks ftruk@mruh gh tksj ls ph[kw¡xh eSaA*[21]

¼4½- bZekunkjh vkSj lR;fu"Bk

ईमानदारी विचार और आचरण की एकरूपता में अभिव्यक्त होती है अपने आदर्शों पर टिके रहना, चाहे कैसी भी स्थिति आ जाए या जमाना कितना भी बदल जाए। अपने जीवन को अपने आदर्शों पर जीते हुए समाप्त कर देना ही वास्तव में जीवनादर्श है।

वर्तमान में इन मूल्यों का विघटन भी हुआ है परन्तु कवयित्रियों ने अपनी कविताओं में इन मूल्यों की सार्थकता को अभिव्यक्ति भी दी है:– ^cnyk tekuk@ lkj cnys ugha jke/kuh@ xqtjk le; mudk@o Hkh xqtj x;sA*[22]

वहीं निर्मला पुतुल ईमानदारी और सत्यनिष्ठा के स्थान पर पनपते विश्वासघात व स्वार्थ के विरूद्ध आगाह करती है :–

^os dy rd fiNys njokts ls vkrs Fks@ rqEgkjh lHkkvksa esa@ vc lkeus ls vk,xs tc esa ykbl sl@ ydj@ vkSj epk lhu gksxs rqEgkjs lkeus@lkFk gksus dk Hkkje nsrs gq, A*[23]

उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से कवयित्री अपने भाई–बंधुओं को ऐसे लोगों से सावधान रहने का आग्रह कर रही है जो ईमानदारी का ढोग कर धोखा देने की साजिश कर रहे हैं।

¼5½- ekuoh;&ewY;ksa dk fo?kVu

वर्तमान समय में पूँजीवाद का बोलबाला है। बाज़ारीकरण ने सम्पूर्ण समाज को अपने चक्रव्यूह में ले रखा है ऐसे में समाज ने भय, आतंक, असुरक्षा आदि को भी पनाह दे दी है। समाज में आतंक का साम्राज्य–सा हो गया है जिससे मानवीय–संवेदनायें समाप्त–सी हो गई हैं।

'अनामिका' 'बम' कविता के माध्यम से समाज में पनपते आतंक की भयावह स्थिति का वर्णन करती हैं– ^esa dqNhj m|ksx gw¡ nq'k dk@ ftu 'kh'kksa dh fdfp;ksa cn gS e>e@ mues ls dqN nok dh ckrry Fkh&@ dqN dhys] dqN ghys]rkj vkSj piMk@ bu lcds Hkhrj ok 'kkU; cMk&lk!@QVrk rks gS 'kkU; gh!*[24]

पूँजीवाद का दूसरा घिनौना चेहरा है– बालश्रम! जिन हाथों में पेन्सिल, किताबें, गेंद होनी चाहिए वही नन्हें हाथ कारखानों के धुएँ से काले पड़ें हैं और कारखानों का यहीं अंधकार उन्हें विद्राही बना देता है जो बहुत बड़ा अभिशाप है–मानवीयता के ह्रास का।

कात्यायनी के शब्दों में –

^cpiu esa@Ckuokrs gks iVk[ksa@ vkSj@uksatokuh esa ce cukus ls@jkdrs gks\@ vkt thus ds fy,@cukrs gks iVk[ks@dy thus ds fy,@ D;ksa u cuk;s ce\@ vkt@ rqEgkjs euksQs dh 'krsZ gS@ gekjk thuk]@ yfdu er Hkwyuk@ fd gekjs thus dk 'krZ gS@rqEgkjs euksQs dk [kkRek A*[25]

¼6½- l?k"k'khyrk ,o deBrk

सामाजिक क्षेत्र में संघर्षशीलता एवं कर्मठता से हमारा तात्पर्य–जीवन में हताश या तज्जन्य अकर्मण्यता का निषेध करके कर्म–रत होना है। संघर्ष और कर्म मानवीय प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति का सामाजिक दायित्व है कि वह सामाजिक प्रगति में अपना योगदान दें। संघर्षशीलता एवं कर्मठता की मूल्यरूपता वहां अधिक स्पष्ट हुई है जहाँ स्वप्न को साकार करने के लिए अनथक प्रयास हो रहा हो। निर्मला पुतुल की निम्न पंक्तियों में इसे स्पष्टतया देखा जा सकता है:–

^jkr <yrh g@cny tkrh g dy.Mj dh rkjh[k@ ,d u, fnu dh 'kq:vkr d lkFk@vkj jk;fdukjh okyh xkMh dk@gkul lqu@ >kyk yVdk, py nsrh gq n/kkuh pkd@gj ckj dh rjg ?kj e@yVdk dj rkykA*[26]

वहीं कात्यायनी भी समाज की प्रगति में निरन्तर कार्यरत रही हैं और वर्तमान में भी हैं। उन्हीं के शब्दों में–

^jkt/kkuh d@ cgn /ky vkj /kq,i vkj mel Hkj@ ,d fnu dk lQyrkiwod ft;k@ iijh lkFkdrk d lkFkA@ vBkjg ?k.Vs e bru@ lkFkd jpukRed dk;!@ le; dk ,lk lnqi;kx!@bruh lfØ;rk turk d fy,@ og Hkh ,dne 0;oLFkk dh ukd d uhp@ bl n'k dh jkt/kkuh e!*[27]

उक्त पंक्तियाँ भ्रष्ट होते राजनीतिक तंत्र पर करारा प्रहार है और दूसरी तरफ विघटित होते मूल्यों के कारण कवयित्री स्वयं पर अचंभित भी है कि किस प्रकार वह सम्पूर्ण दिन सार्थकता से व्यतीत करने में सफल रही।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर कहना उचित है कि प्राचीनकाल से चले आ रहे सामाजिक–नैतिक मूल्यों में कुछ रूढ़ होने के कारण मान्य नहीं रहे इसलिए उन्हें सिरे से नकार दिया गया तथा कुछ विघटित हुए जिसका समाज पर गहरा प्रभाव भी पड़ा है तथा कुछ मूल्य जो अत्यन्त अनिवार्य है किसी भी समाज की प्रगति के लिए उनको समाज की स्वीकृति आज भी है और कुछ नये मूल्यों को भी समाज में स्थान मिला है–उनकी अर्थवत्ता के कारण ।

fu"d"k % निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 21वीं की कवयित्रियों ने अपनी हिन्दी कविताओं के माध्यम से एक ओर तो मूल्य–संकट से उत्पन्न अवरोध एवं विषाक्त परिवेश का वर्णन किया है वहीं दूसरी ओर नये मूल्यों को स्थापित करने में भी सफल रही हैं।

lnHk %

1. आर.के. मुखर्जी : द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यू, पृ0 21
2. आचार्य रामचन्द्र वर्मा : वृहत् प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ0 772
3. डॉ. मुकेश चन्द्र गुप्ता : हिन्दी–हिन्दी शब्दकोष, पृ0 964
4. (सं0) हेनरी प्राट फेयरचाइल्ड : डिक्शनरी ऑफ सोश्योलॉजी, पृ0 331
5. (सं0) बी. सिंह : द फ्रंटियरज़ ऑफ सोशल साइसेंज, पृ0 23
6. (डॉ0) डी.आर. जाटव : नीति शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त, पृ0 2
7. आचार्य रामचन्द्र वर्मा : वृहत् प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ0 526
8. डॉ. मुकेश चन्द्र गुप्ता : हिन्दी–हिन्दी शब्दकोष, पृ0 387
9. (डॉ0) रवीन्द्र दरगन : आधुनिक हिन्दी कविता, पृ0 187–258
10. निर्मला पुतुल : अपने घर की तलाश में, पृ0 57
11. निर्मला पुतुल : अपने घर की तलाश में, पृ0 58
12. सविता सिंह : पचास कविताएँ (नयी सदी के लिए चयन), पृ0 54–55
13. सविता सिंह : पचास कविताएँ (नयी सदी के लिए चयन), पृ0 52
14. अनामिका : कवि ने कहा, चुनी हुई कविताएँ, पृ0 83
15. नीलेष रघुवंशी : घर निकासी, पृ0 64
16. अनामिका : पचास कविताएँ (नयी सदी के लिए चयन), पृ0 122

17. सविता सिंह : पचास कविताएँ (नयी सदी के लिए चयन), पृ0 22–23
18. रमणिका गुप्ता : स्त्री विमर्श कलम और कुदाल के बहाने, पृ0 55–56
19. कात्यायनी : इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ0 64
20. निर्मला पुतुल : अपने घर की तलाश में, पृ0 74
21. निर्मला पुतुल : अपने घर की तलाश में, पृ0 100
22. कात्यायनी : जादू नहीं कविता, पृ0 123
23. निर्मला पुतुल : अपने घर की तलाश में, पृ0 61
24. अनामिका : कवि ने कहा, चुनी हुई कविताएँ, पृ0 42
25. कात्यायनी : जादू नहीं कविता, पृ0 114
26. निर्मला पुतुल : अपने घर की तलाश में, पृ0 80
27. कात्यायनी : इस पौरुषपूर्ण समय में, पृ0 79

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

ledkyhu fgUnh miU;klk e ekuoh; l?k"k d vk;ke

vfer dqekj*

आज हिन्दी उपन्यास के मूल भारतीय स्वरूप की खोज की अपेक्षा आत्मसात करने की सामर्थ्य और उसके लोकतांत्रिक चरित्र पर विचार करना अधिक सार्थक है। यूरोप और भारत में भी उपन्यास के भविष्य के प्रति तमाम तरह के आशंकाओं के बावजूद पिछले तीन सौ वर्षों से यूरोप में और लगभग सवा सौ साल से भारत मे उपन्यास विषय वस्तु और रूपशिल्प के स्तर पर निरंतर अन्वेषण की प्रक्रिया से गुजरते हुए अपना रूपान्तर किया है, या परिवर्तन इतिहास प्रक्रिया का ही प्रतिफल है कि उपन्यास 'मध्यवर्ग के महाकाव्य' की जगह आज दुनिया की सर्वाधिक लोकतांत्रिक विधा है। आज उसमें सामाजिक प्रश्नों की हलचल और द्वन्द की स्थिति सर्वाधिक रूप मे दिखाई पड़ती है। समकालीन यथार्थ के विविधतापूर्ण परिदृश्य के चलते हिन्दी उपन्यास विषयवस्तु और ढ़ाँचे के स्तर पर सर्वाधिक परिवर्तनशील और गतिशील हुआ है और आज कविता की जगह केन्द्रीय विधा बनता जा रहा है।

निर्मल वर्मा जैसे चिंतक साहित्य को मात्र कलात्मक संरचना के तौर पर लेते है, तो डॉ0 श्यामाचरण जैसे समाजशास्त्रियों की दृष्टि में साहित्य होने के साथ–साथ एक सामाजिक संरचना भी है। इसे शुभ ही कहा जायेगा भारतीय मध्यवर्गीय जीवन की विकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं। समकालीन यथार्थ का यह विविधपूर्ण परिदृश्य औपन्यासिकता में ढ़ल रहा है। हिन्दी उपन्यास के समकालिन परिदृश्य में मानवीय संघर्ष ये सभी आयाम औपन्यासिकता के रूपान्तरण हो रहे हैं। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का भारतीय जनजीवन पर पड़ रहे प्रभाव और उसके चलते मानवीय संघर्ष के विविध रूपों के रेखांकित करने वाले रचनाकारो में प्रमुख हैं– राजू शर्मा, धीरेन्द्र अस्थाना तथा प्रदीप सौरभ आदि।

समकालीन हिन्दी उपन्यासो में मानवीय संघर्ष के विविध आयामों में पहले स्थान पर वैश्वीकरण और भारतीय जीवन पर प्रभाव है, जो हमारे जीवन की अर्थात समकालीन समय की एक महत्वपूर्ण समस्या बन कर हमारे सामने उभरी है। वैश्वीकरण की समस्या के साथ–साथ आदिवासी जीवन की त्रासदी और साम्प्रदायिकता के नये रूप तथा मौजूदा अग्रसारित वर्चस्व में दलित–स्त्री अस्मिता के सवाल और हिन्दी उपन्यास और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के दौर में भारत में किसान आत्महत्याएँ तथा मध्यवर्गीय भोगवाद एवं विकृतियाँ आदि को समकालीन परिस्थितियो में मानवीय संघर्ष के विविध रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। समकालीन संघर्षो में इन सभी जटिलताओं के परिणामी यथार्थ का ही इस युग में बहुत बड़ी समस्या उभर कर सामने आती हैं।

''वैश्वीकरण एक आधी सच्चाई और अधूरी अवधारणा है। आधी सच्चाई इस अर्थ में है, कि इसके घटित होने की प्रक्रिया जितनी तेज और सुनियोजित है, पूरी दुनिया के पैमाने पर इसकी अमलदारी को लेकर बहुत सारे सवाल खड़े हो रहे है जिनके समुचित जबाब तलाशे बगैर यह खतरनाक मोड़ ले सकती है, दूसरी तरफ यह एक सर्वथा आधुनिक अवधारणा है जिसे कभी भी मध्यकालीन अन्दाज में 'आत्म–सत्य' मान कर नही चला जा सकता है। अध्ययन की सुविधा के लिए हमें वैश्वीकरण के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आधार पर इसके विभिन्न पहलुओं के बारे में जान सकते हैं।''[1]

वैश्वीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख राजू शर्मा ने अपने उपन्यास 'विसर्जन' में विविधरूपों में रेखांकित किया है। यह उपन्यास ऐसे समय में आया जब हिन्दी साहित्य में वैश्वीकरण व उसके प्रभावों

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, हीरालाल रामनिवास स्नातकोत्तर महाविद्यालय खलीलाबाद, सन्त कबीर नगर ।

को लेकर प्रचुर मात्रा में रचनात्मक व आलोचनात्मक लेखन हो रहा है, किन्तु यह लेखन वैश्वीकरण के दृश्यमान प्रभावों, राजनीतिक परिदृश्य, अस्मितागत विमर्शों आदि पर ज्यादा हो रहा है। जल, जंगल, जमीन, स्त्री, दलित आदिवासी, नव सामाजिक आन्दोलनों मार्क्सवाद के फेल्योर आदि पर हो रहे लेखन को देखकर प्रथम दृष्टया तो यह लगता है हिन्दी के साहित्यकार भूमण्डलीकरण व उससे उत्पन्न खतरो को ना सिर्फ पहचान रहे हैं, बल्कि उससे मुठभेड़ भी कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य में 'भूमण्डलीकरण के मैकेनिज्म को समझते हुए उसके भीतर घुस कर उसे डी कंस्ट्रक्ट करने, सत्ता के साथ उसके रिस्ते की द्वन्दात्मकता को समक्षते हुए उसकी समूची कार्य प्रविधि का अध्ययन करते हुए नये सत्ता को उजागर करने, आर्थिक नीतियो, सांख्यिकी, विज्ञान एवं सूचना प्रौद्योगिकी आदि को किस तरह वह अपने हक में व्याख्यायित करता है या कैसे यह चीजें उसे मजबूत करती हैं, को देखने का सार्थक काम हिन्दी में तकरीबन ना के बराबर हुआ है।'[2]

'विसर्जन' में राजू शर्मा का शुरूवाती वाक्य है ''कुछ लोग होते हैं एक नजर देखो और लगता है इसे बादशाहियत हासिल है, दूसरे उंगलियों में चक्र के यह चक्रवर्ती है पर यह आखों में झाकने के पहले का एहसास है उसकी आखें दो सयाह गहरी सुरंगे हैं और जब तुम जान लेते हो जो वह हमेशा से जानता है यह बादशाह स्वनाशी है, हपना ही निषेध''[3] यह वाक्य अपने समूचे व्याप्ति में भूमण्डलीकरण व बाजार की हकीकत को उजागर करता है।

पी0बी0 इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है धारावाहिक घोटाले के पीछे के दिमाग पी0बी0 का ही है वह नायक/खलनायक दोनों ही है। उसके फलसफे में 'निजी स्वेच्छाचार समाज का केन्द्रीय मूल्य है उसका मानक मणि दर्शन कहता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता स्टेट और उसके दावों से पूर्व और मौलिक है और आजाद माहौल मे सहयोग की दशा खुद ब खुद परिवर्तित होती है स्टेट के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं। वह शास्त्रीय उदारवाद के प्रतिमानों में हर खलल और बदलाव के खिलाफ है उसकी मान्यता है जो उदारवाद को पॉजीटिव अधिकार, प्रगतिशील कर और कल्याणकारी नीतियों से जोड़ते हैं वह प्रदूषक और खतरे की घंटी है।'

विसर्जन में राजू की बारी निगाह भारतीय राजनीतिक व समाज में नब्बे के बाद होने वाले परिवर्तन पर है बी0एस0एन0एल0 व एम0टी0एन0एल0 का मसला हो या दूरदर्शन के निजीकरण का अर्थ अथवा रियल स्टेट बूम का सब पर राजू की दृष्टि इस उपन्यास में रही है। जमीन के कारोबार की राजनीति, वर्तमान परिदृश्य में भूमि का मार्केट से जो रिस्ता है और जिसके चलते भूमि सम्बन्धी कानूनों में व्यापक फेरबदल किये जा रहे हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में मानवीय संघर्ष का दूसरा पहलू आदिवासी जीवन की त्रासदी है। आदिवासी विस्थापन और संघर्ष की पीड़ा को उजागर करने वाले उपन्यासकारों में संजीव (धार 1990, जंगल जहाँ से शुरू होता है 2000) रणेन्द्र का ग्लोबल गांव का देवता तथा श्री प्रकाश मिश्र का 'जहाँ बास फूलते हैं'। मनमोहन पाठक का गगन 'घटा घहरामी' भी इसी श्रेणी का उपन्यास है।

संजीव का 'धार' एक वास्तविक क्षेत्रीय घटना पर आधारित उपन्यास है जिसमें एक ओर यदि विकास के नाम पर जन विरोधी नीतियाँ हैं, वही राजनीति व माफिया के गठजोड़ के संकेत भी कथा में प्रचुरता से विन्यस्थ है। कोयलांचल क्षेत्र में महेन्दर बाबू का जो तेजाब का कारखाना है वह पूरी बस्ती के लिए मुसीबत का कारण है लेकिन महेन्दर के गुर्गों ने उस आदिवासी संथाल समुदाय के ही कुछ लोगों को तोड़ कर इस विरोध को अनसुना कर दिया है। फैक्ट्री की दलाली और महेन्दर बाबू के साथ खड़े होने के बदले में टेंगर को वही चौकीदारी का काम मिला है जिसे पाकर वह फूला नहीं समाता है। इस अभियान में उसका दामाद फोकल भी उसके साथ है लेकिन टेंगर की बेटी मैना वास्तविक्ता को समझ कर स्थिति का विरोध करती है। अविनाश शर्मा और वामपंथी कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर बाँसवाड़ा गांव में मैना की जिद से फैक्ट्री नहीं चलने देगी, जिसमे मैना का पिता और पति उसके विरोध में गवाही देकर जेल भेजवा देते हैं।

संजीव 'जंगल जहाँ से शुरू होता है' की कथा भूमि बिहार–नेपाल की सीमा पर आदिवासी थारू जनजाति के जीवन और उसकी समस्याओ पर केन्द्रित है। वैसे तो यह उपन्यास मुख्यरूप से क्षेत्र की

डाकू समस्या को केन्द्र में रखकर विकसित होता है लेकिन प्रकारान्तर से समस्या की परते खुलने की प्रक्रिया में राजनीति के अपराधिकरण एवं पुलिस की भूमिका की प्रकृति भी खूलती चलती है। कथा की शुरूआत ही डाकू समस्या के निस्तारण के लिए बिहार के आला पुलिस अधिकारीयो की बैठक से होती है इस अभियान का नाम ही आपरेशन ब्लैक पाइथन रखा गया है। प्रधानमंत्री स्वयं इस अभियान को सीमान्त अंचल के नागरिकों में विश्वास बहाली आपरेशन फेथ के रूप में लेते है। मीटिंग स्थल के बोर्ड पर जबड़े फैलाए विशाल अजगर की जो तश्वीरें बनी है, वह वस्तुतः' इस डाकू समस्या की गंभीरता का ही प्रतीक है।

समकालीन उपन्यास में मानवीय संघर्ष का तीसरा संघर्षरत दलित स्त्री की संघर्ष को अभिव्यंजित करता है। 'दलित शब्द का शाब्दिक और विस्तृत अर्थ दुर्बल, पीड़ित, असहाय और दुखी है परन्तु साहित्य के सन्दर्भ में हम दलित शब्द के अर्थ को संकुचित कर देते हैं इसका अर्थ केवल वर्ण व्यवस्था में छोटी जाति के समझे जाने वाले अर्थात शूद्रों के लिए रूढ़ हो चला है।' गोपाल राय के अनुसार ''दलित पद र्निविवाद रूप में परिभाषित नही है पर समान्यता परम्परागत वर्ग व्यवस्था में शूद्र और पंचम वर्ण के अन्तर्गत आने वाले समुदाय को जो सवर्णो द्वारा अस्पृश्य माना जाता रहा है दलित कहा जाता है इसमे आदिवासी वर्ग भी शामिल है।'[5]

दलित स्त्री मुक्ति संघर्ष को अभिव्यंजित करने वाले प्रख्यात दलित साहित्यकार मोहनदास नैमिष राय का महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'मुक्तिपर्व' है। उपन्यास में आजादी के पूर्व और आजादी के बाद दलितों की स्थितियों में आये परिवर्तनों को चित्रित किया गया है। दलितो के मुक्ति के पर्व की खोज करता यह उपन्यास सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रस्तृत करता है। वंशी नवाब अली वर्दीखा के यहा नौकर है, तो रामदुलार विलायत सिंह के यहा और किसना भूले जाट के यहाँ। 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ और उसी सुबह वंशी की पत्नि ने एक बच्चे को जन्म दिया उस बच्चे को अभी से नवाब अपनी हवेली पर नौकरी का निमंत्रण देता है तो वंशी क्रोधित होकर नवाब को उत्तर देता है– ''नवाब साहब, न मै अब किसी की गुलामी करूँगा, न ही मेरा बच्चा, मुझे गलाम बने रहने की आदत नहीं नवाब साहब। वैसे भी देश स्वतंत्र हो गया है अब न कोई किसी का गुलाम है न कोई किसी का मालिक। सब बराबर है''।

बच्चे के नामकरण के लिए ब्राह्मण आता है जो दलितों के अपमानजनक नाम रखता है परन्तु वंशी अपने बच्चे का नामकरण, संस्करण स्वयं करता है और उसका नाम रखता है सुनित। उसने पंडितों के विशेषाधिकारो को चुनौति दी थी बस्ती के लोगों के तानो से पंडित का हृदय छलनी हो जाता है–''साथ घरों की बस्ती आदि पंडित से पार न होते बन रही थी जैसे पैरों में किसी ने पत्थर बांध दिया हो। चल कहा रहे थे पंडित जी वे तो बस घिसट रहे थे, वे कही गहरे तक उद्देलित थे, उनके पास विचार न केवल धार्मिक भावनाएँ तथा रूढ़ियाँ थी, वे भी कोरी और खोखली जिनका न कोई आधार था न कोई स्तम्भ था बस परम्पराओ के डगमगाते खंभो पर टिकी थी, आज वह सभी धम्म से गिर गई थी।

दलित मुक्ति की इस छटपटाहट में आर्य सामाजी राम लाल जी और उपन्यास नायिका सुमित्रा जैसे उदार सवर्ण, दलितों को सहायता करने में सदैव तत्पर रहते हैं। करतारा जो झाडू लगाने का कार्य करता है उसके बच्चों को भी विद्यालय में प्रवेश मिलता है। सुमित्रा सवर्ण परिवार से सम्बन्ध रखती है वह सुनित की ओर आकर्षित होती है दोनों पढ़–लिख कर शिक्षक बन जाते हैं, दोनों अर्न्तजातीय विवाह करके बस्ती के स्कूल में शिक्षक बन जाते हैं और सामजिक न्याय के लिए संघर्षरत हैं।

lUnHk %

1. संपादक, एकान्त श्रीवास्तव– वागर्थ (मासिक पत्रिका), भूमडलीकरण विशेषांग (जून 2014) पेज –12–13
2. संपादक, अनिल अग्रवाल– परीक्षा मंथन (ईयर बुक), 2010–11 पेज नं0–15
3. विसर्जन, राजू शर्मा, राजकमल प्रकाशन (2009)
4. मोहन दास नैमिष राय– मुक्ति पर्व, पेज–28–29
5. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन (2005) पेज नं0–13

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

d|r|cu d'r ^e'xkorh* % ,d v/;;u

l|d'fr feJk*

मृगावती की कथा कुतुबन की अपनी मौलिक कल्पना नहीं है। यह उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उनके अनुसार यह कथा मूलतः भारतीय थी, जिसे अरबी–फारसी में रूपान्तरित किया गया। उस रूपान्तरित कथा को लेकर उन्होंने योग श्रृंगार और वीर रस से युक्त यह कथा कही है–

^^igy| fgUn| dFkk og g] fQj j| xku r|du y| xgb|
fQu ge [kky vjFk lc dgk] tkx] fl|xkj] oh|j jl vgkA**[1]

ध्यान देने की बात है, कि मध्यकाल में अनेक भारतीय कथाओं के अनुवाद–अरबी–फारसी में हुये। अतः प्रस्तुत कथा के मूलतः भारतीय भाषा में प्रचलित रहने और उसके अरबी, फारसी में अनूदित होने की बात में कोई असाधारणता नहीं है। किन्तु अभी तक लोक में प्रचलित किसी ऐसी कथा की जानकारी नहीं मिल सकी है; जिसमें मृगावती की कथा की छाया हो और न ही अरबी–फारसी में ही अनूदित किसी ऐसे ग्रन्थ की जानकारी मिल पायी है। लेकिन भारतीय कथा साहित्य अगाध है, ऐसा सम्भव है कि किसी अज्ञात कोने में यह कथा छिपी पड़ी हो और वहीं से अन्यत्र भी गयी होगी। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि– ''मृगावती की कथा सम्भवतः किसी प्राचीन अपभ्रंश रचना से ली गयी है।''[2]

डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार– ''मृगावती नाम से एक अन्य रचना बंगाल में प्राप्त है, जिसकी रचना 19वीं शती के मध्य में मुहम्मद खातिर नामक कवि ने की है। नाम साम्य के कारण लोगों का अनुमान है कि इसकी कथा भी कुतुबन के मिरगावती के अनुसरण पर ही लिखी गयी होगी। किन्तु यह कथा हमें उपलब्ध नहीं हो सकी, अतः नहीं कहा जा सकता कि यह कथा वही है अथवा सर्वथा भिन्न है।''[3]

यद्यपि मिरगावती की मूल कथा उपलब्ध नहीं है फिर भी उसमें ऐसा कोई अभिप्राय नहीं है जो भारतीय साहित्य का जाना–पहचाना न हो। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस कथा के दो अभिप्रायों को विदेशी बनाया है। उनके अनुसार पुरुष का एकान्तिक प्रेम और प्रिया को प्राप्त करने के लिये कठिन साधना तथा प्रिया का धोखा देकर उड़ जाना और दूसरे देश में राज्य करना ये दोनों ही कथानक रूढ़ियाँ इस देश के लिये नयी है। किन्तु अपभ्रंश काव्यों को देखने से ज्ञात होता है कि उनकी यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। ये दोनों ही रूढ़ियां इस देश के लिये नयी नहीं हैं। उदाहरण के लिये करकण्ड चरिउ जो कि पन्द्रहवीं शती की रचना है को देखा जा सकता है।

'मिरगावती' की सम्पूर्ण कथा में ऐसा कोई भी तत्व नहीं प्राप्त होता है जिससे इस प्रकार की कल्पना भी की जा सके कि 'पद्मावत' की तरह इस कथा की भी कोई ऐतिहासिक या अर्ध–ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही होगी। किन्तु प्रायः सभी कथाकारों ने अपनी रचनाओं में भौगोलिक तत्व को निरूपित करने की चेष्टा की है और अपने समय के प्रसिद्ध स्थानों के साथ अपने पात्रों का सम्बन्ध जोड़ा है। इस प्रकार होने के सम्भावना की कल्पना 'मिरगावती' में भी की जा सकती है। भोग श्रृंगार तथा वीर रस से युक्त इस रचना की कथा का लिखित अथवा मौखिक रूप पहले अवश्व ही प्रचलित रहा होगा। ''बंगाल में 17वीं शताब्दी में रचित 'द्विज–पशुपति' की रचना 'चन्द्रावली' का कथानक नामों आदि के साधारण अन्तर को छोड़कर कुतुबन की मृगावती की एकदम समान है। इस रचना के कुछ प्रसंग 'कथा–सरित्सागर' की मृगावती कथा के अलम्बुषा अप्सरा सम्बन्धी प्रसंगों से भी मिलते हैं।''[4] उपर्युक्त दोनों रचनाओं का आधार तीसरी कोई लिखित या मौखिक परम्परा में प्रचलित कोई लोककथा हो सकती है। चंदायन के

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

कुछ अंशों का प्रभाव भी कुतुबन पर देखा जा सकता है। लोक साहित्य का विस्तृत भण्डार वस्तुतः इन प्रेमाख्यानकों के लिये प्रेरणा एवं सामग्री का मुख्य स्रोत रहा है। यहाँ सुखी गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के उपरान्त कुँवर की मृत्यु तथा दोनों रानियों सती होने में जैन चरित काव्यों की प्रसादात्त शैली का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है।[5]

यद्यपि कुतुबन ने काव्य रचना के लिये भारतीय लोकजीवन को उठाया लेकिन चिन्तन के क्षेत्र में उनकी विचारधारा सूफियों से जुड़ी रही हालांकि सूफी विचारधारा भी भारत में आकर यहाँ के जीवन में रच–बस कर एक नया स्वरूप ले लेती है और यहाँ की परिस्थिति अनुसार ढल जाती है। आचार्य शुक्ल जी इस सम्बन्ध में कहते हैं– ''इस कहानी के द्वारा कवि ने प्रेम के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच–बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुन्दर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास है।''[6] किन्तु इन तथाकथित आध्यात्मिक संकेतों के अतिरिक्त मृगावती की कहानी पूर्ण रूप से एक लोक कथा है। इसमें न तो कोई विशेष आध्यात्मिक संगति मिलती है और न ही इतिहास की विकृति। यह कथा प्रचलित भारतीय प्रेमकथा तथा लोक कथा के तत्वों के आधार पर रचित है। सूफी सिद्धान्तों की अपेक्षा इसमें मध्यकालीन निम्न एवं मध्यवर्ग में प्रचलित हठयोग, नाथपंथ तथा सिद्धमार्ग की क्रियाओं, चमत्कारों व सिद्धियों आदि की लोकधर्म परम्पराओं का अधिक प्रभाव प्रतीत होता है। कर्म–काण्डों से मुख मोड़ अखिल विश्व में व्याप्त उस शाश्वत तथा अमूर्त शक्ति की झलक सर्वत्र पाकर सूफी साधकों ने जो रहस्यपूर्ण अभिव्यक्ति उन्हीं के सामंजस्य का नाम सूफी मत है जो अन्तर्निहित भावना के सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक होते हुये भी मूलतः मुस्लिम सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। रहस्यवाद चाहे सूफी मत का हो या अद्वैतमत का दोनों के मूल में वही एक ईश्वर ही है। नाना रूपों में साधक अलग–अलग साधनों द्वारा उसी एक परम विभूति की साधना करते हैं।

कुतुबन मृगावती में अपनी प्रेमगाथा का आधार लेकर साधना पथ का भी आभास देते हैं। मानव जीवन का मूल प्रेम ही है। इसी की सत्ता वास्तविक जीवन की सत्ता है। प्रेम केवल सिद्ध प्राप्ति के लिये ही नहीं है अपितु सम्पूर्ण संसार इसी एक भाव पर टिका हुआ है अतः प्रेम करना जीवन की साधना है। मृगावती में लोक–तत्व का विशेष स्थान है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि लोक तत्व क्या है ? प्रत्येक देश की अपनी एक लोकसंस्कृति होती है। उसकी भौगोलिक सीमा में बिखरा विशाल जन–जीवन इस संस्कृति का निर्माता है। जब हम थोड़े से शिक्षित और सभ्य कहे जाने वाले लोगों पर उनके समुदायों में इस संस्कृति का दर्शन करना चाहते हैं तो प्रायः असफल होते हैं क्योंकि ऐसे लोग स्वयं जो सुसभ्य और सुसंस्कृत तो होते हैं, किन्तु सारे देश की संस्कृति के निर्माण में इनका स्थान नगण्य होता है। देश की असभ्य और असंस्कृत समझी जाने वाली जनता की तुलना में इनकी संख्या बहुत अल्प होती है। किसी भी देश की संस्कृति जिसे लोक संस्कृति कहते हैं– उन असभ्य और अशिक्षित समझे जाने वाले मनुष्यों के प्राणों का स्पन्दन होती है जो वहाँ की जनसंख्या का विशाल अंग होते हैं। इन्हीं तथाकथित अशिक्षितों और असभ्यों के सामयिक जीवन के विविध पहलू, सामाजिक और पारिवारिक जीवन के बहुरंगी चित्र अपनी अटूट परम्परा के कारण उन तत्वों का रूप धारण कर लेते हैं, जिन्हें लोक तत्व कहा जाता है और जिनके योग से लोक संस्कृति का निर्माण होता है।[7]

श्री सी0एस0 वर्न महोदय ने इनका स्पष्ट विवेचन करते हुये उसके क्षेत्र को बहुत विस्तृत बताया है। ''यह एक जाति बोधक शब्द की तरह चल निकला जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों उपेक्षित और असंस्कृत समुदायों के अवशिष्ट, विश्वास, रीति–रिवाज, कथाएं, गीत, लोकोक्तियां आती है। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध मानव स्वभाव तथा मनुष्य कृत पदार्थों के सम्बन्ध में भूत प्रेतों की दुनियाँ तथा उनके साथ मनुष्यों में जादू टोना, सम्मोहन वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य लोगों के विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। इसके अतिरिक्त विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति–रिवाज तथा अनुष्ठान और त्योहार, युद्ध, आखेट, व्यवसाय, पशुपालन आदि विषयों के रीति–रिवाज और अनुष्ठान भी इसके अन्तर्गत आते हैं। धर्म–कथाएँ, आख्यान, लोक–कथाएँ, वीर–गीत, प्रेम–गीत, किंवदन्तियाँ, पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय है। संक्षेप में

लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह सभी इसके क्षेत्र में है।''[8] इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकवार्ता का आधार लेकर चलने वाले इस प्रेमाख्यान में मनुष्य के आदिम विश्वासों और अनुभूतियों की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। लोकतत्व की यह अभिव्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हुयी है। मृगावती के कथानक के पीछे हिन्दू जीवन और सूफी मान्यताओं की एक परम्परागत पृष्ठभूमि है। ये जनसाधारण की परम्परागत विचारधाराओं और भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें जीवन के मानवतावादी मूल्यों का समावेश ओर सामान्य मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों का बहिर्स्पन्दन है। इसमें आया लोकतत्व केवल अतीत की ही वस्तु नहीं है अपितु इसमें वर्तमान जीवन की भी अस्पष्ट छाया है।

मृगावती ही नहीं समस्त प्रेमाख्यानों के पीछे लोकपरम्परा की ऐतिहासिक, सामूहिक विश्वासों की सामाजिक और लोक रंजन की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि होती है। उनमें एक ऐसी आन्तरिक शक्ति होती है जिनके बल पर वे युग–युगान्तर तक टिकी रह सकती हैं।

लोकवार्ताओं में इनकी आन्तरिक शक्ति (लोक–तत्व) के कारण प्रत्येक देश के साहित्य ने इसका उपयोग किया है। जब जब किसी साहित्यकार को जनता के निकट जाने की आवश्यकता पड़ी है, जब–जब उसने किसी प्रकार का धार्मिक, सामाजिक अथवा क्रान्तिकारी सन्देश देना चाहा है तब–तब उसने इन लोक–वार्ताओं का आश्रय लिया है। फिर कुतुबन अपने उद्देश्य की स्पष्ट सिद्धि के लिये इसका सहारा क्यों न लेते। परन्तु आज के पाठक जो शास्त्र के पण्डित अधिक होते हैं और लोक के कम को इस साहित्य के अध्ययन में कठिनाई होती है। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है– ''भारतीय धर्म साधना का अध्ययन बहुत जटिल और उलझा हुआ कार्य है। इसे सुचारू रूप से करने के लिये केवल लिखित साहित्य से काम नहीं चल सकता। लोक कथा मूर्ति और मन्दिर, साधुओं के विशेष–विशेष सम्प्रदाय, उनकी रीति–नीति, आचार–विचार, पूजा–अनुष्ठान आदि की जानकारी परम आवश्यक है।''[9] मृगावती का कथानक इन सब का आधार लेकर चला है जिसमें लोकवार्ताओं का महत्वपूर्ण स्थान है। कथानक घुमावदार है– कठिन न होते हुये भी समझना सहज नहीं है। मृगावती का कथानक प्रेम ओर धर्म एक साथ लेकर चला है जिसके लिये गहरी पैठ की आवश्यकता है।

कुतुबन जब मृगावती की रचना कर रहे थे उस समय पूरे देश में भक्ति–भावना के रूप में एक विशाल आन्दोलन चल रहा था, जिसे भक्ति आन्दोलन की संज्ञा दी गयी। भक्ति का यह व्यापक आन्दोलन धर्म का आश्रय लेकर चल रहा था। किन्तु इन्होंने (सूफियों की मान्यताओं के आधार पर) धर्म के इस स्वरूप को बदलने का प्रयास किया और धर्म के स्रोत से उद्भूत इस भक्ति आन्दोलन को शास्त्रीय ज्ञान से आगे बढ़ाकर भावना, अनुभूति और प्रेमोल्लास का रूप देने का प्रयास किया जिसके कारण कुतुबन की 'मृगावती' विभिन्न प्रकार के लोकतत्वों से अभिमण्डित है। यह लोकोन्मुख अधिक है और शास्त्रोन्मुख कम। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी कहा है कि कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर मध्ययुग का समस्त साहित्य वास्तविक लोक साहित्य है। द्विवेदी जी की यह उक्ति प्रेमाख्यानक साहित्य के लिये अधिक लागू होती है। कुतुबन ने अपने कथानक के निर्माण हेतु इन सभी तत्वों का खुलकर प्रयोग किया है। ताकि उनके माध्यम से अपनी विचारधारा, अपना दर्शन, अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकें। इसी कारण प्रेम में शारीरिकता से भी कतराना इन्हें पसंद नहीं आया। यहाँ तक कि कुतुबन ने कथा के लौकिक स्वरूप को ज्यों का त्यों रहने दिया और उसे अलौकिकता प्रदान करने का कोई विशेष प्रयास भी नहीं किया है।

लोककथाओं से होती हुयी कथानक–रूढ़ियाँ अपभ्रंश के आख्यान चरित काव्यों में प्रचुर मात्रा में आयी है और लोक कण्ठ की मौखिक परम्परा से ये हिन्दी आख्यानक काव्यों में भी समाविष्ट हुयी है। यह भी स्पष्ट है कि जिन आख्यानक काव्यों में ये रूढ़ियाँ जितनी अधिक मात्रा में आयी हैं उनका रूप उतना ही लौकिक हो गया है। इसी कारण मृगावती ऊपर से एक साहित्यिक, प्रेमोन्मुख तथा आध्यात्मिक छीटों से युक्त कृति होते हुये भी उसका आन्तरिक स्पन्दन लौकिक है। इसीलिये कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मृगावती का कथानक लोककथाओं के बहुत निकट है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कुतुबन ने परमात्मा और सृष्टि का सम्बन्ध चित्रकार और चित्र, सूर्य और किरण, उदधि और लहर के रूप में स्वीकार करते हुये स्थापित किया है। दोनों को एक नहीं मानते। ''मृगावती के कथानक में कहानी और कथाओं के आवरण में कथाकार जो चित्र उपस्थित करता उसमें से यदि अलौकिकता और असाधारणता के तत्वों पर ध्यान न दिया जाय तो वह तत्कालीन समाज को समझने का बेहतर माध्यम हो सकता है। मंझन ने अपने कथानक को अपने चारों ओर के जीवन से ही सजाया और सँवारा है। कुतुबन राजाश्रित थे इस कारण इन्हें तत्कालीन सामन्तवादी जीवन को अत्यन्त निकट से देखने सुनने का अवसर मिला, जिसका प्रभाव मृगावती पर भी स्पष्ट रूप से पड़ा। इसी कारण कथानक में सामाजिक और नागरिक जीवन के चित्रण में सामान्य जनता का चित्र अत्यल्प है। जोगी, यति आदि की चर्चा में उनकी वेश–भूषा का उल्लेख मात्र किया गया है। इन दिनों समाज पर गोरखपंथ का विशेष प्रभाव था जिसने कथानक को भी कई मोड़ दिये हैं। शाही शान–ओ–शौखत का यत्र–तत्र चित्रण हुआ है। छत्रपति राजा, राजा–रावों का संगठन, युद्ध की तैयारी, जंगल में शिकार, हाथियों का जुलूस, राजसभा में नृत्यसंगीत, अल्प समय में प्रसाद का निर्माण, दूतों द्वारा सन्देश प्रेषण, धाय माँ का सहयोग आदि सामन्ती जीवन की रूपरेखा उपस्थित करते हैं।''[10]

नियतिवाद और ईश्वर में अटूट विश्वास इस देश में अनन्तकाल से चला आ रहा है। कुतुबन ने भी अपने कथानक में सर्वत्र ईश्वरेच्छा को सर्वोपरि बताते हुये मनुष्य को उसके सहारे पर चलने वाला चित्रित किया है। अपने पात्रों को भी उन्होंने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये उसके शरण में जाते हुये दिखाया है।

मृगावती के कथानक द्वारा लेखक ने रसभरी बातें कही है जो सुनने–पढ़ने में प्रिय लगती है साथ ही गूढ़ार्थ भी है, जिनका समझना–बूझना उन्होंने अपने पाठक पर छोड़ दिया है। यह प्रेमाख्यानक सर्वप्रथम लौकिक प्रेमाख्यान है, फिर आध्यात्मिक जिसके प्रेम और धर्म पर लोकमानस का स्पष्ट प्रभाव है। सम्पूर्ण काव्य में प्रेम और आध्यात्म एकाकार हो गये हैं, जिसके कारण सम्पूर्ण काव्य गरिमामयी हो गया है।

lUnHk %

1. मृगावती, कुतुबन– सं0 माताप्रसाद गुप्त
2. भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा– परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 120
3. हिन्दी साहित्य– डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त, 1952, पृ0 265
4. हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान– परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 50–53
5. हिन्दी प्रेमाख्यान और पंजाबी के किस्सा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन– मैथिली प्रसाद, पृ0 19
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 94
7. पद्मावत में लोकतत्व– डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, पृ0 69
8. The Hand Book of Folklore 1914, द्वितीय संस्करण, पृ0 4 के आधार पर, डॉ. सत्येन्द्र द्वारा अनूदित।
9. मध्यकालीन धर्म साधना, आ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, प0 13
10. मिरगावती– डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ0 78–80

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

fgnh ukVdk e L=h&efDr

xkjo dekj tk;loky*

भारतीय समाज में स्त्री मुक्ति कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि यह एक लम्बी संघर्ष प्रक्रिया का परिणाम है। 19वीं सदी के सुधारवादी आन्दोलनों ने जहाँ पूरे देश में व्यापक जन–जागरण का कार्य किया, वहीं स्त्री मन पर भी इनका प्रभाव पड़ा। इन सुधारवादी आन्दोलनों ने 'स्त्री चेतना' को जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस सन्दर्भ में स्वाधीनता आन्दोलन को इस विकास–प्रक्रिया का महत्वपूर्ण बिन्दु माना जा सकता है। यद्यपि इस प्रक्रिया में आर्थिक स्वतंत्रता एक महत्वपूर्ण कारक है, तथापि सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि स्तरों पर प्राप्त स्वतंत्रता को भी नकारा नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में सुविख्यात लेखिका 'सीमोन द बोउवार' की यह बात सटीक जान पड़ती है कि–

''हमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि केवल आर्थिक स्थिति के बदलते ही स्त्री में पूर्ण परिवर्तन हो जाएगा। यद्यपि मानव विकास के क्रम में आर्थिक अवस्था एक आधारभूत तत्व है, जो व्यक्ति का नियंता है, किन्तु इसके बावजूद नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि अवस्थाओं में भी परिवर्तन की पूरी जरुरत है, जिनको बदले बिना नई स्त्री का आविर्भाव संभव नहीं होगा।''[1]

एक स्वाधीन स्त्री को संस्थाओं के अनेक रुपों से जूझना पड़ता है। राजनीति, समाज, परिवार, धर्म, संबंध आदि के साथ उसे खुद से भी संघर्ष करना पड़ता है और अपनी स्वनिर्मित छवि से भी। इस प्रकार संस्थाओं से टकराने, टूटने, अपमानित होने और अंततः उन्हीं के प्रति समर्पित हो जाने की स्त्री–नियति को स्वाधीनता से पूर्व के कई रचनाकारों ने चित्रित किया है।

जहाँ तक हिन्दी नाटकों का प्रश्न है, तो इनमें स्त्री–मुक्ति के पहले हस्ताक्षर के रुप में नज़र आते हैं– जयशंकर प्रसाद। प्रसाद के नाटकों में स्त्री–मुक्ति के विविध प्रसंग बिखरे पड़े हैं। उन्होंने अपने रचनाकर्म में 'स्त्री–प्रश्न' को पूरी शिद्दत के साथ उठाया। वास्तव में, पराधीन भारत में जन्म लेने के कारण उनका समस्त लेखन ही अपने युग के राजनैतिक पराभव और सांस्कृतिक ह्रास से उबरने का बौद्धिक प्रयास था। उनके नाटकों में स्त्री–जीवन के विविध आयाम दृष्टिगत होते हैं, जिनमें जहाँ एक ओर 'अलका' का स्वतंत्र मन है, तो दूसरी ओर है–'ध्रुवस्वामिनी'। ध्रुवदेवी ने न केवल अपने युग की स्त्री के मुक्तिकामी मन को साकार किया है बल्कि हिन्दी नाटकों में शायद पहली बार देह–राग के प्रश्न को भी उठायाः ''कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन! कितने संतोष से भरा था! जिस वायुहीन प्रदेश में उखड़ी हुई साँसों पर बंधन हो, अर्गला हो, वहाँ रहते–रहते जीवन असह्य हो गया था। तो भी मरुँगी नहीं !''[3]

अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि स्वाधीनता से पूर्व स्त्री–विमर्श स्त्री के आदर्श रूप को गढ़ रहा था और आदर्श क्योंकि युग–यथार्थ था अतः यह लाजिमी था कि स्त्री भी 'आदर्श' रुप में ही स्वीकार्य हो। ऐसे समय में 'स्त्री–संस्थानों के भीतर' स्वतंत्र होकर मानवीय गरिमा के साथ जीना चाहती थी। ध्यातव्य है कि वह संस्थानों में स्वतंत्र होना चाहती थी, संस्थानों से स्वतंत्र नहीं। हालांकि संस्थाओं से टकराने वाली स्त्रियाँ थी पर उन्होंने अपने कगारों को नहीं तोड़ा था।

आज़ादी के बाद 'स्त्री–स्वातंत्र्य' का दूसरा चरण शुरु हुआ। वस्तुतः स्वाधीन भारतीय स्त्री का मानस अनेक प्रकार के विरोधाभासों के बीच निर्मित हुआ। स्त्री के विकल्पों की दुनिया खुल गई, आर्थिक

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

स्वतंत्रता ने उसकी आकांक्षाओं को पंख दे दिए। औद्योगीकरण, शहरीकरण, मशीनीकरण और पूँजी के बढ़ते प्रभाव ने उसे जटिल और संश्लिष्ट चेतना वाला प्राणी बना दिया। नैतिकता, संयम, नियंत्रण आदि मूल्य अपना अर्थ खोने लगे और अस्सी के दशक तक आते–आते आदिम इच्छाएँ धीरे–धीरे जीवन के केन्द्र में आ गई।

सत्तर का दशक अनेक स्त्री–मुक्ति आंदोलनों का दशक रहा पर उत्तर आधुनिक समय की स्त्री के निर्माण में इसकी अहम भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। बदलते भारतीय परिवेश में महानगरों का विकास, एकल परिवारों का बढ़ता प्रभाव, वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं के दुर्निवार आकर्षण ने मिलकर एक ऐसी स्त्री का निर्माण किया जिसे हाशिए पर जीना और जीते चले जाना स्वीकार न था। उनकी इच्छा थी :

**ge rk yx lkj dk lkjk thouA
de l de okyh ckr u gel dfg,A**[4]

इस जटिल संरचना वाली स्त्री के अलग–अलग रुप हमें धर्मवीर भारती के बाद, मोहन राकेश के नाटकों में 'स्त्री–संदर्भ' की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावित करती है 'लहरों के राजहंस' की 'सुन्दरी' जो अपनी आज की कामना को कल तक स्थगित करने के लिए तैयार नहीं है। वह अपने स्वाभिमान की कीमत पर कुछ भी हासिल नहीं करना चाहती। इसलिए वह नंद को रोकना नहीं चाहती क्योंकि उन्हें रोकने की कोशिश उसकी दुर्बलता होगी। विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, गिरीश कर्नाड, भीष्म साहनी, रमेश बक्षी और सुरेन्द्र वर्मा आदि के नाटकों में भी स्त्री मुक्ति के प्रश्न मिलते हैं। इस संदर्भ में स्त्री–प्रतिरोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण कुछ नाटकों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

1974 में प्रकाशित सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में 'शीलवती' पूरी ईमानदारी के साथ अपनी आकांक्षाओं को स्वीकार करती है। वह कहती है–

''जब आत्मसंतोष की अंधी दौड़ हो–व्यक्तिगत सुख की खोज, तो जीवन बहुत जटिल होता है, ओक्का..... और उसकी माँगें उतनी ही उलझी हुई..... पूर्ति के लिए एक से अधिक व्यक्ति चाहिए.....किसी से समाज में स्थान, किसी से भौतिक सुविधाएँ, किसी से भावना की तृप्ति..... किसी से शरीर का सुख.. .....''[5]

इस प्रकार स्त्री धीरे–धीरे अपनी माँगों को लेकर क्रमशः आक्रामक और हिंसक होती गई। गिरीश कर्नाड के नाटक 'हयवदन' में भी देह–राग की स्वीकृति है और अपने ऊपर लगाए गए सभी बंधनों का निषेध। विजय तेन्दुलकर के नाटकों में 'बेबी' नारकीय जीवन स्थितियों में जीते हुए भी अपनी जीवनेच्छा और संघर्ष करने की अद्‌भुत सामर्थ्य से हमें विस्मित कर देती है।

स्त्री दृष्टि से महत्वपूर्ण एक अन्य नाटक है– भीष्म साहनी कृत 'माधवी', जो बिना किसी नारे या जुलूस के स्त्री–मुक्ति का उदाहरण बन जाती है और उपभोक्ता संस्कृति की देन 'उपयोग में आने वाली वस्तु' की तरह इस्तेमाल किए जाने पर खुद को गालव से स्वतंत्र कर लेती है। संसार बड़ा विशाल है गालव, उसमें निश्चय ही मेरे लिए कोई स्थान होगा मैंने अपनी भूमिका निभा दी।

इसी तर्ज पर ऊषा गांगुली की 'अंतर्यात्रा', त्रिपुरारी शर्मा की 'बहू' एवं नादिरा ज़हीर बब्बर की 'सकूबाई' आज की सचेत, सजग स्त्री के विविध आयामों को प्रस्तुत करते हैं।

उत्तर–समय वैचारिक जकड़बंदी से मुक्ति का समय है, ध्रुवीकरण के टूटने का समय है, अस्तित्व की, विचार की, समझ की परम बहुलता का समय है, प्रजातांत्रिक मूल्यों का समय है, जिसमें कम्प्यूटर से बने चित्र भी सृजन के दायरे में शुमार हैं। भारत में क्योंकि आधुनिकता रही है तो उसका उत्तर चरण भी होगा ही किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत में समय की अवधारणा बिलकुल अलग है। हमारे यहाँ तो एक समय में ही अनेक काल–खंडों के मनुष्य एक साथ जीते हैं उत्तर आधुनिक दृष्टि हमारे संदर्भ में कहीं न कहीं भारतीयता का पुनर्वास।

संसार का सबसे प्राकृतिक एवं सामाजिक रिश्ता है–स्त्री–पुरुष संबंध । स्त्री से पुरुष का संबंध कुछ वैसा ही है जैसा दलित का सवर्ण से और गुलाम का अपने मालिक से। एक ओर तो स्त्री पुरुष

की भर्त्सना करती है तो दूसरी ओर उसकी तरह बनने की कोशिश। अतः यह तय है कि जब तक स्त्री अपनी जैविक भिन्नता को हीनता न समझकर, अपनी विशेषता नहीं समझेगी 'स्त्री मुक्ति' पर हुई सारी बहस बेमानी होगी।

lUnHkZ %

1. सीमोन द बोउवार, द सेकेन्ड सेक्स (स्त्री उपेक्षिता नाम से प्रभा खेतान द्वारा अनुदित) हिन्द पॉकेट बुकस, दिल्ली (1992) पृ0 343
2. भीष्म साहनी, माधवी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित : 1999, पृ0 96
3. जयशंकर प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, पृ0ः 26
4. रघुवीर सहाय, सीढ़ियों पर धूप में, पृ0 : 109
5. सुरेन्द्र वर्मा, 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (1981) पृ0 55

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

xhfr&rÙo dh nf"V ls yksdxhrksa dk eY;kadu

fiz;adk xqIrk*

लोकगीत लोकमानस के स्नेह–प्रेम, दया, माया, ममता, हर्ष–विषाद, हास–परिहास, स्वप्न और आकाक्षओं की रागात्मक अभिव्यक्ति है। लोकगीतों में लोक–संवेगों की गन्ध प्राणों को जातीय स्मृति, देशाभिमान, संस्कृति का उज्ज्वल राग–रंग और ऐतिहासिक विवेक से तादात्म्य कराती हुई लोक–चेतना में रच–पच जाती है। लोकगीत लोकसाहित्य का प्राणभूत अंग है। लोकगीत शब्द अंग्रेजी के 'फोकसांग का पर्याय माना जाता है। यह 'फोकसांग' जर्मनी के 'बाल्क' शब्द का मूल रूपान्तरण है। जहाँ तक लोकगीत की परिभाषा का प्रश्न है, हम सामान्य रूप से कह सकते हैं कि लोक में प्रचलित और लोक द्वारा रचित गीत ही लोकगीत है, जिसकी सृष्टि अज्ञात होती है। लोकगीतकार अपने व्यक्तित्व को लोक–समर्पित कर देता है। मनुष्य के सुख–दुख, उमंग–उत्साह और आशा–निराशा को लोकगीत में देखा जा सकता है और उनको पूर्णरूपेण अनुभव किया जा सकता है।

लोकगीतों की जड़ें काफी गहरी हैं। सृष्टि में जीव–उत्पत्ति के साथ ही अबूझ विकृत आलाप मानव–मुख से निःसृत हुए होंगे जो कालान्तर में सुमधुर सुनाद करते हुए लोकगीत में परिणत हो गई। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान 'पॅरी' महोदय के अनुसार – 'यही आदि संगीत लोकगीत है।' (This spontaneous music has been called Folk Song)[1]

लोकगीत सुरीली सुबह की सुरम्य सुरभि से युक्त सुमन–राशि है जो अनन्त काल से लोक–संस्कृति को सुवासित करती आई है और निःसन्देह आगे भी करती रहेगी। पारिजात पुष्प की भाँति ये रूपहली सुनहरी मधुरिमा से युक्त ये लोकगीत, लोक की जीती–जागती सम्पत्ति है। लोकगीत उन वनफूलों की तरह है जो स्वच्छंद वातावरण में पल्लवित होते हैं। लोकगीतकार के मन में जो भाव अनायास आ जाते हैं उन्हें वह शब्दों में पिरो देता है। वह छन्दशास्त्र के नियमों में नहीं पड़ता। स्वच्छंद वातावरण में पनपे मीठे–मीठे लोकगीत भारत के गावों की देन है और हमारी अनमोल सम्पदा है।

लोक मनीषा के मूर्तरूप डॉ0 विद्यानिवास मिश्र ने लोकगीत के सन्दर्भ में लिखा है– 'लोकगीत मूलतः जीवन के अंगभूत है, वे न मनोरंजन के लिए, न गमगफलत करने के लिए हैं और न वैचारिक मंथन के लिए। उनका मूल प्रयोजन जीवन से ही जुड़ा व्यापार है, वह दैनंदिन श्रम का कार्य हो, खेती या व्यवसाय से जुड़ा कार्य हो, मांगलिक उत्सव हो या ऋतु–पर्व हो किसी न किसी के साथ उनकी लय मिली हुई है।'[2]

पाश्चात्य विचारक राल्फ विलियम के शब्दों में– "A Folk Song is neither new nor old, it is like a forest tree with its roots deeply buried in the past, but which continually puts forth new branches new leaves, new fruits"[3]

लोकगीतों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। मानव–जीवन के मूलभावों को सरलतम रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता इन लोकगीतों में निहित है। इनमें रसमयता एवं सरल सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। गेयता इनका प्रधान गुण है। लोकगीतों में सम्बन्धित क्षेत्र की सभ्यता, संस्कृति और परम्परा की सच्ची झाँकी प्राप्त होती है। इसमें भारतीय जीवन की अतरंग भावना प्रवाहित होती है और विभिन्न संस्कारों, ऋतुओं और त्योहारों से सम्बन्धित गीत लोकानुरंजन करने में सफल एवं समर्थ है।

xhfr&rRo dh nf"V ls yksdxhrksa dk eY;kadu & लोकगीतों का प्रवाह जीवन का प्रवाह है। वे किसी के रोके नहीं रूक सकते। लोकगीतों में काव्य और संगीत का मिश्रण होता है, किन्तु मार्मिक

---

*शोध छात्रा, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अनुभूतियों और सहज स्फूर्त होने के कारण ये शास्त्री संगीत से भिन्न होते हैं। लोकगीत में शास्त्रीय संगीत जैसा अलाप–तान, आरोह–अवरोह, ताल आदि नहीं होते हैं, इसे गाने, सुनने अथवा समझने के लिए विषय में निष्णात होना आवश्यक नहीं है– सहृदय भर होना पर्याप्त है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उनमें नरमाहट होती है, शास्त्रीय संगीत जैसी कठोर नियमबद्धता नहीं है। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि लोकगीत अनियंत्रित और विश्रृंखल ध्वनियों के समूह भर है। लोकगीतों में लय–गति, ताल सब कुछ होता है। लोकगीतों में सुर, लय एवं ताल के सम्मेलन पर हर्षोद्‌वेग, करूणा, प्रणय एवं गहन मानवीय भावनाओं की थिकरन को सरलतापूर्वक देखा जा सकता है।

लोकगीतों की गीति–तत्व की कसौटी पर कसने से पूर्व हमें गीतितत्व से परिचित होना आवश्यक है बाबू गुलाबराय जी ने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में गीत का लक्षण देते हुए लिखा है–

''संक्षेप में गीत के तत्व इस प्रकार हैं– संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमलकान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता, यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अन्तः प्रेरित (Spontaneous) होता है और इसी कारण इसमें कला के होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।''[4]

इसी प्रकार प्रसिद्ध विद्वान डॉ0 हरवंशलाल शर्मा ने अपने पुस्तक 'सूर और उनका साहित्य' में गीत के सन्दर्भ में लिखा है–

''हृदय की रागात्मिका–वृत्ति के योग से जब सुख और दुख की अनुभूति तीव्रतम होकर अनेक भावों की उमड़ती हुई धारा में समस्त पुरूषता और कलुसता का प्रक्षालन करती हुई अकस्मात् कल–कल ध्वनि से कवि के कण्ठ से फूट पड़ती है तो उसे गीत की संज्ञा प्राप्त हो जाती है।''[5]

इस विवेचन के आधार पर गीति के निम्न तत्व निरूपित किए जा सकते है–:1. रागात्मक अनुभूति अथवा भावप्रवणता, 2. अनुभूति की तन्मयता, 3. संगीतात्मकता, 4. प्रेम एवं सौन्दर्य की प्रधानता, 5. आत्मभिव्यंजकता, 6. भावगत एकरूपता

रागात्मक अनुभूति अथवा भाव–प्रवणता गीति तत्व की प्राणभूत विशिष्टता है। इन्ही तत्वों के आधार पर लोकगीतों को भी कुशलतापूर्वक व्याख्यायित किया जा सकता है। लोक–मानव के आकुल प्राण जब हर्षोल्लास से पुष्प के समान प्रस्फुटित हाते हैं अथवा जब अन्तर्वेदना या अन्तर्ज्वाला से झुलसने लगते हैं, तभी वह गा उठता है। उसकी वाणी अर्न्तवेदना का सम्बल लेकर फूट पड़ती है। उसके हर्ष, विवाद रूदन एवं हास्य को लोकगीतों में देखा जा सकता है– यथा :

Hkbl uk fcjjt dh ekjAA Vd@ dgok jfgrh] dk ge pxrh dgok djrh fdykyA@ eFkjk jfgrh] cnkou pxrh] xkdy djrh fdyky VdAA@ mM&mM- i[k fxjhr /kjrh i] churs txy fdlkjA@ mu i[ku ds edV cuk ds] cfUgrs uUn fdlkjA VdAA

लोकगीतकार अनुभूति की तन्मयता में चित्रकार बन जाता है। लोकगीतों में अनुभूतियों की इतनी गहनता होती है कि हमारे सामने उससे सम्बन्धित भावभूमि का पूरा का पूरा चित्र सजीव हो उठता है। यही लोकगीतों की सार्थकता और समर्थता का सबसे बड़ा कारण है, जहाँ अनुभूतियों का सौन्दर्य सशरीर प्रकट हो जाता है।

संगीतात्मकता लोकगीतों की प्रमुख विशेषता है। गीत–शैली हृदय की कोमल भावनाओं को व्यक्त करने के लिए नितान्त उपयुक्त है। यही कारण है कि प्राचीन गीतों में अधिकतर श्रृंगार, करूण और शान्त रसों की अभिव्यक्ति हुई है और वीर–रस के गीत कम मिलते हैं। वास्तव में लोकसंगीत ही शास्त्रीय संगीत की आधारशीला हैं लोकगीत का निर्माण स्वाभाविक है। लोकधुनों में ही राग छिपे होते हैं। पंडित ओंकारनाथ ठाकुर के अनुसार ''देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोकसंगीत है।''[6] लोकगीतों में स्वर रचना समय तथा प्रसंग के अनुकूल हुई है। गीतों के प्रकारों के साथ–साथ धुने भी भिन्न–भिन्न होती हैं। यह धुनें लयबद्ध होती है। विवाह के गीतों, द्वारपूजा एवं कन्यादान से पहले गीतों की लय, तालउत्साह से परिपूर्ण रहती है। किन्तु आधी रात के बाद गाये जाने वाले गीतों में लय शिथिल और करूण रस से भींगी हुई होती है। यह गीत अधिकतर बेटी की विदाई के अवसर पर गया जाता है जिसका नाद–सौन्दर्य दर्शनीय है :

tk jgh g nYgu tk jgh g nYgu@ lkFk mld ogk u dkb lgyh tk;xh@ n[kuk nYgk d ?kj nYgu vdyh tk;xh@vk x; yd pUnk dh Mkyh lktu&2

निर्गुण लोकगीतों का प्रकार काफी प्राचीन है। भोजपुरी के अलावा अन्य भाषाओं में भी निर्गुण पाये जाते हैं। यह भजन का ही एक प्रकार है। जिसमें एक ओर तो निर्गुण ब्रम्ह की उपासना होती है, वहीं दूसरी ओर जीवन का क्षण भंगुरता का वर्णन देखने को मिलती है। कबीर द्वारा रचित यह निर्गुण लोकप्रचलित है :

dou Bxok uxfj;k yVy gk@pUnu [kkV d cuy [kVkyuk]@rkij nfYgu lry gk@ pkj tu fey [kkV mBk;@pg fn'kh /k&/k mBy gkAA

हर्षोल्लास तथा श्रृंगार वर्णन में झूमर का प्रयोग होता है। इनमें लय सुन्दर द्रुत तथा भावानुकुल होती है। जॅतसार, रोपनी, निराई आदि गीत जिनमें वेदना की विवृत्ति की प्रमुखता है, स्वरों की गति शिथिल तथा लय करूणा रस में भीगीं हुई, उदास होती है।झूमर का एक उदाहरण प्रस्तुत है–

gkthij d gkV e gjkby gk] ekjk lku dh >yfu;kAA@lkl ekjh ekj unu xfj;koA@lb;k ekj ckl dh dbfu;k gkA@ lkl ekjh [kkt uun [kktokc]@ fi;k << uke d fulfu;k gkAA

भावोच्छ्वास की गहन विह्लता के साथ मद्मस्त प्रेम एवं सौन्दर्य की शाश्वत धारा विभिन्न भाषा के लोकगीतों में दर्शनीय है। गीत का सम्बन्ध ही प्रायः प्रेम एवं सौन्दर्य से होता है। नायिका के रसीले दोउ नैनों का चित्रण अत्यन्त भावभीना है–

lkly ifu;k dl tkÅ jlhy nkm uuk@vkMh pVd pufj;k /kj ym y tx xfj;k]@ NkVh uunh y ym lkFk jlhy nkm uukA

लोकगीतों में निरूपित प्रेम का चित्रण अत्यन्त भावपूर्ण है। कहीं–कहीं अलौकिक प्रेम की भी व्यंजना ध्वनित हुई है। जिसमें प्रिया ने प्रियतम के कर्म रूपी धागे से बनी चुनर को बड़े जतन से रखा है कि कहीं उसमें कोई दाग न लग जाए–

n[k pujh e ykx u nkx l[khAAVdAA@ b pujh fi;k vki cuk; ukfu djeok d uke l[kh]@yky jx e jxh pufj;k] ie fd ofj;k ykx l[khA@b pujh cM Hkkx l vk<] vkun vki [ky Hkkx l[khAAVdAA

दूसरी ओर सुहागरात के गीतों में श्रृंगारात्मक मिलन से ओत–प्रोत नायिका के सूक्ष्म मनोभावों को बड़ी सहजता और श्लीलता के साथ दर्शाया गया है–

vkt lgkx dh jkr pnk re m>gk@pnk re m>gk l: t er m>gk@ ekj fgjnk fcjl tfu tkb r ikg tfu QkVm@ vkt djg cfM jkfr pnk re m>gk@ / khj&/khj pfy ekjk l: t foye dfj vkbgkA

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने लोकगीत व्यक्त प्रेम एवं सौन्दर्य के सन्दर्भ में लिखा हैः– ''प्रणय गीतों में स्वस्थ सामाजिक रीति–नीति की परम्परा का प्रतिपादन है, इसलिए इनमें पतनोन्मुख अश्लील एवं घृणामय अमर्यादित संवेदना का बहिष्कार करके भारतीय गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण है। किन्तु यथार्थ चित्रण में सत्य की अभिव्यक्ति निर्भीक होकर हुई है। सृजनात्मक बोध द्वारा विश्व की कामना कितनी तीव्र हो सकती है, इसका पता लोकगीतों में डूबने से ही मिलता है। शाश्वत सौन्दर्य की अभिव्यंजना का बाहुल्य है।''

लोकगीतों में आत्माभिव्यंजन है। अन्तर्मुखी भाव साधन है। ये गीत एक भाव को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। उनमें सहज स्वाभाविकता है, क्योंकि वे प्रयत्न साध्य नहीं है। लोकगीतों में निहित अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकरूपता के सम्बन्ध में लक्ष्मीकान्त वर्मा जी का कथन अविस्मरणीय है–

''अनुभूति और अभिव्यक्ति में इतनी एकरूपता है कि उसमें सीधे चुभ जाने की क्षमता है। व्यंजना में इतनी मार्मिक संवेदना होती है, कि उनके प्रभाव के लिए मानसिक तर्क–वितर्क की आवश्यकता नहीं, वह सीधे ह्रदय में चुभ जाते हैं और उनपर अपने अनुकूल रस का बोध सहज ही करा देते है। लोकगीतों की रचना में कई बातों का प्रभाव पड़ता है; पहली बात तो यह कि विभिन्न गीतों में भावनाओं के साथ

अवसर और स्थान का ध्यान रखा गया है। जॉत के गीत, निरवाही के गीत, सोहर के गीत, सॉझ और भोर के गीत, मेले के गीत इन सबके स्वर, लय, गति, छन्द का अन्तर इनके शिल्पगत तत्वों को प्रभावित करता है। ग्राम्य गीत–प्रधान तत्वों से परिपूर्ण होते हैं, किन्तु इस गीतात्मक भावना में एक प्रकार की सामान्य भावनायें ही प्रदर्शित होती हैं, क्योंकि किसी न किसी रूप में प्रायः सभी गीतों की भावना ग्रामीण जीवन के व्यापक पहलुओं में मिलती–जुलती है। सास–ननद की प्रताड़तायें, पति का परदेश जाना, अथवा चूल्हा–चक्की के समय, जल भरने के समय की सामूहिक भावनायें समान होती हैं, इसलिए उनकी अन्तर्निहित मार्मिक संवेदनाओं का रस–बोध भी सबका समान होता है।''[8]

इन तथ्यों को हम उदाहरणों द्वारा पुष्ट कर सकते हैं–

dbl eu dVh Hkb;k dbl eu ihlhyk gks ukA@ Hkb;k dbjs eu jhUghyk jlkb;k gks ukA@ lkl| [kkph Hkj cklu etkcyh gks ukA@lkl| ifu;k ikrky ls Hkjkoyh gks ukA

लोक जीवन में पति का परदेश गमन एक नारी की सबसे बड़ी व्यथा–कथा होती है जिसे वह अपने अश्रुपूरित नेत्रों के साथ करूणा–विगलित आर्त स्वरों में निमज्जित करती है। उसकी दुख केवल उसका अपना दुख नहीं है। वह सम्पूर्ण नारी जाति की व्यथा–कथा है–

jkek xouk djkbl lb;kl ?kj cbBoyA
viu ,d xbys ijnslok gks jkek] gejkds NkfM+ dsAA

लोकनारी की वाणी से निःसृत ये लोकगीत लोकरंग में रंगे हुए हैं और समस्त नारी जाति की व्यथा को प्रतिबिम्बित करते हैं।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि लोकगीत गीति–तत्व के निकष पर पूर्णतया खरा उतरता है। रससिक्त सुरभि से युक्त ये लोकगीत उन सुकोमल वन्यप्रसूनों की भाँति है, जिनकी आदिम गंध से लोक–संस्कृति अनन्तकाल से सम्मोहित होती चली आई है। इस गीतों ने मानव को अपने सुर लय एवं ताल की त्रिवेणी पर थिरकने के लिए विवश कर दिया है। इनका प्रवाह शाश्वत है। ये लोकगीत लोक–वन के पावन लोक–पुष्प हैं, जो लोक संस्कृति के चरणों में सदा–सदा के लिए समर्पित है।

lUnHkZ%

1. डॉ0 सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'लोक का अवलोकन',आर्य प्रकाशन मण्डल दिल्ली, संस्करण प्रथम 2013, पृ0 31
2. डॉ0 विद्यानिवास मिश्र, 'चन्दन चौक' की भूमिका, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, 1989, पृ0 8
3. डॉ0 सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'लोक का अवलोकन', आर्य प्रकाशन मण्डल दिल्ली, संस्करण प्रथम 2013, पृ0 7
4. बाबू गुलाब राय, 'सिद्धान्त और अध्ययन', आत्माराम प्रकाशन दिल्ली, 1965, प्रथम संस्करण,पृ0 108
5. डॉ0 हरवंशलाल शर्मा, 'सूर और उनका साहित्य', भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़ षष्ठम् संस्करण 1995, पृ0 274
6. सीमा जौहरी, 'संगीतायन', राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013 पृ0 7
7. सं0 रामनाथ सुमन, सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक वि0 सम्वत् 2010, पृ0 273
8. सं0 रामनाथ सुमन, सम्मेलन पत्रिका, लोकसंस्कृति विशेषांक वि0 सम्वत् 2010पृ0 274

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

lkfgR; dk lokZifj mís';% ekuork vkSj uSfrdrk

ehjk*

साहित्य एक सृजनात्मक प्रक्रिया होती है, जिसका सृजन समकालीन जीवन और समाज में घटित घटना पर आधारित होता है। साहित्य से तात्पर्य प्रत्येक मानव प्राणी के हित की भावना से है। साहित्य के द्वारा साहित्यकार अपने अनुभव, विचार सुझाव देता है। साहित्य एक सूक्ष्म दृष्टि है, जिसके द्वारा समाज में छिपे किसी भी गूढ़ रहस्य को उभारा जा सकता है। साहित्य के द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाया जा सकता है। साहित्य और साहित्यकार का विचार एक क्रान्ति होती है, जिसमें शोषण अन्याय और अत्याचार का विरोध करने की अपार शक्ति होती है। साहित्य का सृजन भी इन्हीं मानवीय धरातल पर होता जैसा की रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि ''प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब है।'' मानवता और नैतिकता दोनों का पर्याय एक जैसा ही है, जैसा कि स्वच्छता और सफाई का, और स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का होता है। इन दोनों का अर्थ एक सिक्के के दो पहलू जैसा प्रतीत होता है। मानवता और नैतिकता दोनों अपने आप में व्यापक अर्थ ग्रहण किये हुए हैं। मानवता, करूणा, दया, त्याग, बलिदान, सहानुभूति, उदारता, तथा सहायता आदि गुणों से परिपूर्ण संवेदना को कहा जाता है, जिसके ह्रदय में ये गुण विद्यमान होते हैं, वहीं मनुष्य पूर्णरूप से मानव होता है, क्योंकि इन मानवीय गुणों के कारण ही मनुष्य की मनुष्यता विस्तार कर पाती हैं। इन आन्तरिक गुणों के बिना मनुष्य पशु के समान होता है, जिस व्यक्ति के भीतर मानवीय गुण विद्यमान होते है, वे बिल्कुल निःस्वार्थी व्यक्ति होता है।

नैतिकता भी मानवता के समान व्यापक अर्थ को ग्रहण किये हुए है, जहाँ तक देखा जाय तो नैतिकता का गूढ़ अर्थ न्याय सम्मत आचारण से लगाया जा सकता है, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण न हो तथा उसे कष्ट न पहुँचे नैतिकता को श्रेष्ठ आदर्श भी कहा जा सकता है– ''श्रेष्ठ कर्म अर्थात् नैतिक दृष्टि से शुभ कर्म वह होता है, जिसका परिणाम स्वयं कर्ता के लिए अथवा अधिकतम मनुष्यों के लिए सुखप्रद हों।''[1]

मनौवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो मानवता और नैतिकता का वैचारिक आधार मनुष्य की, भावना, सच्चाई, ईमानदारी, उदारता, आस्था, सहानुभूति एवं संवेदना जैसे उच्च मानवीय मूल्यों की पराकाष्ठा है, जो एक सार्थक जीवन तथा उच्च आदर्श का निर्माण करती है। जैसा कि डॉ0 देवराज ने लिखा है – ''समस्त सापेक्षताओं से परे कुछ ऐसे व्यवहार नियम हैं जिन्हें सार्वभौम नैतिकता कहा जा सकता है।''[2]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवता और नैतिकता स्वार्थ, झूठ और इस दिखावटी वैचारिक आवरण से दूर धरती और आसमान की तरह स्थायी सच्चाई रूपी धरातल है जिसको हर बाँधाओं के होते हुए भी हर व्यक्ति को कभी न कभी इसका एहसास जरूर होता है।

साहित्य के सन्दर्भ में नैतिकता और मानवता की सार्थकता इस बात में निहित है कि क्या आज साहित्य नैतिकता और मानवता का प्रचार–प्रसार कर रही है? इससे तो यहीं कहा जा सकता है कि साहित्य और साहित्यकार का उद्देश्य इस संसार में मार्गदर्शक की तरह है जो शोषित, पीड़ित जनता को जागरूक करता है उन्हें प्रेरित करता है। मनुष्य के जीवन के जिस भी पक्ष पर आज लेखनी चलाई जा

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रही है उसका एक मात्र लक्ष्य यही है कि पृथ्वी के किसी भी कोने में किसी भी प्राणि का किसी तरह से न किया जाय। साहित्य में स्त्री विमर्श, दलित, विमर्श ,अपने अधिकारों के लिए ही हो रहा है, जिसमें काफी हद तक सुधार तथा परिवर्तन हुआ है। साहित्य में नैतिकता तथा मानवता आन्तरिकता के साथ–साथ वाहय दृष्टि से भी एक सुवासित खुशबू की तरह है, जो एक दम अदृश्य है जिसे केवल एहसास, महसूस तथा समझा जा सकता है। जॉर्ज लुकाच ने खिा है कि ''मानवता या मानव–स्वभाव का आवेगमय अध्ययन समस्त साहित्य तथा कला के लिए सारभूत होता है, अच्छी कला और अच्छा साहित्य मनुष्य और मानवस्वभाव के वास्ताविक सारतत्व की जाँच पड़ताल करने के कारण ही नहीं बल्कि इसके साथ ही मानवीय गरिमा की; सारे आक्रमणों पतनों और विकृतियों से आवेगमय हिफाजत करने के कारण भी मानवतावादी होते है।[3]

साहित्य की अवधारणा मानवीय क्रिया–कलापों की अनुभूति करना है। अनुभव और यथार्थ की अभिव्यक्ति साहित्यकार मौलिक दृष्टि से साहित्य में करता है, जिसमें किसी समस्या का स्थायी समाधान तथा सार्थकता के साथ–साथ उच्चमार्ग दर्शन भी निहित होता है। साहित्य में नैतिकता तथा मानवता एक व्यावहारिक धरातल है जिसका आधार जीवन की सार्थकता में निहित है। मनुष्य को जीवन में अच्छे कर्म करना चाहिए, जो दूसरों के लिए भी व्यावहारिक तथा उपयोगी सिद्ध हो सके। ''हमारे व्यक्तित्व की उत्पत्ति हमारे विचारों में है, इसलिए ध्यान रखें कि आप क्या विचारतें हैं, शब्द गौण है, विचार मुख्य हैं और उनका असर दूर तक होता है।''[4]

नैतिकता और मानवता मनुष्य के अच्छे स्वभाव तथा संस्कार एवं परहित की भावना से ओत–प्रोत होती है जिसका उद्देश्य हमेशा कुछ अच्छा करना, सोचना, तथा भटके हुए व्यक्ति को मार्गदर्शन करना है। विचारों तथा सोच को विस्तार तभी मिलता है जब व्यक्ति संकुचित भावों से बाहर निकलकर सोचता है। इन सभी विचारों को विस्तार एक सच्चा साहित्यकार ही दे सकता है, क्योंकि लेखक समाज का सच्चा द्रष्टा होता है, और अपने विचारों के माध्यम से व्यक्ति तथा समाज की सोच को बदल सकता है। आज का साहित्य आदर्श पर नहीं बल्कि यथार्थ पर आधारित है क्योंकि जहाँ यथार्थ होता है वास्तविक परिस्थिति तथा विचार की पहचान होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव सब प्राणियों में श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है और मानव जीवन की सार्थकता मानवीय गुणों तथा सदाचार से होता है। नैतिकता और मानवता के सन्दर्भ में साहित्य की अहम भूमिका होती है, क्योंकि साहित्य अनेक भाषाओं में लिखा जा रहा है, जिसका लक्ष्य केवल उच्च आदर्श मानवता, आस्था, सत्यता आदि जैसे भावों तथा विचारों को विकसित करना है। मानवता तथा नैतिकता का मनौवैज्ञानिक दृष्टि से मूल आधार भावनात्मक है और भावना नैसर्गिक होती है, जिसके द्वारा मनुष्य तथा समाज में नयी सोच, नयी दृष्टि तथा आदर्शों का निर्माण होता है। इसलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। जिससे समाज का हर पक्ष उभर कर सामने आ जाता है, और उससे नयी सीख लेकर व्यक्ति तथा समाज अपनी निराश जिन्दगी को सार्थक तथा सफल बनाने का प्रयास करता है।

lUnHkZ %

1. दर्शन : स्वरूप, समस्याएँ तथा जीवन दृष्टि–डॉ0 देवराज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृष्ठ–106
2. वहीं, पृष्ठ–110
3. कार्ल मार्क्स : कला और साहित्य चिंतन सं0 डॉ0 नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ– 37
4. विवेकानन्द का शैक्षिक दर्शन, महेश शर्मा, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली 110002

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

ekphjke dfork % dfo /kfeYk

iadt dqekj*

'संसद से सड़क तक' कविता संग्रह में कवि धूमिल की 'मोचीराम' एक लम्बी कविता है। मोचीराम इस कविता का प्रमुख पात्र है, जिसमें उसका चारित्रिक वैशिष्टता को उजागर किया गया है। मोचीराम पेशे से मोची व विशिष्ट चरित्र का सामान्य व्यक्ति है, जैसा कि हम जानते हैं मोची पेशे का व्यक्ति जब किसी ग्राहक से खुलता है तो खुलकर बातें करता है और जब उसे विश्वास हो जाता है कि सामने वाला व्यक्ति उसकी बात को ध्यान से सुन रहा है तो वह अपनी राँपी (पेशे का साधन) से आँखे उठाकर उसकी तरफ देखकर समझकर फिर हँसते हुए बोलते जाता है। सामान्य बात से लेकर गहरे अनुभवजन्य बातों का एकालाप करता है। यथा–

^^jkih ls mBh gbl vk[k u e>s
{k.k Òj VV¨Ykk
v©j fQj
tSls ifr;krs gq, Loj es
og gls rs gq, c¨Ykk**[1]

कवि 'मोचीराम कविता' में मोची के सामने खड़ा है। आज मोची भी सामान्य व्यक्ति (कवि) को पाकर अपनी बात कहना शुरू किया, क्योंकि आज उसकी बात को सुनने के लिए उस जैसा व्यक्ति उसके सामने खड़ा है। जिससे वह अपना अनुभव और आज की सच्चाई को कहता है। मेरी दुकान पर सभी लोग एक समान है। यहाँ न कोई गरीब ग्राहक न कोई धनी ग्राहक बल्कि एक जोड़ी जूता ही आते हैं, और मैं अपने पेशे में तल्लीन होकर उनकी मरम्मत करता हूँ। मेरे यहाँ आने वाले कोई ग्राहक जूते की नाप से बाहर नहीं है। लेकिन मेरे ध्यान में पेशे और जूते के बीच में पड़े खाली जगह में एक अदद आदमी है जिस पर मैं टाँके लगाता हूँ। हमारे यहाँ हर तरह के जूते आते हैं, सबकी अपनी–अपनी नाप व समस्या है जो मुझे बतलाते हैं। लेकिन मेरे लिए वह एक साधारण जूता है। यथा–

''ckcw th! lp dgw& esjh fuxkg es
u d¨bZ N¨Vk gS
u d¨bZ cM+k gS
esjs fYk,] gj vkneh ,d t¨Mh tqrk gS
t¨ esjs lkeus
ejEer ds fYk, [kM+k gS**[2]

कवि धूमिल का प्रयास है कि मोचीराम जैसे पात्र के चरित्र को समाज में लाना है जिससे ऊँच–नीच की खाँई को पाटा जा सके। सामाजिक कुरीतियों को समाप्त किया जा सके। कवि के एक जोड़ी जूते के रूप में शोषक व शोषित सभी आ जाते हैं। कविता के इसी बिन्दु पर मोचीराम व कवि दोनों में तादात्म्य की स्थिति बन जाती है। दोनों की नजर में आदमी को ठीक करने की पहल है। इसलिए मोचीराम पेशे से ही समाज को सुधारने का प्रयास करता है और कवि अपनी कविता से दोनों के केन्द्र में मनुष्य ही है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005।

कवि मोचीराम कविता में जब जूते की हालत एकदम खराब हो गयी तो मोची कहता है कि इस पर पैसे क्यों फूकते हो? तो भी वे नहीं मानते और मेरे जाति पर थूकते हैं तो मैं विवश होकर जूतों में चकतियों की जगह जैसे– आँखे ही टाँकता हूँ, और पेशे के कारण उस मुश्किल से फटे जूते की सिलाई कर पहनने योग्य बनाता हूँ। कवि धूमिल 'मोची' के पेशे से समाज को बताना चाहते हैं कि आज की व्यवस्था फट गयी है। आज के योग्य यह व्यवस्था नहीं है। फिर भी समाज इसी व्यवस्था में चकतियों की थैली लगाकर काम चलाना चाहता है। तब बताओ प्रशासनिक व अन्य व्यवस्थायें क्या करें? यथा–

^^ckcw th! bl ij iSl
D;¨a Qwdrs g¨\
eSa dguk pkgrk gw¡
exj esjh vkokt YkM[kM+k jgh gS
eSa egl wl djrk gw¡&Òhrj ls
,d vkokt vkrh gS& dSls vkneh g¨**[3]

मोचीराम कविता में कवि धूमिल शोषित व शोषक दोनों के प्रति कवि मोचीराम पात्र से समाज को संदेश देना चाहते हैं कि व्यक्ति समाज में मानवीयता को बचाये रखकर अर्थोपार्जन करे न कि रामनामी बेचकर या रण्डियों की दलाली करके कवि की पंक्तियों से समाज में अमानवीयता पर करारा व्यंग्य कसा गया है। जो लोग जिन्दा रहने के लिए मानवीयता को खत्म करते हैं उनसे बुरा संसार में कोई नहीं है। सभी के अपने–अपने कर्म निर्धारित हैं, जूते की सिलाई करने वाले रण्डियों की दलाली क्यों करे? उन्हें जूते की सिलाई से भी अच्छा काम करने के बारे में सोचना चाहिए क्योंकि वे मानवीयता को निःसार करके रोजी कमाने के बारे में सोचते है अगर वे ऐसा करते है तो निश्चित ही अमानवीयता के समूह में ही मिलकर उन्हें बढ़ावा देते हैं और समाज की सम्मानित भाषा से कट जाते हैं, जिससे उन्हें प्रतिक्षण जनसमुदाय मौसम के बदलने की तरह सताने लगती है। यथा–

^^v©j ckcw th! vlYk ckr r¨ ;g gS fd ftUnk jgus ds ihNs
vxj lgh rdZ ugÈ gS
r¨ jkeukeh cspdj ;k jf.M;¨ dh
nYkkYkh djds j¨th dekus esa
d¨bZ QdZ ugÈ gS
v©j ;gh og txg gS tgk¡ gj vkneh
viusa i's¨ ls NwVdj
ÒhM+ dk Vedrk gqvk fgLlk cu tkrk gS**[4]

कवि धूमिल व्यवस्था के प्रति चुप्पी व चीख दोनों को व्यवस्था के प्रति आमूल परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं। चुप्पी व चीख के बीच में ही हल्की मुस्कराहट होती है। जिसका सीधा मतलब हाँ और नहीं दोनों में ही होता है। चुप्पी व्यवस्था के रणनीति व मंथन के संकेत व चीख व्यवस्था के प्रति अमानवीय व्यवस्था को खत्म करने के संकेत हैं। समकालीन चेतना के व्यक्ति में दोनों गुण होने चाहिए जिससे एक सुदृढ़ व्यवस्था की नींव पड़ सके। कवि धूमिल की दृष्टि में किताबी अनुभव के आधार पर कविता रचना व राष्ट्र की व्यवस्था को सही करना, स्वभाव के विरूद्ध था। ध्यान रहे कवि की कविता में राष्ट्र विकास व सुदृढ़ व्यवस्था के लिए किताबी न होकर तत्कालीन व्यवस्था के असहाय पात्रों व समयानुकूल पात्रों को लेकर उन्हीं की भाषा में ही व्यवस्था सुधारने की बात करते हैं। कवि की आम–आदमी के प्रति सहजता व सजगता दोनों ही रहता है। पूँजीपति, आर्थिक व्यवस्था के द्वारा एक दूसरे में वर्गभेद पैदा कर अमानवीय बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। कवि अव्यवस्था का विरोध चाहता है। चाहे व चीख से हो या चुप्पी से तभी मानवीयता का समुचित विकास व राष्ट्र का विकास हो सकेगा। यथा–

^^tcfd eSa tkurk gw¡ fd ^budkj ls Òjh gqbZ ,d ph[k*
v©j ^,d le>nkj pqi*

n¨u¨a dk erYkc ,d gS&
Òfo"; x<+us esa ^pqi* v©j ^ph[k*
viuh&viuh txg ,d gh fdLe ls
viuk&viuk Q+tZ vnk djrs gSa**[5]

कवि व्यवस्था को ठीक करने के लिए सबसे प्रमुख कारक के रूप में भाषा को मानते हैं। भाषा से ही राष्ट्र की व्यवस्था को ठीक किया जा सकता है। जो पेशा और भाषा पर किसी जाति विशेष का अधिकार समझते हैं वे भूल करते हैं, क्योंकि सच्चाई सबको जलाती है। वह किसी भाषा या जाति से न तो बँधी है न तो बाँधी जा सकती है। इसलिए सच्चाई से सच्ची व्यवस्था का निर्माण हो जिससे राष्ट्र व समाज, व्यक्ति में सच्चाई की खुशबू आ सके।

अतः कहा जा सकता है कि व्यक्ति राष्ट्र व समाज के लिए, समुचित विकास के लिए किसी विशेष वर्ग या विशेष भाषा की जरूरत नहीं है। 'मोचीराम' जैसा भाषा पर अधिकार रखने वाला व्यक्ति भी सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण कर सकता है। मोचीराम एक ही दृष्टि से सभी को देखता है उसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की तरह है। ऐसी सोच से व्यक्ति व राष्ट्र दोनों को विकास की गति मिलेगी जो अनवरत आगे ही बढ़ती रहेगी।

lUnHkZ %

1. संसद से सड़क तक – धूमिल, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पहली आवृत्ति–2009, पृ0 37
2. वहीं, पृ0 37
3. वहीं, पृ0 38
4. वहीं, पृ0 40
5. वहीं, पृ0 41–42

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

nekg ftys ds i|jkrkfÙod lk{; % ,d fo'ys"k.k

mes'k pUn ik.Ms;*

दमोह जिला मध्यप्रदेश में स्थित है। 1861 में मध्य प्रान्त के गठन के परिणामस्वरूप दमोह जिला सागर संभाग के स्थान पर जबलपुर संभाग में रखा गया। 1 अक्टूबर 1931 को आर्थिक मितव्ययिता की दृष्टि से दमोह जिला सागर जिला में मिला दिया गया। 31 अक्टूबर, 1956 को दमोह पुनः एक पृथक् जिला बना दिया गया।[1]

दमोह क्षेत्र की प्रमुख नदियों, सुनार, व्यारमा तथा कोपरा और सहायक नदियों से प्रागैतिहासिककालीन उपकरणों की प्राप्ति हुई है।[2] दमोह क्षेत्र विन्ध्याचल पर्वत पर स्थिति होने के कारण यहाँ की प्रागैतिहासिक सभ्यता बहुत कुछ विन्ध्याचल के अन्य स्थलों से साम्य रखती है। दमोह जिले का ढाल उत्तर में होने के कारण इस क्षेत्र की नदियों का बहाव भी उत्तर की ओर है। वे यमुना में मिलती है। यमुना नदी का बहाव क्षेत्र दमोह से अपेक्षाकृत दूर है जबकि नर्मदा यहाँ से 160 किलोमीटर की दूरी पर है।

इस क्षेत्र में विन्ध्य शिलाओं के अतिरिक्त ट्रेप एवं लमेटा की चट्टानें प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त विजावर और ग्रेनाइट की चट्टाने भी कहीं–कहीं उभरी हुई है।

सिगरामपुर घाटी (दमोह के दक्षिण–पूर्व में 52.8 कि.मी.) की सतही मिट्टी में 1866 में पाये गये कुछ पाषाण–युगीन शिल्प तथ्यों से इस जिले में प्रागैतिहासिक काल के पुरापाषाणकालीन मानव के अस्तित्व का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।[2] डब्लू. एल. विल्सन ने 1868 में तथा जे. कांगिन ब्राउन ने 1917 में इस क्षेत्र में प्रागैतिहासिक खोज का श्रेय है। पाषाण उपकरणों की प्राप्ति इसके पश्चात् भी छुट–पुट मिलते रहे।[3] सोनार, कोपरा तथा व्यारमा नदियों में की गयी पुरातत्वीय खोजों से इसकी पुष्टि होती है, जिनमें आरंभिक मध्य तथा उत्तर पाषाणकालीन औजार प्रचुर मात्रा में पाये गये है।[4] इन उपकरणों में कुल्हाड़िया, विदारक, खुरचनी, शल्क क्रोड शामिल है।

प्रारुप विज्ञान की दृष्टि से इन औजारो को एबेविलियन से लेकर मध्य एशुलीएन अवस्थाओं तक के औजारों से भिन्न माना गया है।[5] इनमें से अधिकांश औजार स्फटिक से निर्मित है। कुछ अन्य औजार आकार में छोटे है और इनकी तुलना उन औजारों से की जा सकती है, जिन्हे एच.डी. सांकलिया ने सीरीज बी का औजार कहा है।[6] ये औजार चर्ट, जैस्पर और सम्बद्ध सिलिकायुक्त सामग्री से निर्मित है।[7]

fuEu i|jkik"kk.k dky %

दमोह क्षेत्र में इस युग के औजार सुनार, व्यारमा, कोपरा आदि नदी–घाटियों से प्राप्त हुए है। सुनार घाटी में असलाना, नरसिंहगढ़, हाटत, मड़ियादो, कोपरा नदी घाटी में बांसा, ककरा तथा ब्यारमा नदी घाटी में तारादेही, गैसाबाद से उपकरण प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त संग्रामपुर, कोजीखेरा, करियाखेरा आदि स्थानों से भी अनेक निम्नपुरापाषाणिक उपकरण प्राप्त हुए है।[8] दमोह जिले से प्राप्त औजारों में हस्तकुठार (हैण्डएक्स), विदारक (क्लीबर), खुरचनी (स्कैपर्स) नुकीले औजार (प्वाइन्टेड टूल्स) आदि प्रमुख है।

e/; i|jkik"kk.k dky %

दमोह जिले में पाये गये मध्य पुरापाषाणकालीन उपकरण प्रायः चर्ट पर निर्मित हैं। चाल्सीडोनी और जैस्पर पर बने उपकरणों की संख्या कम है। उपकरणों की ऊपरी सतह पर पुनर्गठन है जबकि निचली सतह पर काट–छांट के प्रमाण नहीं है।

*शोधार्थी, प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरातत्त्व विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर

mPp ijkik"kk.k dky %

भारत में उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृति के तिथि सम्बन्धी प्रमाण अलग–अलग क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न है। कृष्णा और गोदावरी नदी घाटी में यह तिथि चालीस हजार से लेकर बीस हजार वर्ष पूर्व, इनामगांव में बीस हजार से लेकर 10 हजार वर्ष पूर्व, कुरलूगुफा (आन्ध्रप्रदेश) में तीस हजार से लेकर दस हजार वर्ष पूर्व इसकी तिथि निर्धारित की गयी है। उच्चपुरापाषाण काल का प्रारंभ तीस हजार ईसा पूर्व तथा अन्त दस हजार ईसा पूर्व माना जा सकता है।

शवों को गुफाओं के फर्श में दफनाने की प्रथा यद्यपि मध्यपुरापाषाण काल में प्रचलित हो गया था, तथापि उच्चपुरापाषाण काल में यह प्रथा अधिक प्रचलित रही। इस काल में मृतकों के साथ उपकरण, आभूषण और खाद्य पदार्थ भी रखे जाते थे। हड्डी और श्रृंग के उपकरणों में बाणफलक, छुरा, खुरचनी, छैनी और हड्डी तोड़ने का उपकरण प्रमुख है।

दमोह जिले में प्राप्त उच्च पुरापाषाण युगीन उपकरणों की संख्या नगण्य है। ब्लेड सर्वाधिक प्राप्त हुए है। तक्षणी की संख्या बहुत कम है।

e/; ik"kk.k dky %

दमोह जिले से मध्यपाषाण कालीन उपकरण मुख्य रूप से कोपरा तथा इसकी सहायक बेवस नदी से प्राप्त हुए है। ये उपकरण मुख्यतः नदी तल में बिखरे रूप में प्राप्त हुए है। ये चाल्सीडोनी तथा भूरे या लालिमायुक्त चर्ट पत्थरों पर बने है। इनमें अधिकांश अधिक कोणीय, सामान्य आधार मंच तथा सपाट निचली सतह के हैं। कुछ उपकरणों को बेधनी के रूप में परिवर्तित किया गया है। इस काल के उपकरणों में खुरचनी अधिकांश प्राप्त होते है। बेधनी शल्क और उपखण्ड दोनों पर बने हुए प्राप्त होते है। यहाँ पर फलक अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्राप्त हुए है। ये सामान्यतः मोटे और लम्बाई में छोटे है। ये त्रिभुजाकार, अण्डाकार एवं वर्गाकार है। प्राप्त क्रोडों को सम्भवतः गंडासे के रूप में अथवा हथौड़ों के रूप में प्रयोग किया गया होगा।

दमोह जिले में उत्तर पाषाणकालीन उपकरणों की प्राप्ति गौरैया, जूड़ी और कोपरा नदियों के तट पर हुई है। ये उपकरण नदी के जमाव से सम्बन्धित न होने के कारण सतह से प्राप्त हुई है। बड़ी मात्रा में इनकी प्राप्ति फतेहपुर मामाझिरना के शैलाश्रयों से हुई है। इन उपकरणों के निर्माण में मुख्यतया चैल्सीडोनी, जैस्पर आदि पत्थरों का प्रयोग किया गया है। ये उपकरण यूरोपीय मध्य पाषाणकाल से सम्बन्धित है और इनमें ब्लेड की प्रधानता है। ज्यामितीय उपकरणों में ल्यूनेट, ट्रैपीज ट्रेगल आदि बहुत थोड़ी मात्रा में प्राप्त हुए है। उपकरणों के साथ क्रोड़ एवं शल्क भी प्राप्त है। ये उपकरण मनुष्य की बदलती हुई स्थिति को प्रमाणिक करते हैं।

uoik"kk.k dky %

नवपाषाण कालीन सभ्यता यमुना के दक्षिण–पश्चिम मध्य भारत के चम्बल, सोन, टोंस नदी घाटी के अतिरिक्त एरण, पथरिया, त्रिपुरी आदि में विकसित थी।[9] इस सभ्यता के उपकरण दमोह तथा हटा से भी प्राप्त हुए है।

'kSykJ; rFkk 'kSyfp= %

प्रागैतिहासिक तथा उसके बाद आद्यातिहासिक युग में आदिमानव गुफाओं में रहता था। शैलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी–कभी भीतरी छतों और दीवालों पर अनेक रोचक चित्र बनाते थे। शैलचित्रों का भारत में सबसे अधिक प्रमाण मध्यप्रदेश से प्राप्त हुआ है। मन्दसौर, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, रीवा, सीधी, अम्बिकापुर, झांगर आदि से मिले है।[10] इसके अतिरिक्त विवेच्य क्षेत्र से सम्बन्धित सागर, जबलपुर, नरसिंहपुर, पन्ना जिलों के अनेक स्थानों से इन आदिम जनों के निवास के अवशेष प्राप्त हुए है।

दमोह जिला विन्ध्य पर्वत की श्रेणियों से आच्छादित है। इसमें आवास योग्य अनेक शिलाश्रय उपलब्ध है। दमोह जिले के गुहचित्रों का प्रारंभिक सर्वेक्षण डॉ. हीरालाल ने किया। उन्होने फतेहपुर नामक स्थान से प्राप्त शैलचित्रों के बारे में बताया। इसके अतिरिक्त दमोह जिले में खड़ेरी, बटियागढ़, आंजनीबेरखेरी, सिलापुरी, जोगीदण्ड, नोपाट, कन्सा में शैलचित्र प्राप्त हुए है।

इन शैलचित्रों द्वारा प्रागैतिहासिक मानव जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। आखेट विधि, अग्निपूजा, अस्त्र–शस्त्र, वेश–भूषा धार्मिक विश्वास, पशु–पक्षी इत्यादि के स्वरूप की जानकारी उपलब्ध होती है।

फतेहपुर से प्राप्त सभी शैलचित्रों का रंग लाल एवं सफेद है। सामान्यतया यहाँ पर वेदिका, आखेट, अश्वारोहण तथा सामूहिक वादन और नृत्यों का अंकन है।

बटियागढ़ से प्राप्त शैल चित्र लाल गेरुए रंग से चित्रित है। इनका निर्माण रेखांकन, अर्द्धपूरक और पूरक शैलियों में किया गया है। यहाँ के अधिकांश वर्ण्य विषय आखेटक, युद्ध आदि के दृश्यों से सम्बन्धित है।[11]

बटियागढ़ से 7 कि.मी. दूर उत्तर–पूर्व में स्थित आंजनीबेरखेरी है, जिसके शैलचित्र गांव से 4 कि.मी. दूर सघन जंगल में प्राप्त हुए। स्थानीय लोग उस स्थल को पुतरा–पुतरियों का भरका नाम से पुकारते है। यहाँ से प्राप्त शैलचित्रों में सफेद और लाल गेरुए रंग का प्रयोग किया गया है। चित्रों में आखेट, युद्ध अश्वारोहण और नृत्य का दृश्य है।

वर्ण्य विषय तथा कला की दृष्टि से उक्त सभी स्थलों से उपलब्ध भित्ति चित्र ऐतिहासिक काल के प्रतीत होते है।

ikjfHkd bfrgkl

ofnd ;qx %

दमोह जिला प्राचीन 'चेदि' जनपद के अंतर्गत है।[12] इस क्षेत्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद की एक दानस्तुति में 'चेदि' देश के निवासियों के साथ वहाँ के राजा 'कसुचैद्य' का उल्लेख है।[13] प्रो. रैप्सन ने इस 'कसुचैद्य' को महाभारत में वर्णित 'वसु' से समीकृत किया है।[14] परवर्ती वैदिक साहित्य में 'चेदि' का कोई उल्लेख नही मिलता। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'चेदि' देश का उल्लेख वत्स जनपद के समीपस्थ जनपदों के साथ किया है।

egkdkO; dky %

रामायण–काल के बुन्देलखण्ड, जिसमें दमोह जिला शामिल था, सम्भवतः दण्डकारण्य का भाग था। कुछ विद्वान यह विश्वास करते है कि चित्रकूट से पंचवटी जाते समय राम सागर और दमोह होते हुए गये थे।

महाभारत 'चेदि जनपद'[15] तथा उसके इतिहास पर विस्तृत प्रकाश डालता है। इस ग्रन्थ में 'चेदि' को कुरु, पांचाल, मत्स्य आदि जनपदों के साथ रखा गया है। इस काल में 'चेदि' की गणना प्रमुख जनपदों में की जाती थी। इस महाकाव्य के अनुसार पौरव के पुत्र राजा वसु को इन्द्र ने पृथ्वी के अत्यन्त एवं मनोहर 'चेदि' प्रदेश पर विजय प्राप्त करने को कहा। इन्द्र का आदेश मानकर वसु ने इस प्रदेश को जीतकर और पड़ोसी देशों तक अपनी प्रभुसत्ता का विस्तार कर विभिन्न राज्यों में अपने पुत्रों का राज्याभिषेक कर दिया।

राजा बृहन्मना की पत्नियाँ यशोदेवी एवं सत्या चेदि नरेश की पुत्रियाँ थी। सत्या से उत्पन्न पुत्र विजय का वंशज सूत अधिरथ हुआ। जिसने कर्ण का पालन–पोषण किया।[16]

आगे चलकर 'दमघोष'[17] नाम का एक राजा हुआ, जो शिशुपाल का पिता था। कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध[18] के बाद उसका पुत्र धृष्टकेतु चेदि[19] देश का शासक हुआ। श्रीमद्भागवत महापुराण में भी रुकमणी के विवाह के सन्दर्भ में चेदि का वर्णन मिलता है।[20] महाभारत के युद्ध में चेदि नरेश धृष्टकेतु ने पाण्डवों का साथ दिया।

iqjk.k %

पुराणों में चेदि के अनेक उल्लेख मिलते है। जिसके अनुसार विदर्भ के पौत्र और केशिक के पुत्र चेदि ने यमुना के दक्षिण में चैद्य वंश की स्थापना की।

ckS) lkfgR; %

बौद्ध साहित्य में 'चेदि' जनपद का नाम सोलह महाजनपदों के अंतर्गत रखा गया है।[21] वैदम्भ जातक, अंगुत्तरनिकाय, संयुक्त निकाय और दीपनिकाय में चेदि शासकों की संक्षिप्त वंशावली का वर्णन है।

बौद्ध साहित्य की भांति जैन साहित्य में भी चेदि का उल्लेख सोलह महाजनपदों की नामावली में किया गया है। महापुराण से ज्ञात होता है कि 'वृषभदेव' ने चेदि में भ्रमण कर उपदेश दिये थे।

ek;dky %

ईसा पूर्व चतुर्थ शती के अन्तिम चरण में भारत के इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ तथा टुकड़ों में विभक्त देश मौर्य वंश के अधीन संगठित राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। उसका यह विशाल साम्राज्य कई भागों में विभाजित था। जबलपुर के समीप तेवर (त्रिपुरी)[22] नामक स्थान तथा सागर जिले के अंतर्गत एरण नामक स्थान के उत्खननों से मौर्यकालीन मृद्भाण्ड तथा आहत् सिक्के आदि पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए है। मध्यप्रदेश के अन्य भागों से भी विभिन्न चिन्हों से युक्त सिक्के प्राप्त हुए है।[23] दमोह और उसके आस–पास का भू–भाग भी मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत था। इ सकी पुष्टि क्षेत्रीय सर्वेक्षण से उपलब्ध पुरातात्विक सामग्री से भी होता है।[24]

'kxdky %

पुण्यमित्र शुंग ने मौर्य शासक बृहद्रथ की हत्या करके 184 ई. पू. में 'शुंग वंश' की स्थापना की। दिव्यावदान के अनुसार सम्राट पाटलिपुत्र में निवास करता था। दमोह क्षेत्र का शासन उसके पुत्र अग्निमित्र द्वारा संचालित होता रहा होगा, जैसा कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' में उसके पुत्र अग्निमित्र को विदिशा का शासक (गोप्ता) बताया है।[25]

ईसवी पूर्व द्वितीय शती में भरहुत के प्रसिद्ध स्तूप का निर्माण शुंगों के शासन काल में हुआ। विष्णु पुराण के साक्ष्य से स्पष्ट होता है कि पुष्यमित्र शुंग के आठ पुत्र एक ही समय में भिन्न–भिन्न राज्यों पर शासन करते थे।

tuin jkT; %

शुंग का जब तक मगध पर शासन रहा, गणराज्यों को पूर्ण स्वतंत्र होने का अवसर नहीं मिला। कण्वों के दुर्बल शासनकाल में उन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर ली। इनमें एरिकिण (एरण), कौशाम्बी, उज्जयिनी, महिष्मती, माध्यमिका (राजस्थान), कुकरा, वाराणसी, भागिल तथा त्रिपुरी सम्मलित है। नगर नामधारी सिक्के मिले है। दमोह क्षेत्र भी इन जनपदीय राज्यों के रूप में त्रिपुरी जनपद के अंतर्गत रहा होगा।

त्रिपुरी जनपद के सिक्के पर राजा का नाम न होकर 'त्रिपुरी' अभिलिखित है।26 प्रायः इसी काल में इस प्रकार के नगर नामांकित सिक्के अन्य गणराज्यों की राजधानी से जारी किये गये।

vkU/k lkrokgu dky %

पुराणों के अनुसार कन्ह–कृष्ण के बाद सातकर्णि गद्दी पर बैठा। नानाघाट अभिलेख के अनुसार उसने अपने राज्य का विस्तार त्रिपुरी जनपद पर कर लिया। इसकी पुष्टि त्रिपुरी से प्राप्त सिक्कों से होती है।

ckf/ko'k %

सातवाहनों के पश्चात् ईसवी द्वितीय तृतीय सदी में दमोह क्षेत्र बोधि वंशीय शासकों के अधिकार में आया। बोधि शासकों के सिक्के लन्दन स्थित ब्रिटिश म्यूजियम के पं. भगवान लाल इन्द्र जी संग्रह में है। इन सिक्कों से श्रीबोधि, बीरबोधि अथवा वीरबोधि, शिवबोधि एवं चन्द्रबोधि राजाओं के नाम ज्ञात होते है।[27]

[kifjd %

बोधि शासकों के उपरान्त दमोह क्षेत्र पर गणराज्यों का उदय हुआ। इसकी स्थापना का श्रेय खर्परिक जनजाति को दिया गया। इसका उल्लेख प्रयागप्रशस्ति में सन्कानिकों और काको के साथ आया है। दमोह जिले के बटियागढ़ से प्राप्त तिथि वाले दो अभिलेखों में जुलाची की सेनाओं में खर्परिकों का उल्लेख है। बटियागढ़ से प्राप्त एक तीसरे अभिलेख के अनुसार खर्परिको का तेज, सम्राट समुद्रगुप्त के इस भू–भाग पर आगमन से, मलिन पड़ गया।[28]

xIrdky %

चौथी शताब्दी ई. में गुप्त साम्राज्य के उदय होने तक दमोह के इतिहास के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। समुद्रगुप्त (335–80 ई.) मध्य तथा दक्षिण विजय अभियान के दौरान एरण–विदिशा

प्रदेश के शासक शक सामन्त श्रीधर वर्मन पर आक्रमण किया था।[29] इसके पश्चात् समुद्रगुप्त ने इस क्षेत्र को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। एरण को स्वभोगनगरी बताया गया।[30]

मध्यप्रदेश के दमोह जिले के साकोर31 नामक गाँव से गुप्तकालीन 24 स्वर्ण मुद्रायें प्राप्त हुए हैं, जिन पर जीन गुप्त राजाओं के नाम अंकित है। इनमें से 8 समुद्रगुप्त के 15 चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा 1 स्कन्दगुप्त के है।[32] इससे स्पष्ट होता है कि स्कन्दगुप्त के शासन काल में दमोह का क्षेत्र गुप्तों के अधीन था। हटा तहसील के ग्राम साकोर, रौंद तथा कुण्डलपुर ग्रामों में विद्यमान गुप्त स्थापत्य शैली में निर्मित भग्न मन्दिरों[33] के अवशेष से भी यह बात सिद्ध हो जाता है कि दमोह जिले पर गुप्त राजाओं का अधिपत्य था।

g.k %

पाँचवी शताब्दी ई. के अन्त तक हूण गुप्त साम्राज्य की सीमाओं में आ गये थे। तोरमाण के एरण प्रस्तर लेख से स्पष्ट होता है कि 510 ई. में भानुगुप्त का सामन्त गोपराज पराजित हुआ था।[34] इसके पश्चात् तोरमाण ने पूर्वी मालवा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। ईसा की छठी शताब्दी में डाहाल (पुराना जबलपुर) और उसके समीपवर्ती 18 वन राज्यों पर जिसमें सम्भवतः दमोह का भी कुछ भाग शामिल था, परिव्राजक महाराजाओं का शासन था।

o/kZu o'k %

सातवीं शताब्दी ई. के दौरान देश की प्रभुता उत्तर में कन्नौज के हर्ष तथा दक्षिण में बदामी के पुलकेशिन द्वितीय नामक दो शासकों के बीच थी। पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल के शिलालेख में यह कहा गया है कि इन दोनों सम्राटों के बीच, जो एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे।35 विन्ध्य के आसपास कही युद्ध हुआ और जो रेवा (नर्मदा नदी) के तट पर दक्षिण के साम्राज्य की उत्तरी सीमायें बनाते थे। इस प्रकार इस बात की पूरी संभावना है कि नर्मदा से उत्तर की ओर दमोह क्षेत्र हर्ष साम्राज्य में सम्मलित था।[36]

dypqfj %

सातवीं सदी में दमोह क्षेत्र कलचुरी राजवंश के अधिकार में था। कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी थी, ये पाँच सदियों तक त्रिपुरी के विस्तृत साम्राज्य पर शासन किये अनेक पुरालेखीय और मुद्राशास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध है, जिसमें उनके शौर्य की गाथा वर्णित है।

दमोह क्षेत्र में कलचुरियों के स्थापत्य भग्नावशेष प्राप्त हुए है। जबलपुर जाने वाले मुख्य सड़क पर स्थित ग्राम से एक मील दूर नोहटा एक कलचुरि मन्दिर नोहलेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है, और वह कलचुरि शासन को इस क्षेत्र में पुष्टि करता है।[37] इस मन्दिर का निर्माण युवराजदेव ने (915–945 ई.) अपनी प्रिय रानी नोहला के आग्रह पर करवाया था।[38] शैव मत के मत्तमयूर वंश के अनेक आचार्यो को राज्य में आमंत्रित किया गया था। उनके लिए अनेक शिव मन्दिरों तथा मठो का निर्माण करवाया गया।39 कलचुरि शासक गांगेयदेव (1015–1041ई.) द्वारा प्रचलित सोने एवं चांदी के सिक्के इसुरपुर, तेवर, सागर, त्रिपुरी, सोनसारी, माण्डु तथा बरेला से प्राप्त हुए हैं।

pUnsy %

नवीं शताब्दी के अन्त तक चन्देलों ने बुन्देलखण्ड की ऊबड़–खाबड़ पहाड़ियों पर विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। खजुराहो शिलालेख के अनुसार चन्देल राज्य में चन्देरी, सागर, दमोह[44], बांदा, हमीरपुर, छतरपुर और पन्ना जिले तथा इलाहाबाद और मिर्जापुर जिलों के कुछ भाग तथा अनेक छोटी सामन्ती रियासते शामिल थी।

कलचुरि तथा चन्देल राजवंशो के बीच मैत्री–सम्बन्ध कुछ काल तक ही बने रहे। एक लम्बे समय तक दोनों हस्तियाँ इस क्षेत्र पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए लगातार घोर संघर्ष जारी रखे। पहला संघर्ष यशोवर्मन चन्देल के शासन काल में हुआ था, जिसमें कलचुरि नरेश का पराजय हुआ।

चन्देल शासक मदनवर्मन (1120–1169 ई.) को भी सैन्य सफलता मिली। सागर दमोह क्षेत्र पर उसका अधिकार था, इस बात की पुष्टि सेमरा पट्टो से हो जाती है। अनेक पुरालेखीय अभिलेखो से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि चौदहवीं शताब्दी ई. के पहले दशक तक यह क्षेत्र चन्देल के आधिपत्य में रहा।

दमोह जिले के बम्हनी ग्राम से प्राप्त विक्रम संवत् 1365 (सन् 1308) के सती लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है, कि दमोह तथा जबलपुर जिलों का कुछ भाग चन्देल राज्य में सम्मिलित थे।

भोजवर्मन् का उत्तराधिकारी हम्मीरवर्मन् 1288 ई. के लगभग गद्दी पर बैठा तथा 1310 ई. तक करता रहा। उसके राज्यकाल के तीन अभिलेख अजयगढ़, चरबारी तथा बम्हनी[41] से प्राप्त हुए है जिससे विद्वानों का अनुमान है कि वह कलिंजर, अजयगढ़ तथा निकटवर्ती क्षेत्र के अतिरिक्त डाहल मण्डल पर भी अधिकार किये हुए था। अलाउद्दीन खिलजी ने 1309 ई. में दमोह–जबलपुर क्षेत्र पर आक्रमण कर इस क्षेत्र को अपने साम्राज्य के अंतर्गत कर लिया। अतः 1308–09 ई. के बीच चन्देलो का अधिपत्य डालह मण्डल क्षेत्र से समाप्त हो गया।

lUnHk %

1. सुनीता शुक्ला, दमोह जिले का प्रशासनिक एवं भूराजस्व व्यवस्था
2. इण्डियन आर्कियालाजी ए रिव्यू, 1958–59, पृ. 26; 1999–2000 पृ. 79–80
3. वही 1958–59, पृ. 26; दमोह डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ. 33
4. वही 1999–2000, पृ. 79–80; 359
5. दमोह डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ. 33
6. इण्डियन आर्कियालाजी ए रिव्यू, 1958–59, पृ. 26
7. दमोह डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ. 33
8. इण्डियन आर्कियालाजी एरिव्यू, 1958–59, पृ. 26; 1999–2000 पृ. 79–80
9. राजकुमार शर्मा, मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ; मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974, पृ. 4
10. वही, पृ.7
11. वही, पृ.6–7
12. पी.के. भट्टाचार्य, हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ मध्यप्रदेश फ्रॉम एर्ली रिकार्डस, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977, पृ. 123
13. पी.के. भट्टाचार्य, हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ मध्यप्रदेश फ्रांस एर्ली रिकार्डस, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977, पृ. 123
14. ई. जे. रैप्सन, द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1922, पृ. 84,172, 274
15. आचार्य कुबेरनाथ शुक्ल, महाभारत सर्वस्वम्; सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, पृ. 96; 102, 109
16. वायुपुराण, 99वाँ अध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1987; पृ. 931
17. श्रीमत्भगवत महापुराण, गीताप्रेस गोरखपुर अध्याय–74, दसवा स्कन्ध
18. हरगोविन्दशास्त्री, शिशुपालवधम्, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, 2010, पृ. 909
19. वहीं, पृ. 23, 736, 740, 909
20. श्रीमत्भगवत् महापुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, अध्याय 54
21. पी.के. भट्टाचार्य, हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ मध्यप्रदेश फ्रॉम एर्ली रिकार्डस, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977, पृ. 123
22. कमलापति जैन, पुरातत्व का इतिहास, सुषमा प्रेस, सतना मध्यप्रदेश, 1971
23. राजकुमार शर्मा, मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ, मध्यप्रदेश ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974, पृ. 13
24. इण्डियन आर्कियालाजी, ए रिव्यू 1999–2000, पृ. 79–80; 172
25. राजकुमार शर्मा, वहीं, पृ. 15
26. राजकुमार शर्मा, वहीं, पृ. 14
27. राजकुमार शर्मा, वहीं, पृ. 29
28. परमेश्वरी लाल गुप्त, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2002 पृ.11
29. पी.के. भट्टाचार्य, वहीं, पृ. 199
30. राजकुमार शर्मा, वहीं, पृ.31
31. इण्डियन आर्कियालाजी, एरिव्यू, 1968–69, पृ. 90; 1970–71 पृ. 85
32. इण्डियन आर्कियालाजी, एरिव्यू, 1959–60 पृ. 83; दमोह डिस्ट्रिक्ट गजेतटियर, पृ. 35
33. इण्डियन आर्कियालाजी, एरिव्यू, 1958–59, पृ. 26; 1971–72, पृ. 27; 1999–2000 पृ. 79–80

34. परमेश्वरी लाल गुप्त, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2002, पृ. 204
35. दिनेश चन्द्रा, प्राचीन भारतीय अभिलेख; उत्तर प्रदेश संस्थान लखनऊ, पृ. 22
36. राजकुमार शर्मा, वही, पृ. 50
37. इण्डियन आर्कियालाजी, एरिव्यु, 1968—69, पृ. 90; 1970—71 पृ. 272
38. राजकुमार शर्मा, वही, पृ. 82
39. राजकुमार शर्मा, वही, पृ. 70
40. इण्डियन आर्कियालाजी, एरिव्यू, 1970—71 पृ. 27
41. राजकुमार शर्मा, मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ; मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974, पृ. 70

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

Hkkjr esa ekuo tfur vkink izcU/ku

nsoUnz ukjk;.k ik.Ms;*

मानवीय क्रिया कलापों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इच्छित या अनिच्छित असावधानी—लापरवाही या मानव द्वारा निर्मित तंत्रों की विफलता के कारण उत्पन्न घटनाएं या दुर्घटनाएं जिसमें मानव के जानमाल की भारी क्षति होती है, इसे मानव जनित आपदा कहते हैं। घटनाएं, चाहे प्राकृतिक या मानव जनित अचानक त्वरित या मन्द, पृथ्वी के अन्दर या वायुमण्डल से उत्पन्न हो, वह पृथ्वी पर जीव जन्तुओं एवं वनस्पतियों सहित मानव पर विनास एवं सनसनी पैदा करती है और जैव समुदाय को भारी क्षति पहुंचायी जाती है।

पर्यावरणीय प्रकोप प्राकृतिक कारणों/मानवीय कारणों से होती है, किसी भी तंत्र की सहन शक्ति की सीमा को पार कर जाती है, मनुष्य द्वारा समायोजन कठिन हो जाता है, मानवीय सम्पति, मानव जीव जन्तु की क्षति होती है, मानव अधिवास एवं वनस्पतियां काल की विनाश लीला को प्रदर्शित करती है।

"प्रकोप (Hazards) प्रभावी रूप से क्षतिकारक भौतिक घटना/मानव क्रिया जिसके द्वारा मानव जीवन की क्षति, सम्पति की क्षति, सामाजिक आर्थिक या पर्यावरण में अवनयन हो जाता है।"

प्रकोप, आपदा हो भी सकते है, नहीं भी, यदि वे रिहायसी क्षेत्रों में आते हैं तो आपदा हो जाते हैं, अन्यथा निर्जन (मानव रहित) क्षेत्रों में मात्र चरम घटना (Extreme Events) बन कर रह जाती है।

प्रकोप, आपदा (Disaster) के कारण या उसके घटित होने की प्रक्रिया है, आपदा (Disaster) उन प्रकृतिजन्य या मानव जनित अप्रत्याशित एवं दुष्प्रभाव वाली चरम घटनाओं या प्रकोपों को आपदा कहते हैं जिनके द्वारा मानव समाज, जन्तु एवं पादप समुदाय की अपार क्षति होती है। अपदायें त्वरित या तीव्र गति से घटित होती हैं। आपदाओं को सदा मनुष्य के सन्दर्भ में ही देखा जाता है। आपदाओं का आकलन मानव जीवन एवं उनकी सम्पति की होने वाली क्षति के सन्दर्भ में देखा जाता है।

पर्यावरणीय प्रक्रमों द्वारा चरम घटनाऐं (Extreme Events) आपदायें नहीं होती वे उसी समय आपदा होती है जब वे रिहायसी (Inhabited) क्षेत्रों में आती है तथा मानव समाज को अपार जनधन की क्षति पहुंचाती है। जैसे प्रचण्ड उष्ण कटिबंधीय तूफान (हरिकेन, चक्रवात, टाइफून) सागरीय भाग में उत्पन्न होकर सागर में समाप्त हो जाता है तो वह प्रकोप (Hazard) होती है, परन्तु जब वह किसी आवासित द्वीप या आवासित सागर तटीय क्षेत्र पर पहुंचता है तो जन धन की अपरा क्षति करता है तो वह आपदा (Disaster) हो जाता है।

ऐसे इच्छित या अनिच्छित कार्यों द्वारा जनित आपदाओं से मानव मृत्यु के अलावा निजी सम्पत्तियाँ, सरकारी तंत्र को भारी नुकसान होता है।

मानव अपदाओं की अवधारणा को उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

1½- tkucw> dj@bfPNr dk;Z%&

1. अमेरिका सेना 1945 में जापान में नागासाकी, हिरोशिमा नगरों में एटम बम का गिराया जाना।
2. कारगिल युद्ध।
3. 26/11 को मुम्बई में पाकिस्तान द्वारा हमला।
4. 2/16 पठान कोट के एयर बेस पर आतंकी हमला।

*भूगोल विभाग, एम0डी0पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़ (उ0प्र0)।

2½- ykijokgh dk dk;Z ½&

1. सन् 1986 में युक्रेन के चर्नोबिल स्थित परमाणु शक्ति संयन्त्र का मेल्टडाउन।

2. 3/4 दिसम्बर, 1984 को भारत की भोपाल गैस त्रासदी।

3. 11 मार्च, 2011 को जापान के फुकशिमा डेयन्जी परमाणु संयन्त्र का मेल्टडाउन।

4. मेक्सिको की खाड़ी में 'डीप वाटर होराइजन आयल स्पिल'।

3½- vfuPNr dk;Z ½&

1. पर्यावरण प्रदूषण।

2. भूमण्डलीय उष्मन/जलवायु परिवर्तन।

3. भीड़–भगदड़।

4½- ykijokgh rFkk cnbUrtkeh dk dk;Z ½& रेल दुर्घटनाएं, सड़क दुर्घटनाएं, हवाई दुर्घटनाएं, सागरीय दुर्घटनाएं, मनुष्य के कुछ कार्य ऐसे होते है जो प्राकृतिक अपदाओं को तेजी से प्रेरित करते है। आकस्मिक बाढ़, भूसखलन, भूकम्पीय घटनाएं, मृदा अपरदन, सूखा।

ekuo tfur vkink;sa ½&

1- izkS|ksfxdh; vkink;sa & रासायनिक, जैविक, रेडियोलाजिकल तत्वों, बिजली का अत्यधिक उपयोग, पटाखों का भण्डारन, कच्चे पदार्थों का निष्कासन।

2- ifjogu vkink;sa & हवाई, सड़क, रेल, स्पेस, समुद्री घटनाएं।

3- lkekftd vkink;sa & अपराध, लूट मार, नागरिक उपद्रव (धरना प्रदर्शन), हड़ताल, दंगा फसाद, अपराधिक कार्य, सरकारी व्यवस्था की अवमानना।

4- vkradokn dh vkink;sa & राष्ट्रीयता, अलगाववाद, राष्ट्रवाद का आतंक, प्रायोजित आतंकवाद, धार्मिक आतंकवाद, साइबर आतंकवाद।

5- HkhM+ HkxnM+ vkink & धार्मिक मेला (मक्का), स्नान (2013 इलाहाबद कुम्भ), अनुष्ठान के समय भगदड़, स्पोर्टस आयोजनों में भगदड़, राजनीतिक सभाओं, सांस्कृतिक सभाओं में।

6- jktuhfrd@/kkfeZd vkink;sa & प्रथम विश्व युद्ध, अमेरिकी गृह युद्ध, चीन की लीप फारवार्ड पालिसी, 1942 में भारत में 'बंगाल चावल अकाल', ब्रिटिश नीति के कारण लाखों लोग भूख से मरे।

7- uj lagkj & जहर खुरानी आपदायें भी भारी क्षति पहुंचा रही है।

vkS|ksfxd izdksi@vkink;sa ½& औद्योगिक घटनाएं मानव के असावधानी/नासमझी के कारण होता है। औद्योगिक उत्पादनों में मशीनों का कार्यान्वयन मानव के हाथ में होता है। जिससे खतरे की सम्भावना बनी रहती है। जैसे पटाखा निर्माण वाले कारखानों में विस्फोटकों का उपयोग, बिजली उत्पादन में परमाणु खनिजों का उपयोग, निम्नलिखित कारक हो सकते हैं –

1. जानबूझ कर उपायों का अनुपालन न करना।

2. बिजली का सही तरीके से न इस्तेमाल करना (शार्ट सर्किट होना)।

3. अवस्थापन की सुविधाओं की विलपता।

4. रासायनिक कारखानों में खतरनाक रसायनों से सम्बन्धित दुर्घटनाएं जिससे जान माल की भारी क्षति पहुंचती है।

Hkksiky xSl =kklnh 1984 &

मिथाईल गैस भरने वालों की संख्या 6000 से अधिक बतायी गयी। इस गैस ने पेयजल, मिट्टी, तलाबों, जलाशयों, जल को बुरी तरह प्रदूषित कर दिया। गर्भस्थ शिशुओं (भ्रूणों), नवजात शिशुओं, गर्भवती महिलाएं, वृद्ध को बुरी तरह से प्रभावित किया। जल में थायोसाइनेट की मात्रा अधिक हो गया जल पीने योग्य नहीं रह गया। सभी गर्भवती महिलाओं में 47 प्रतिशत गर्भपात हो गया। 200 महिलाओं का मृत शिशुओं को जन्म दिया तथा 400 शिशुओं के तुरन्त जन्म के बाद मृत्यु हो गयी। 1,000 व्यक्ति स्थायी रूप से विकलांग हो गये, भोपाल गैस त्रासदी का एक लम्बा वक्त बीत गया परन्तु आज भी आपदा की घटना को जीवंत करते है।

plukyk dk;Ykk [knku] 1975 &

झारखण्ड के धनबाद जिले में चसनाला कोयला खदान में 27 दिसम्बर, 1975 को कोयला खदान में 372 लोगों की जान चली गयी। कोयला खदान में विस्फोट कराने पर खदान का छत अचानक भरभरा कर ठह गयी, पानी का तीव्रतम वेग खदान को पलक छपकते ही जलमग्न कर दिया और 372 लोग जिन्दा दफन हो गये। यह घटना कम्पनी की लापरवाही से हुई।

विश्व में चीन सर्वाधिक खनन का कार्य करता रहता है। विश्व में खनन के दौरान होने वाली मानव मृत्यु का 80 प्रतिशत अकेले चीन में होता है क्योंकि सुरक्षा मानकों का कड़ाई से पालन नहीं किया जाता। पटाखों के निर्माण में प्रयोग किये जाने वाले विस्फोटकों द्वारा पटाखा निर्माण करने वाली फैक्टिरियों में विस्फोट का खतरा बना रहता है। चीन में लू–यंग विश्व में सर्वाधिक पटाखा निर्माता है। इसे विश्व का पटाखा राजधानी कहा जाता है। भारत के सन्दर्भ में तमिलनाडु में स्थित शिवकाशी को भारत की पटाखा राजधानी कहा जाता है। 5 सितम्बर, 2012 को शिवकाशी में विस्फोट से 38 लोग मर गये।

lajpukRed foQyrk@vfXudkM vkink %&

इसका तात्पर्य मानव निर्मित स्थायी संरचनाओं, सिनेमा हाल, शापिंग माल, बहुमंजिला इमारतों का ध्वस्त होना।

ध्वस्त होने के प्रमुख कारण निम्न हैं –

1. भवन निर्माण की त्रुटिपूर्ण खराब डिजाइन।
2. स्थापत्य की त्रुटि।
3. भवन निर्माण की खराब सामग्री।
4. खराब कार्य कुशलता।
5. सुरक्षा मानकों को नजर अन्दाज करना।
6. महाराष्ट्र के थाणे जिला में 7 मंजिला भवन, गैर कानूनी रूप से निर्माण कराया जा रहा था, वह गिर गया जिसमें लगभग 45 लोग मरे।
7. इलाहाबाद में 2014 में 4 मंजिला इमारत की छत गिरने से 6 लोगों की जान गयी।
8. मध्य प्रदेश में हाल ही में पुल टूटने से दो रेलगाड़ी के करीब 10 डिब्बे नदी में जा गिरे, जिसमें लगभग 500 व्यक्तियों की मरने की पुष्टि हुयी।
9. उपहार सिनेमा अग्निकांड, 1997 में 'बार्डर' फिल्म की प्रीमियर प्रदर्शन के दौरान नई दिल्ली के ग्रीन पार्क के निकट उपहार सिनेमा के भीषण अग्निकांड में 59 लोगों के दम घुटने से मृत्यु हो गयी।
10. प्रतापगढ़ गोयल रेजीडेन्सी में 2015 भीषण अग्निकांड, जिसमें 20 लोगों के मारे जाने की आशंका है।

;q)@ulgkj vkink;sa %&

इन कारणों से भयंकर आपदायें आती है। कई जटिल कारकों द्वारा जनित आपदापन्न समस्याओं एवं संकटों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न विशिष्ट प्रकार की मानव जनित आपदा को काम्पलेक्स हुयमैनिटेरियन इमरजेन्सी (CHE) कहा जाता है।

तानाशाही नीति वाले कुछ देशों ने सैनिकों, युद्ध बन्दियों तथा निर्दोष नागरिकों का सामूहिक कत्ले आम किया गया। द्वितीय विश्व युद्ध में हिटलर ने सामूहिक नरसंहार किया था जिसमें 17 लाख लोगों का कत्ल किया गया था। भारत के संदर्भ में देखें तो इसकी पीड़ा सदियों से बनी रही, आज तक यह आपदा झेल रहा है। डच से लेकर वर्तमान समय तक जो स्थितियां बनी हैं, उसमें मानव मृत्यु को वीभत्स रूप बनाया है। मुगलकाल के शासक अंग्रेजों ने जो यतना दी है। 1857 की क्रान्ति, 1914 का प्रथम विश्व युद्ध, जलियावाला बाग हत्याकांड, क्रान्तिकारियों को फाँसी, वर्तमान सन्दर्भ में 1962 चीन युद्ध, 1965 पाक युद्ध, कारगिल युद्ध में लोगों ने जान गवायी।

ifjogu vkink %&

भौतिकवादी जीवन पद्धति व्यस्तम समय के बीच मानव बड़ी गलतियां करता है और घटनाएं घट जाती है। अतः आपदा सम्पन्न दुर्घटनाओं में जनहानि सदैव बनी रहती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 2010 की रिपोर्ट अनुसार सभी प्रकार की दुर्घटनाओं में कुल 22,60,000 मानव मृत्यु हुई थी। भारत के सन्दर्भ में 18,50,000 लोग की मृत्यु हुयी। डब्लू.एच.ओ. ने सड़क दुर्घटनाओं में एकल सकल जनहानि भारत के संदर्भ में 2009–10 में 1,33,938 व्यक्तियों की मृत्यु हुयी।

सड़क दुर्घटनाएं बहु कारकों के द्वारा होती है –

1. वाहनों की मानव रहित रेलवे क्रासिंग पर ट्रेनों की टक्कर।
2. पशुओं का झुंड में सड़कों को पार करना।
3. ओवरलोड वाहनों का चलना।
4. ड्राइवरों द्वारा नशा करना।
5. क्रासिंग का मानव रहित होना।
6. उग्रवादियों एवं आतंकवादियों द्वारा तोड़–फोड़ की घटनाएं।
7. मानव भूल के कारण एक ही ट्रैक पर दो विपरीत दिशाओं में आ रही 2 ट्रेनों का आपस में टकराव।
8. एक ही ट्रैक पर खड़ी ट्रेन के पीछे से आ रही ट्रेन की टक्कर, जैसे–

   1.) 6 जून, 1981 की बिहार ट्रेन आपदा में सवारी गाड़ी नदी में जा गिरी, जिसमें 300 से 800 लोग मरे।

   2.) 1981 में नर्मदा एक्सप्रेस एक मालगाड़ी से टकरा गयी, जिसमें लगभग 700 लोग मरे।

   3.) 1995 की फिरोजाबाद ट्रेन आपदा में कालिन्दी एक्सप्रेस का पुरूषोत्तम एक्सप्रेस से टक्कर में 350 लोग मरे।

   4.) 2006 में मुम्बई लोकल गाड़ियों में आतंकवादियों द्वारा सिलसिलेवार धमाकों में 250 लोग मरे।

ok;q;ku nq?kZVuk vkink %&

आपदाओं के सन्दर्भ में वायुयान दुर्घटना की प्रायिकता न्यूनतम होती है परन्तु वायुयान दुर्घटना होने पर बचने की सम्भावना भी न्यूनतम होती है।

वायु दुर्घटनाएं निम्न कारकों द्वारा होती है –

1. पायलट की गलती।
2. एयरक्राफ्ट के तेल (ईंधन) में विस्फोट।
3. दो हवाई जहाज का आपस में टकराना।
4. वायुयान की संरचनात्मक विफलता।

विश्व में 2001 से 2012 तक की वायुयान दुर्घटनाओं में देखा जाए तो

o"kZ	eR̀dksa dh la[;k
2001	4,140
2003	11,230
2005	1,459
2006	1,294
2009	1,103
2010	1,115
2012	794

(स्रोत–ACRO)

प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री का निधन विमान दुर्घटना में ही हुआ था।

11 सितम्बर, 2001 को बर्ड ट्रेण्ड सेण्टर, न्यूयार्क पर हमले में 2,752 लोग मारे गये।

2 नवम्बर, 1996 को चर्खी दादरी, हरियाणा में दो नागरिक वायुयान की टक्कर में 397 लोग मारे गये।

vkradokn vkink %&

तीसवीं सदी के अन्तिम दशक के प्रारम्भ से आतंकी गतिविधियां तथा क्रियायें मानव जनित आपदा में सर्वाधिक भयावह एवं आपदापन्न हो गयी है। आतंकवाद, व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के उस अनैतिक तथा गैर कानूनी विध्वंशक कार्य को कहते है जो निम्न अवैध कृत्यों से सम्बन्धित होता है।

1. आतंक का डर तथा सदमा पैदा करना।
2. सामूहिक संहार एवं विनाश।
3. अवस्थापना की सुविधाओं को नष्ट करना।
4. समाज या देश को अव्यवस्थित करना।
5. किसी संस्कृति को समाप्त करना।

आतंकियों ने अनैतिक, अवैध कार्य, राजनैतिक, धार्मिक वैचारिक उद्देश्यों की प्राप्त के लिए करते हैं। आतंकवाद आपदा सुनियोजित दुर्घटना होती है।

आतंकी सामूहिक नर संहार एवं सम्पतियों के विनाश के लिये अपने घृणित एवं आपदापन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न विधियों, रणनीतियों, उपायों को तथा साधनों को अपनाते हैं। मालवाहक जलयानों, वायुयानों में लूट करना, सामूहिक बलात्कार करना, रेल पुलों, कारखानों आदि को बमों से उड़ाना आदि। कोई भी देश आतंकवाद से सुरक्षित नहीं हैं, क्योंकि आतंकियों से किसी धर्म, संस्कृति या क्षेत्र के प्रति आदर एवं सम्मान की भावना नहीं होती।

Hkkjr esa izeq[k vkradh geys %&

1. 1993 में मुम्बई में सिलसिलेवार बम विस्फोट में 257 लोगों की मृत्यु हुई।
2. 2006 में मुम्बई की लोकल ट्रेनों में सिलसिलेवार बमों का विस्फोट में 209 लोगों की मृत्यु हुई।
3. 2008 में मुम्बई के ताज होटल पर आतंकी हमले में 175 लोगों ने अपनी जान गवायी।
4. 2 जनवरी, 2016 में पठानकोट के एयर बेस पर हमले में 12 लोगों की मृत्यु हुई।

HkhM+&HkxnM+ vkink %&

सीमित क्षेत्र में मानव की भारी भीड़ के जमा होने के समय अपवाह के कारण व दहशत फैलने से भगदड़ मचने के कारण लोगों की मृत्यु होने को भीड़ भगदड़ आपदा कहते हैं। इस तरह की स्थितियां धार्मिक पूजा स्थलों, धार्मिक त्योहारों, धार्मिक मेला, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के खेल कूद, व्यस्त बाजारों, मालों आदि में उत्पन्न होती है।

Hkkjr esa izeq[k HkxnM+ vkink;sa %&

1. 1954 में इलाहाबाद कुम्भ धार्मिक मेला में भगदड़ व दम घुटने से 800 लोगों की मृत्यु हो गयी।
2. 1992 में नैना देवी मंदिर के धार्मिक जुलुस में मची भगदड़ से 162 लोगों ने अपनी जान गवायी।
3. 2005 में महाराष्ट्र अफवात धार्मिक जुलुस के समय 251 लोगों की मृत्यु हो गयी।
4. 2008 में पाणिक्रिचा मुण्डा देवी मंदिर में पूजा के समय मची भगदड़ में 224 लोगों की मृत्यु हो गयी।
5. 2013 में पवित्र रतनगढ़ माता देवी मंदिर में पुल टूटने की अपवाह से मची भगदड़ में 175 लोगों ने अपनी जान गवायी।
6. 10 फरवरी, 2013 को 12वर्षीय महाकुम्भ, इलाहाबाद रेलवे स्टेशन पर मची भगदड़ में 37 लोगों की मृत्यु हो गयी।

भीड़ भगदड़ मुख्य रूप से अफवाह फैलाने पर दहशत में लोगों के सम्बन्धित स्थान से भाग निकलने के प्रयास में होती है। भगदड़ आपदा का प्रबन्धन का एक मात्र तरीका उसकी प्रायकिता का आंकलन करना तथा विषम परिस्थितियों में भीड़ का प्रबन्धन करने के लिए पहले से सावधान रहना तथा सभी आवश्यक उपायों एवं साधनों को तैयार स्थिति में रखना है।

मानव जनित आपदा में प्रकृति से ज्यादा मानव ने अपनों को ही नष्ट कर रहा है तथा आने वाली पीठी के लिए मार्ग अवरूद्ध कर रहा है। अगर इस मानव जनित व्यवहारों को न रोका गया तो यह प्राकृतिक शक्तियों से ज्यादा भयंकर दुष्परिणाम वाले सिद्ध होंगे। इनके प्रबन्धन में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को लाकर इस पर नियंत्रण लगाया जा सकता है।

1. राज्य में अवस्थापना की पुनर्स्थापना एवं सशक्तीकरण से सम्बन्धित आपदा निवारण के विभिन्न कार्यों का संयोजन करना होगा।
2. रासायनिक औद्योगिक एवं परमाणु आपदाओं से निपटने हेतु तैयारी एवं प्रतिक्रिया नियोजन प्रभावी रूप से लागू हो, ऐसा न करने पर दंड का प्रावधान हो।
3. ग्राम पंचायत स्तर पर इसका कुशल प्रशिक्षण दिया जाय।
4. ग्राम पंचायत स्तर पर संगठनों को जोड़ा जाय तथा सरकारी अनुदान दिया जाय।
5. सामाजिक आर्थिक रिकवरी कार्यक्रम को सही ढंग से चलाया जाय।
6. किसी भी आपदा को सम्भावना होने या आने पर शीघ्र प्रतिक्रिया।
7. आपदा प्रबन्धन के लिए मीडिया के साथ उत्पादक भागीदारी उत्पत्ति करना।
8. सामुदायिक सहभागिता सुनिश्चित करना।
9. आपदा प्रबन्धन से सम्बन्धित विभिन्न मंत्रालयों द्वारा तैयार की गयी योजनाओं/ परियोजनाओं का पुनर्निरीक्षण करना।
10. राज्य स्तर पर सभी सम्बन्धित प्रशासनिक निकायों में सतर्कता चेतावनी निर्गत करना तथा प्रभावपूर्ण तरीके से लागू करना।
11. राज्य सरकारों द्वारा आपदा पीड़ितों के लिए स्थायी तथा जीवकोपार्जन के साधनों का पुनर्स्थापित किया जाए।
12. विज्ञान और प्रौद्योगिकी का उपयोग।
13. सूचना एवं संचार के माध्यम से आपदा ज्ञान का प्रचार प्रसार किया जाए।
14. कार्यों में नैतिक जिम्मेदारी लेते हुए खुद जवाबदेही बनना होगा जिससे कम गलतियां हो सके।
15. स्वयं के लिए, परिवार के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए, विश्व के लिए, एक आदर्श मानसिकता पेश करना, जिससे विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास हो।
16. सर्वधर्म समभाव के लिए आदर्श स्थिति बनाया जाए। जिससे अनेकता में एकता की बात चिरतार्थ हो सके।

इन सब प्रयासों से मानव जनित आपदायें नियंत्रित हो सकती हैं और वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को चिरतार्थ किया जा सकता है।

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

i`rkix< tuin d` ikFkfed Lrj ij f'k{kkfe=k ,o fu;fer f'k{kdk dh f'k{k.k n{krk dk rqyukRed v/;;u

/keZsUnz dqekj oS';*

iLrkouk& किसी भी देश में शिक्षा रुपी तन्त्र के संचालन में शिक्षक विशाल पहिए का कार्य करता है। चीन में प्रचलित कहावत में ठीक कहा गया है,–अगर आप किसी कार्य का सम्पादन एक वर्ष के लिए करना चाहते हैं, उसका बीजारोपण तुरन्त कीजिए, अगर दस वर्ष के लिए करने की इच्छा करते हैं, तो सही निर्णय करिए।

अत एव एक सम्पूर्ण मनुष्य का सुन्दर व्यक्तित्व तथा मनुष्योचित अभिवृत्तियों के लिए, जिसके विभिन्न आयाम हों, को बनाना आज महत्वपूर्ण हो गया है। आधुनिक काल में शिक्षा का स्वरूप कुछ परिवर्तित हो गया है। आज शिक्षा किसी तरह का उपदेश या सूचना देना नहीं है बल्कि वह व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास के लिए एक निरन्तर चलने वाली ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति में निहित क्षमताओं का सही–सही उपयोग विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में किया जाता है। आज सभी देशों में योग्य नागरिक बनने की होड़ है। इसके लिए शिक्षा का प्रमुख साधन माना जा रहा है। यही कारण है कि शिक्षा का लक्ष्य राष्ट्र एवं विश्व के लिए सुयोग्य नागरिक का निर्माण करना है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भावना का शिक्षा के माध्यम से होता है, जिसके लिए शिक्षा मित्रों एवं नियमित शिक्षक प्राथमिक स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयास कर रहे हैं। जोकि एक आदर्श शिक्षक ही राष्ट्र के विकास को अग्रसर करते हैं।

आधुनिक शिक्षा की सबसे बडी विशेषता यह बतायी जा सकती कि शिक्षा का मनोवैज्ञानिक स्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान के प्रवेश ने व्यक्ति के मानसिक अवस्थाओं को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। 1950 ई0 के बाद शिक्षा मनोविज्ञान का तीव्र विकास हुआ, सामाजिक वातावरण विद्यालयीय परिवेश, शिक्षक–शिक्षार्थी सम्बन्ध आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव शिक्षकों की शिक्षण दक्षता का प्रभाव है।

f'k{kd dh f'k{k.k n{krk dk egRo&

शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव उसकी शिक्षण कला पर अवश्य पड़ता है और उसकी दक्षता का प्रभाव उसके व्यक्तित्व और दक्षता ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार जहाज में पोल होता है। बिना दक्षता और व्यक्तित्व के शिक्षक अपने शिक्षण में छात्रों को शिक्षण देने में प्रभावशाली नहीं रह पाता। जैसे–समुद्र में कोई जहाज बिना पाल के होता है और तूफान आने पर डूब जाता है। शिक्षक की दक्षता उसके व्यक्तित्व व शिक्षण का सम्बन्ध बहुत कुछ इसी प्रकार का है और इस सम्बन्ध को हम उसकी दक्षता और उसकी योग्यता के नाम से जानते हैं।

orZeku v/;;u dh vko';drk&

शिक्षण कार्यक्रम की योजना तथा शैक्षिक प्रक्रिया के नियोजन हेतु उच्च प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों का शिक्षण के प्रति दृष्टिकोण आवश्यक है। चूँकि प्राथमिक स्तर की शिक्षा पर समस्त शैक्षिक प्रक्रिया की नींव है, इसलिए प्रस्तुत अध्ययन में प्राथमिक स्तर के नियमित शिक्षकों (बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों) व शिक्षामित्रों के प्रमुख शैक्षिक आयामों–कक्षा अध्यापन उनकी दक्षता में अन्तर है अथवा नहीं, इन सभी प्रश्नों का अध्ययन करना आवश्यक है।

*शोध छात्र, लाईफ लर्निंग विभाग, अवधेश प्रताप सिंह, विश्वविद्यालय, रीवा, म0प्र0।

शिक्षा द्वारा मनुष्य को सामाजिक व्यवहार सिखाऐ जाते हैं, शिक्षा चाहे माँ द्वारा दी जाए, चाहे परिवार द्वारा और चाहें विद्यालयों द्वारा। शिक्षा की प्रक्रिया बिना शिक्षक के नहीं चल सकती है। शिक्षक विद्यालयों में सिखाने का कार्य अपने–अपने ढंग से करते हैं तथा अनेक शिक्षण विधियों व तरीकों पर अलग–अलग दृष्किोण रखतें है और उनकी शिक्षण दक्षता भी इसी कारण प्रभावित होती है। अतः शोधार्थी के मन में यह जिज्ञासा हुई कि प्राथमिक स्तरों पर नियुक्त शिक्षामित्रों, विशिष्ट बी0टी0सी0 शिक्षक, बी0टी0सी0 प्रशिक्षित शिक्षकों की शिक्षण दक्षता क्या है? क्या ये सभी व्यवस्थित ढंग से शिक्षण करते हैं ?

क्या पूर्व अधिगम लक्ष्यों की प्राप्ति होती है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए शोधार्थी ने प्राथमिक स्तर पर शिक्षामित्रों व नियमित शिक्षकों की शिक्षण दक्षता का तुलनात्मक अध्ययन विषय पर शोध करने का निश्चय किया।

leL;k p;u%&

शोधकर्ता ने प्राथमिक स्तर पर शिक्षामित्रों व नियमित शिक्षकों की शिक्षण दक्षता के अध्ययन को लघु शोध कार्य हेतु चयनित किया है।

leL;k dk 'kh"kZd%&

i:rkix< tuin d: ikFkfed Lrj ij f'k{kkfe=k: o fu;fer f'k{kdk: dh f'k{k.k n{krk dk rqyukRed v/;;u ^dkykdkadj Cykd d: fo'ks"k lUnHkZ e:

leL;k dk lhekadu%&

शोधकर्ता ने प्रस्तुत शोध कार्य को निम्नलिखित सीमाओं के अन्तर्गत रखा हैः–

1. जनपद प्रतापगढ़ में कुल 17 विकासखण्ड है, परन्तु शोधकर्ता द्वारा प्रस्तुत शोधकार्य विकासखण्ड कालाकॉकर तक ही सीमित है।
2. शैक्षिक दक्षता को प्रतिनिधित्व करने वाले बहुत से कारक है, परन्तु शोधकर्ता ने मुख्यतः 7 कारकों के आधार पर अध्ययन किया।

'kks/k dk mn~ns';%&

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। वह कभी भी कोई कार्य निरुद्देश्य नहीं करता है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए बी.डी. भाटिया ने कहा है कि–'' उद्देश्य के बिना एक शिक्षक उस नाविक की तरह होता है जो अपना उद्देश्य या गन्तव्य नहीं जानता और एक छात्र बिना पतवार की नाव के समान है जो कही भी एक किनारे पर लग जाय''

अतः प्रस्तुत शोध समस्या के उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. प्राथमिक स्तर पर बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों व शिक्षामित्रों की घटकवार शिक्षण दक्षता का अध्ययन करना।
2. प्राथमिक स्तर पर बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों व शिक्षामित्रों की शिक्षण दक्षता की घटक शैक्षिक सामग्री का विकास, निर्माण और उनके उपयोग का अध्ययन करना।
3. प्राथमिक स्तर पर बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों व शिक्षामित्रों की शिक्षण दक्षता की घटक बच्चो को अभिप्रेरित करने का अध्ययन करना।
4. प्राथमिक स्तर पर बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों व शिक्षामित्रों की शिक्षण दक्षता की घटक कक्षागत सम्प्रेषण का अध्ययन करना।
5. प्राथमिक स्तर पर बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों व शिक्षामित्रों की शिक्षण दक्षता की घटक अनुदेशन की विधियों का अध्ययन करना।

'kks/k v/;;u dh ifjdYiuk,¡%&

प्रस्तुत शोध अध्ययन हेतु निम्नलिखित शून्य परिकल्पनाओं का प्रतिपादन किया गया है–

1. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों की शैक्षिक अनुदेशन के लिए तैयारी की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

2. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा शिक्षकों की शैक्षिक अनुदेशन की तैयारी की दक्षता के प्राप्तांको के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
3. विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा शिक्षामित्रों की अनुदेशन के लिए तैयारी की दक्षता के प्राप्तांको के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
4. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा शिक्षामित्रों की अनुदेशन सामाग्री का विकास, तैयारी और उनके प्रयोग की दक्षता के प्राप्तांको के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
5. विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा शिक्षामित्रों की अनुदेशन सामाग्री का विकास, तैयारी और उनके प्रयोग की दक्षता के प्राप्तांको के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
6. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों और विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों की बच्चों को अभिप्रेरित करने की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
7. विशिष्ट बी0टी0सी0 प्राप्त शिक्षकों और विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षकों की बच्चों को अभिप्रेरित करने की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
8. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों तथा शिक्षामित्रों की बच्चों को अभिप्रेरित करने की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
9. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों और विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई अन्तर नहीं है।
10. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों और विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों की अनुदेशन की विधि की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
11. विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों और शिक्षामित्रों की अनुदेशन की विधि की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
12. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों और शिक्षामित्रों की अनुदेशन की विधि की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
13. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों और शिक्षामित्रों की अधिगम के मूल्यांकन की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
14. बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों और विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों की पहचान और उपचार की दक्षता के प्राप्तांकों के मध्यमानों में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

lEcU/kr lkfgR; dk v/;;u dk egRo%&

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध शिक्षामित्र एवं नियमित शिक्षकों की शिक्षण दक्षता का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। किसी भी क्षेत्र के कार्य में सुधार लाने के लिए सर्वप्रथम इस क्षेत्र में आने वाली समस्याओं को ज्ञात करना आवश्यक सर्वप्रथम इस क्षेत्र में आने वाली समस्याओं को ज्ञात करना आवश्यक होता है क्योंकि समस्याओं के आधार पर ही सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जब तक उसे ज्ञात न हो कि उस क्षेत्र में कितना कार्य हो चुका है, किस विधि से कार्य किया गया है तथा उसमें निष्कर्ष क्या है। इसके महत्व को स्पष्ट करते हुए गुड, बार तथा स्केट्स कहते हैं–'' एक कुशल चिकित्सक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने–अपने क्षेत्र में हो रही औषधि सम्बन्धी आधुनिकतम खोजों से परिचित होता रहे, उसी प्रकार शिक्षा के जिज्ञासु छात्र अनुसंधान के क्षेत्रों में कार्य करने वाले तथा अनुसंधानकर्ता के लिए भी उस क्षेत्र से सम्बन्धित सूचनाओं एवं खोजों से परिचित होना आवश्यक है।''

vuqla/kku fof/k dk p;u%&

शोधार्थी ने प्रस्तुत समस्या के अध्ययन के लिए अनुसंधान की सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया है।

lef"V o U;kn'k%&

प्रस्तुत अध्ययन की समष्टि में प्रतापगढ़ जनपद के समस्त प्राथमिक शिक्षक निहित हैं। न्यादर्श एक बड़े जनसंख्या का एक छोटा अंश होता है जो समष्टि की सभी विशेषताओं को प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् वह अपने समस्त समूह का लघुचित्र होता है यह एक सुविधाजनक प्रयुक्ति होती है।

व्यवहारिक एवं सामाजिक अध्ययनों में प्रायः न्यादर्श द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर ही सामान्यीकरण किया जाता है। किसी भी मनोवैज्ञानिक तथ्य अथवा मानवीय व्यवहार के सत्यापन के लिए समग्र का अध्ययन कठिन होता है। अतः अधिकाशंतः अवस्थाओं में न्यादर्श का ही प्रयोग किया जाता है।

इस दृष्टि से सामाजिक अध्ययनों के क्षेत्र में न्यादर्श का बहुत महत्व है।

प्रत्येक शोधकार्य का उद्देश्य शुद्ध परिणाम ज्ञात करना होता है फिर भी शुद्ध परिणाम आदर्श की एक सीमा है, जो हमें प्राप्त नहीं हो सकती है, समय व व्यावहारिक दृष्टि से समग्र पर प्रयोग करना असम्भव होता है। अतः समग्र के एक छोटे भाग पर ही प्रयोग कार्य किया जाता है। जिसे न्यादर्श कहते हैं। न्यादर्श की एक आवश्यकता इस बात में है कि जनसंख्या के सभी इकाईयों का अध्ययन न तो वांछनीय है और न ही सम्भव। न्यादर्श में प्रतिनिधित्व और पर्याप्ता होनी चाहिए। न्यादर्श को पर्याप्त तभी कहा जाता है जब उससे प्राप्त किसी परिणाम की सांख्यकीय मानक त्रुटि कम हो।

इस अध्ययन में न्यादर्श का चयन निम्न सारणी के अनुसार किया गया है–

प्रतापगढ़ जनपद का ब्लॉक	बी0टी0सी0 शिक्षक	विशिष्ट बी0टी0सी0 शिक्षक	शिक्षामित्र	योग
कालाकाँकर	40	40	40	120

शोधार्थी द्वारा कालाकांकर ब्लॉक का चयन यादृच्छिक न्यादर्श विधि से किया गया है।

'kks/k midj.k&

शोधार्थी ने अध्ययन के लिए स्वनिर्मित शिक्षण दक्षता अवलोकन अनुसूची का प्रयोग किया।

inRr ldyu&

शोधार्थी ने प्रत्येक शिक्षक द्वारा पढ़ाई जा रही चार–चार कक्षाओं का अवलोकन करके ऑकड़ों का संकलन किया।

ऑकड़ों का विश्लेषण किया गया जैसे–अत्यधिक प्रभावी = 5 अंक

प्रभावी = 4 अंक

औसत प्रभावी = 3 अंक

कम प्रभावी = 2 अंक

अप्रभावी = 1 अंक

पुनः घटकवार अंकों का औसत (मध्यमान) निकाला गया है। आंकड़ों के विश्लेषण हेतु प्रसरण विश्लेषण सार्थक एफ अनुपात के उपरान्त टी परीक्षण का प्रयोग किया गया। दक्षता के सभी घटकों के लिए एफ–अनुपात (प्रसरण विश्लेषण) का मान .01 स्तर पर सार्थक आया। इसीलिए सभी अनुसंधान परिकल्पानऐं स्वीकृत हुई और यह अध्ययन करना जरुरी हुआ कि शिक्षकों की शिक्षण दक्षता में अन्तर किस समूह के कारण आ रहा है।

xkQ l[;k&1

दण्डारेख द्वारा शिक्षण दक्षता के घटक शैक्षिक अनुदेशन की तैयारी का बी.टी.सी. शिक्षक, विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक एवं शिक्षामित्रों के मध्यमान प्राप्तांकों का प्रदर्शन।

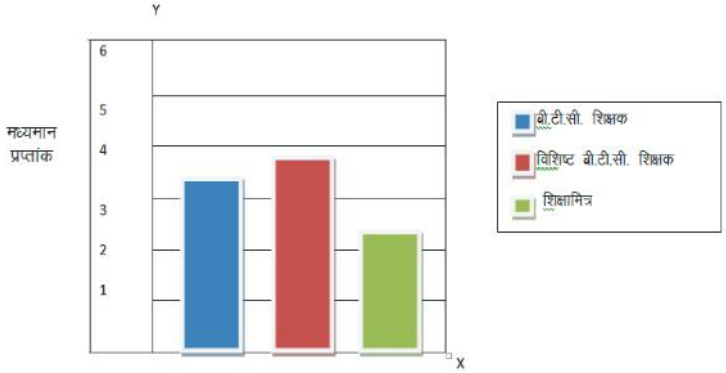

i:;Dr lk[;dh; fof/k;k&

इस अध्ययन के अन्तर्गत अवलोकन सूची के द्वारा एकत्रित ऑकड़ों का विश्लेषण जिस सांख्यकीय विधि से किया गया है उसका विवरण निम्नवत् है:–

e/;eku&

बी.टी.सी. शिक्षक विशिष्ट बी.टी.सी. शिक्षक तथा शिक्षकमित्रों के शिक्षण दक्षता का अवलोकन अनुसूची द्वारा प्राप्त आंकड़ो से अलग–अलग मध्यमान निकाला गया।

समस्त प्राप्तांकों के योग में प्राप्तांको की संख्या के भाग देने के फलस्वरुप प्राप्त संख्या को मध्यमान कहते है।

इसके लिए प्रयुक्त सूत्र निम्नवत् है–

$$\text{Mean (M)} = \frac{\Sigma x}{N}$$

जहॉ

Σx = प्राप्तांको का योग

N = प्राप्तांको की संख्या

pılj.k fo'y"k.k lkjk'k rkfydk cukuk&

स्रोत	स्वतंत्रता अंश d.f	वर्गों का योग SS	मध्य वर्ग MS	F	सारणीमान
समूहों के मध्य					
समूहों के अन्तर्गत					

मध्य वर्ग Mean Square की गणना में Sum of Squares में उनसे सम्बन्धित d.f. से भाग देकर लिखते हैं तथा कि गणना निम्न सूत्र द्वारा करते हैं–

$$\text{F-Ratio} = \frac{\text{समूहों के मध्य में मध्यमान वर्ग}}{\text{समूहों के अन्तर्गत इकाईयों में व्याप्त मध्यमान वर्ग}}$$

lkFkdrk Lrj dh tkp&

प्रसरण विश्लेषण की सारांश तालिका बना लेने के बाद अर्थात् सारांश तालिका में F-Ratio की गणना कर लेने के बाद F. Ratio तालिका देखते हैं। इस तालिका में यह देखते हैं कि एक निश्चित विश्वास स्तर (जैसे .01 या .05) तथा निश्चित between group d.f. और Within group d.f पर F-Ratio का आवश्यक मान क्या है? यदि प्रसरण विश्लेषण से प्राप्त F-Ratio का मान तालिका से देखे गये F-Ratio के मान के बराबर या अधिक है तो इस अवस्था में उस निश्चित विश्वास स्तर पर समूहों के मध्यमान सार्थक अन्तर होता है अर्थात् शून्य परिकल्पना असत्य कर सकते हैं परन्तु यदि गणना द्वारा प्राप्त F-Ratio का मान तालिका से देखे गये F-Ratio के मान से कम होता है तो उस निश्चित विश्वास स्तर पर समूहों के मध्यमान में सार्थक अन्तर नहीं है अर्थात् शून्य परिकल्पना असत्य सिद्ध नहीं होती है।

i:Lr|r 'kk/k v/;;u l; ikIr fu"d"k&

प्रस्तुत शोध समस्या के अध्ययन से शोधार्थी द्वारा निम्नांकित शोध निष्कर्ष प्राप्त किये गये–

1. 95 प्रतिशत विश्वस्तता स्तर पर पाया गया कि बी0टी0सी प्रशिक्षण व विशिष्ट बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों से निम्न दक्षताओं में अधिक दक्ष है–

- अनुदेशन के लिए तैयारी की क्षमता।
- शैक्षिक सामाग्री का विकास, निर्माण और उनके प्रयोग की दक्षता।
- कक्षा कक्ष में सम्प्रेषण की दक्षता।
- पहचान और उपचार की दक्षता।

2. 95 प्रतिशत विश्वस्तता स्तर पर पाया गया कि विशिष्ट बी0टी0सी प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षक बी0टी0सी0 प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों से निम्न दक्षताओं में अधिक दक्ष है–

- अनुदेशन के लिए तैयारी की दक्षता।
- अधिगम के मूल्यांकन की दक्षता।
- पहचान और उपचार की दक्षता।
- अनुदेशन के विधि की दक्षता।

3. 95 प्रतिशत विश्वस्तता स्तर पर पाया गया कि बी0टी0सी प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षक शिक्षामित्रों से निम्नलिखित दक्षताओं में अधिक दक्ष पाये गये–

- अनुदेशन के लिए तैयारी की दक्षता।
- शैक्षिक सामाग्री का विकास, निर्माण और उनके प्रयोग की दक्षता।
- बच्चों को अभिप्रेरित करने की दक्षता।
- अनुदेशन के विधि की दक्षता।
- पहचान और उपचार की दक्षता।

कक्षागत सम्प्रेषण व अधिगत के मूल्यांकन की दक्षता को छोड़कर बाकी सभी प्रकार की शिक्षण दक्षताओं में बी0टी0सी0 व विशिष्ट बी0टी0सी0 शिक्षक समान है। क्योकि विशिष्ट बी0टी0सी0 शिक्षक योग्यता भी उच्च होती है व उनकी शैक्षिक योग्यता भी उच्च होती है इसी कारण विशिष्ट बी0टी0सी0 शिक्षकों की शिक्षण दक्षता शिक्षामित्रों से अधिक पायी गयी। पहचान और उपचार की दक्षता व अधिगम के मूल्यांकन की दक्षता व अधिगम के मूल्यांकन की दक्षता में बी0टी0सी0 शिक्षक व शिक्षामित्र समान है, इसका कारण यह हो सकता है कि शिक्षामित्रों को समय–समय पर सेवा कालीन प्रशिक्षण दिया जाता है और करके सीखने का भी प्रभाव पड़ता है। समग्र रुप से देखा जाए तो विशिष्ट बी0टी0सी0 शिक्षक शेष दोनों प्रकार के शिक्षकों से अधिक दक्ष है इसी क्रम में बी0टी0सी0 शिक्षक शिक्षामित्रों से अधिक दक्ष है। यह अन्तर उनके प्रशिक्षण स्तर व शैक्षिक योग्यता के कारण होता है।

'kf{kd fufgrkFk%&

किसी भी योजना या नीति का निर्माण और उसके कार्यान्वयन के साथ–साथ उसकी सफलता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। सविंधान के अनुच्छेद–45 में वर्णित निर्देशात्मक सिद्धान्तों में 6–14 वर्ष के सभी बच्चों को निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा देने का प्राविधान है। प्राथमिक शिक्षा, शिक्षा की आधार शिला हैं। निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सफल संचालन के लिए योग्य शिक्षकों की आवश्यकता होती है।

Hkkoh vu| l/kku grq l>ko%&

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य की नितान्त आवश्यकता है। इससे सम्बन्धित अनेक अनुसंधान किये जा चुके है, किये जा रहें है और भविष्य में किये जाने की आवश्यकता है। भावी अनुसंधान के लिए नवीन अनुसंधान कार्य हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं।

1. प्रस्तुत अनुसंधान मात्र प्राथमिक स्तर के शिक्षकों की शिक्षण दक्षता से सम्बन्धित है। भविष्य में इस परिशिक्षा के अन्य स्तर जैसे– माध्यमिक तथा उच्च स्तर पर भी कार्य किया जा सकता है।
2. प्रस्तुत समस्या का अध्ययन विस्तृत क्षेत्र में तथा अन्य जनपदों के आधार पर किया जा सकता है।
3. प्रस्तुत अनुसंधान समस्या में ग्रामीण क्षेत्र के शिक्षकों पर अध्ययन किया गया है, भविष्य में शहरी क्षेत्र के शिक्षकों पर भी अनुसंधान कार्य किया जा सकता है।

lUnHk %

1. राय, पारसनाथ, अनुसंधान परिचय, पं0 लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा,
2. यादव, सुकेश, शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ एवं शैक्षिक सांख्यिकी, साहित्य प्रकाशन, आगरा
3. कपिल, एच0के0, अनुसंधान, विधियाँ (व्यवहार परख विज्ञानों में)
4. गुप्ता, एस0पी0, शैक्षिक मापन एवं मूल्यांकन, शारदा पुस्तक भवन प्रकाशन
5. बुच, एम0पी0, सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजुकेशन, रस्तोगी, कृष्ण गोपाल, भारतीय शिक्षा का विकास एवं समस्याऐं, रस्तोगी पब्लिकशन, मेरठ
6. गैरिट, एच0आई0, शिक्षा और मनोविज्ञान में सांख्यिकी के प्रयोग, कल्याणी पब्लिशर्स, लुधियाना, पंजाब
7. सुखिया, एस0पी0, शैक्षिक अनुसंधान के मूल तत्व, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा तृतीय संस्करण
8. सारस्वत, मालती, शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ।

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

feJ] /khjkinkRr] lkfRod rFkk lkRorh dk v/;;u

¼vlxj otkgr d§ ukVd *xkMl@xk/kh-dke* d§ lUnHkZ e½

vk'kh"k dqekj flag*

वाचिक अभिनय के माध्यम से असगर वजाहत का नाटक 'गोडसे@गाँधी.कॉम' शुरू होता है। जो कि नाटक के कथावस्तु का एक अंक है। मंच पर अंधेरा है। उद्‌घोषणा समाचार के रूप में शुरू होती है कि आपरेशन के बाद महात्मा गाँधी की हालत में तेजी से सुधार हो रहा है। इन पर गोली चलाने वाले नाथू राम गोडसे को अदालत ने 15 दिन की पुलिस हिरासत में दे दिया है।

नाटक के नाटकत्व में प्रवेश करते हैं। नाटकत्व बस इतना सा है कि 30 जनवरी सन् 1948 को जब गाँधी को गोडसे ने गोली मारी तो गाँधी बच जाते हैं जो कि असल में केवल नाटककार की अपनी सोच और समझ है और वह ऐसा क्यों सोचता हैं, दरअसल यही इस नाटक का केन्द्र बिन्दु है। साहित्य की दृश्य विधा के रुपक भाग के अन्तर्गत आने वाले नाटक में इतनी छूट है कि नाटककार नाटक के कथावस्तु में उत्पाद्य कर सके और इसी का नाटककार ने अपने नाटक में प्रयोग करते हुए अपनी बात कही है।

''पटेल : बापू .... नाथूराम गोडसे ने सब कुबूल कर लिया है।

गाँधी : कौन है ये? क्या करता था?

पटेल : पूना का है... वहाँ से एक मराठी अखबार निकालता था .... सावरकर उसके गुरू हैं हिन्दू महासभा से भी उसका संबंध है... ये वही हैं जिन्होंने प्रार्थना सभा में बम विस्फोट किया था... बहुत खतरनाक लोग हैं...।

गाँधी : (कुछ सोच कर) मैं गोडसे से मिलना चाहता हूँ...।

सब : (हैरत से)... जी?

पटेल : क्यों बापू... वह आपकी हत्या करना चाहता था...।

गाँधी : मिलने की यही वज़ह है।

गाँधी : आदमी परमात्मा की सबसे बड़ी रचना है... उसे समझने में समय लगता है। ...मैं जाऊँगा।''[1]

असगर वजाहत का नाटक 'गोडसे/गाँधी.कॉम' अपनी कथावस्तु दृश्य तथा सूच्य भेदों के माध्यम से एक कल्पना का निर्माण करती है। गाँधी गोली लगने के बाद मरते नहीं बल्कि जिंदा हैं। खुद की हत्या करने वाले से वे मिलना चाहते हैं ताकि यह जान सकें कि ऐसा क्या कारण था जिसके कारण गोडसे को ये लगने लगा था कि गाँधी की हत्या जरूरी है। जेल में जब गाँधी नाथूराम से मिलते हैं तो कहते हैं–

''नाथूराम परमात्मा ने तुम्हें साहस दिया... और तुमने अपना अपराध कुबूल कर लिया... सच्चाई और हिम्मत के लिए तुम्हें बधाई देता हूँ।

नाथूराम : मैंने तुम्हारी बधाई पाने के लिए कुछ नहीं किया था।

गाँधी : फिर तुमने अपना जुर्म... कुबूल क्यों किया है?

नाथूराम : (उत्तेजित होकर) जुर्म... मैंने कोई अपराध नहीं किया है। मैंने यही बयान दिया है कि मैंने तुम पर गोली चलाई थी। मेरा उद्‌देश्य तुम्हारा बध करना था।

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)।

गाँधी : तो तुम मेरी हत्या को अपराध नहीं मानोगे?
नाथूराम : नहीं...
गाँधी : क्यों?

[2]

गाँधी अहिंसा के पुजारी, नरम, सहज और उदात्त व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति थे, जबकि गोडसे की अपनी कोई विचारधारा ही नहीं थी। गोडसे के गुरु को जो सही लगता है वही गोडसे को भी। दो विचारधाराओं का आपस में टकराहट का नाटकीय वर्णन है 'गोडसे@गाँधी.कॉम'। एक तरफ समुद्र है तो दूसरी तरफ तालाब, एक चेतन है तो दूसरा जड़। तालाब और जड़ को इस बात का डर है कि कहीं वह समुद्र और चेतन में विलीन न हो जाए इसलिए वह अपनी छोटे विचार से उस उदात्त विचार को खत्म कर देना चाहता है। जबकि विचार कहाँ कभी खत्म होते हैं। गाँधी तो मर सकता है लेकिन गाँधी का विचार तो शायद सृष्टि के साथ ही समाप्त हो।

''नाथूराम : तुम हिन्दुओं के शत्रु हो... सबसे बड़े शत्रु... इस देश को और हिन्दुओं को तुमसे बड़ी हानि हुई है... हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान अर्थात् हिन्दुत्व को बचाने के लिए एक तो क्या मैं सैकड़ों की हत्या कर सकता हूँ।
गाँधी : ये तुम्हारे विचार हैं.... मैं विचारों को गोली से नहीं, विचारों से समाप्त करने पर विश्वास करता हूँ।''[3]

नाटककार भारत के आजादी तथा बटवारे के बाद की कहानी को नाटक के माध्यम से कहना चाहता है कि किन हालातों में गोडसे ने गाँधी पर गोली चलायी और गाँधी जो विचार रूप में जीवित हैं वे दरअसल चाहते क्या हैं? दुनिया की सारी समस्याओं को बातचीत के माध्यम से हल किया जा सकता है। चाहे वह भारत–पाकिस्तान हो या अन्य। गाँधी कांग्रेस के सामने प्रस्ताव रखते हैं कि आजादी की लड़ाई में हमारे साथ और हमसे अलग भी बहुत से लोग शामिल थे.... हमारे साथ ऐसे लोग भी थे जिनके खयालात एक–दूसरे से मिलते नहीं थे.... लेकिन आजादी पाने की चाह में कांग्रेस के साथ आ गए थे... क्योंकि कांग्रेस एक खुला मंच था जहाँ सबका स्वागत किया जाता था। अब आजादी मिल चुकी है। मंच को पार्टी नहीं बनाना चाहिए। उनके इस प्रस्ताव को कांग्रेस वर्किंग कमेटी खारिज कर देती है। ऐसा भारत के इतिहास में पहली बार होता है कि गाँधी के बातों को खारिज कर दिया जाता है या एक प्रकार से गाँधी को भी खारिज कर दिया जाता है। क्योंकि अब भारत शायद आजाद हो गया है। अब उन्हें सत्ता चाहिए केवल और केवल सत्ता किसी भी कीमत पर। यहाँ तक कि गाँधी को कांग्रेस ही जेल में डाल देती है।

''गाँधी : (गोडसे से) मैं 1915 में जब भारत आया था और यहाँ सेवाभाव से काम करना चाहता था तो मेरे गुरू महामना गोखले ने मुझसे कहा था कि गाँधी हिन्दुस्तान में कुछ करने से पहले इस देश को देख लो। और मैंने एक साल तक देश को देखा था। और उसका इतना प्रभाव पड़ा कि मैं चकित रह गया।
गोडसे : कैसे?
गाँधी : जिसे हम 'हिन्दुस्थान' या 'हिन्दुस्तान' कहते हैं वह एक पूरा संसार है गोडसे... और इस संसार में जो कुछ है... जो रहता है... जो काम करता है उससे हिन्दुस्तान बनता है।
गोडसे : ये गलत है 'हिन्दुस्थान' केवल हिन्दुओं का देश है...
गाँधी : तुम हिन्दुस्तान को छोटा कर रहे हो गोडसे... हिन्दुस्तान तुम्हारी कल्पना से कहीं अधिक बड़ा है... परमेश्वर की विशेष कृपा रही है इस देश पर...
गोडसे : सैकड़ों साल की गुलामी को तुम कृपा मान रहे हो?
गाँधी : गोडसे, असली आजादी मन और विचार की आजादी होती है... हिन्दूमत कभी पराजित नहीं हुआ, राम ने अपना विस्तार ही किया है...
गोडसे : तुम्हें राम से क्या लेना–देना... गाँधी... तुमने तो राम और रहीम को मिला दिया। ईश्वर अल्लाह को तुम एक मानते हो...
गाँधी : हाँ गोडसे मैं वही कह रहा हूँ जो यह देश हजारों साल से करता आया है... समझे? समन्वय और एकता।''

यदि यह देश यह संसार गाँधी के आदर्शों पर चले तो निश्चय ही मानवता की उस ऊँचाई को छू सकता है जिसकी हम केवल कल्पना मात्र ही करते हैं। गोडसे के वार्ड नं. 5 में जगह न दिए जाने पर गाँधी आमरण अनशन तक करते हैं। वह भी इसलिए कि गोडसे से बात की जाए उसके विचारों को सुना और समझा जाये।

प्रस्तुत नाटक को हमें केवल गाँधी और गोडसे तक ही सीमित करके नहीं सोचना चाहिए। बल्कि यह नाटक तात्कालिक परिस्थितियों को तथा उस समय से जोड़ कर देखने के लिए प्रेरित करता है जब हमारा देश दो टुकड़ों में विभाजित हुआ था। 14 अगस्त सन् 1947 को पाकिस्तान बना और 15 अगस्त 1947 को भारत। तब से लेकर आज तक (उन्नहत्तर वर्ष) हमारे वैचारिक मतभेद रहे हैं। क्योंकि हम आपस में बातचीत का सिलसिला कायम नहीं किये और जब भी किये हैं तो पूरा नहीं कर पाते। अब हमें जरूरत है कि हम 1947 को भूल जाएँ, 1965 को भूल जाएँ, 1971 को भूल जाएँ और 1999 को भी भूल जाएँ और एक स्वस्थ मानसिकता से बात शुरू करके पुनः इस भारत वर्ष की गरिमा को गौरवान्वित करें। और यही सत्य के साथ सबसे बड़ा प्रयोग हो सकता है। सच्चे अर्थों में गाँधी को मानवता की तरफ से दी जाने वाली सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

नाटक के उद्देश्य को पूरा करने के निहितार्थ बीच–बीच में अर्थ प्रकृतियों का भी प्रयोग किया गया है। जिससे नाटक की कार्यावस्था पूर्ण हो सके। जैसे–

''गाँधी : कौन हो तुम? क्या बात है?

सुषमा : मेरा नाम सुषमा है।

गाँधी : क्या करती हो?

सुषमा : बी.ए. का इम्तिहान दिया है।

सुषमा : ये नवीन है बापू।

गाँधी : तुम क्यों आए हो?

नवीन : आपके दर्शन करने ....।

गाँधी : दर्शन? क्या मैं तुम्हें मंदिर में लगी मूर्ति लगता हूँ?''[5]

नवीन और सुषमा के प्यार के माध्यम से गाँधी के ब्रह्मचर्य के पालन के प्रयोगों को चिन्हित करने का प्रयास नाटककार करता है।

नाटक में कुल 18 दृश्य हैं। जो नाटक के कथावस्तु दृश्य, सूच्य और सूच्य के विष्कंभक, अंकमुख तथा अंकावतार के साथ ही साथ नाटक की अर्थ प्रकृतियों का, कार्यावस्था का संधियों आदि नाटक के शिल्पों (अंकों) का अद्भूत समन्वय इस नाटक में किया गया है। वाक्य संरचना सरल और सहज है।

इस नाटक की कथावस्तु मिश्र (इतिहास और कल्पना) दोनों से ली गयी है। नायक का चरित्र, धीरोदात्त नायक का है। नायक गोली लगने के कारणों की खोज करता है, न कि एक आँख के बदले एक आँख की बात करता है जो कि अपने आप में एक महान विचार है। नाटक के गिरते हुए स्तर में यह एक अच्छा नाटक है जिसे आसानी से मंच पर अभिनीत किया जा सकता है। इस नाटक का सात्विक भाव, उभर कर सामने आता है। शुद्ध मन कायिक चेष्टा, राग–द्वेष की भावना से मुक्त निर्मल हृदय तथा उदात्त व्यक्तित्व से सुसज्जित है इस नाटक का नायक।

अतः मैं यह कहना चाहता हूँ कि एक व्यक्ति या एक राष्ट्र का सबसे बड़ा गुण होना चाहिए क्षमाशीलता यदि इस गुण को जो भी व्यक्ति जो भी राष्ट्र आत्मसात कर ले निश्चित रूप से वह व्यक्ति वह राष्ट्र महान् होगा...।

lUnHk %

1. गोडसे@गाँधी.कॉम, असगर वजाहत, पृ. 2, 2. वही, पृ. 3, 3. वही, पृ. 3–4,
4. वही, पृ. 19–20, 5. वही, पृ. 1–2

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

tBu e lonuk ,o f'kYi

jfodkUr tly*

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' आत्मकथा का आरंभ प्राथमिक विद्यालय में पढ़ रहे खुद एक अछूत बालक के साथ उसके सवर्ण समाज के गुरू के अनादरपूर्ण व्यवहार से होती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सवर्ण समाज के शिक्षित गुरू भी जाति की भावना से बहुत ग्रसित है। वे द्रोणाचार्य की परम्परा को पूरी तरह से निभा रहे हैं और आज के एकलव्य रूपी दलित समाज के बालकों को आज के सभी शिक्षा संस्थानों में शिक्षा ग्रहण करने को मुश्किल खड़ी कर रहे हैं या जान बूझकर इन्हें पढ़ने से रोक रहे हैं। इसमें सबसे पहले लेखक ने शिक्षकों का जातिवादी रूप उजागर करते हुए यह बताने की कोशिश भी की है कि शिक्षक दलितों के बच्चों के साथ के किस प्रकार भेद–भाव करते हैं और उन्हें इतना मारते पीटते है, और तरह–तरह की प्रताड़ना, दण्ड आदि हथकण्डे अपनाते हैं कि दलितों के बच्चे स्कूल में जाने की कोशिश भी नहीं करेंगें। दलितों के बच्चों के साथ यह जानबूझकर एक साजिश के तहत किया जाता है। इसी मानसिकता के कारण ही ऐसे शिक्षक बच्चों को पढ़ाने से अधिक उन्हें मारने पीटने में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। अतः एसे मानसिकता वाले शिक्षकों की संख्या आज भी कम नहीं है। जब ओमप्रकाश वाल्मीकि को स्कूल में भर्ती कराया जाता है तब स्कूल के हेडमास्टर कलीराम, ओमप्रकाश को पहले दिन ही स्कूल के लम्बे–चौड़े मैदान को लगातर दो दिन तक झाड़ू लगवाता है। तीसरे दिन वह चुपचाप कक्षा में जाकर बैठ जाता है पर उस दिन भी हेडमास्टर कलीराम की कुटिलता उभरकर सामने आती है और वह कक्षा में आकर ओमप्रकाश को कहता है कि ''अबे चूहड़े के मादर चोद कहाँ घुस गया..... अपनी माँ का।'' उनकी दहाड़ सुनकर मैं काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहाँ ''मास्साहब वो बैठा है कोणे में''। हेडमास्टर ने लपकर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उंगलियों के दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा के बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटक चीखकर बोला ''जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू.... नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ़ (निकाल) दूंगा।''[1]

यह प्रसंग ज्ञातव्य है कि एक दिन लेखक के पिता छात्र ओमप्रकाश वाल्मीकि को स्कूल के मैदान में झाड़ू लगाते हुए रास्ते से गुजरते समय देखते हैं। यह देखकर उनका खून खौल उठता है। उन्हें अपने प्रिय पुत्र को पढ़ाई छोड़कर स्कूल के मैदान में झाड़ू लगाते हुए देखा, तो क्रोधाग्नि में चीखकर वे कहते हैं ''कौण सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़म लगवावे है।''[2] यह कहकर जाते समय धमकी भी देकर जाते हैं कि आगे और दलितों के बच्चे पढ़ने आयेंगे। यहाँ पर द्रोणाचार्य आज के शिक्षकों के प्रतीक के रूप में प्रयोग हुआ है यह सब लेखक ने बपचन भोगे हुए अनुभवों के आधार पर निर्मित किया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जिस गाँव में रहते हैं वह गाँव त्यागियों का है। दलित वर्ग के सभी लोग त्यागियों के खेतों में काम करते हैं। सभी त्यागी समाज के लोग दलितों को मजदूरी देने मे कंजूसी करते हैं। क्योकि आज तक वे बहुत सारे काम इन दलितों से बेगार प्रथा के अन्तर्गत करवाते रहे हैं।

त्यागियों के सभी काम यही लोग करते आए हैं। लेखक की माँ त्यागियों और मुसलमानों के घरों में मवेशियों को बाँधने की जगह की साफ–सफाई करने का काम करती है और साथ–साथ घर के सभी लोग भी इस काम में निरंतर हाथ बटाते रहे हैं। प्रत्येक त्यागी के यहाँ कम से कम दस पंद्रह मवेशी (गाय,

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भैस और बैल) रहते हैं उनका गोबर उठाकर गाँव के बाहर ले जाना बहुत मुश्किल काम रहा है। फिर भी इतना काम करने के बावजूद जो भी कुछ मिलता है वह बहुत कम होता है इसलिए लेखक लिखता है कि '' इन सब कामों के पीछे, दो जानवर के पीछे फसल के समय पाँच सेर अनाज यानी लगभग ढाई किलो अनाज। दस मवेशीवाले घर में पच्चीस सेर अनाज (लगभग 12–13 किलों), दोपहर को प्रत्येक घर से एक बची–खुची रोटी, जो खास तौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी। कभी–कभी जूठन भी भंगन की टोकरी में डाल दी।''[3] शादी ब्याह के मौके पर भी इन्हें केवल जूठे पत्तल या जूठन ही दी जाती थी।

इस आत्मकथा में लेखक ने बरसात के दिनों की दुर्दशा का भी बहुत ही हृदय विदारक चित्रण किया है। लेखक और उनके दलित समाज के लोगों के घर मूसलाधार बारिश में टपकने लगते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि जोर की बारिश के कारण बहुत सारे घर मिट्टी के बने होने के कारण गिर भी जाते हैं। एक प्रसंग में लेखक कहता हैं कि ''बरसात के दिन नर्क से कम नहीं थे गलियों में कीचड़ भर जाता था, जिससे आना–जाना कठिन हो जाता था। कीचड़ मे सूअरों की गंदगी भरी रहती थी, और बारिश रुकने के बाद गंधियाने लगती थी। मक्खी–मच्छर तो ऐसे पनपते थे जैसे टिड्डी दल।''[4] एक रोज खूब बारिश हुई भी उस दिन किसी के घर में चूल्हा नहीं जल पाया था। सभी लोग अपना घर छोड़कर मामराज तगा के बैठक में चले गए थे। इन दिनों में दलित समाज की दयनीय स्थिति को लेखक ने उजागर किया है।

एक प्रसंग में ओमप्रकाश वाल्मीकि की माँ का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। गाँव में किसी त्यागी के घर बारात आती है। मेहतर दरवाजे पर जूठन की आस में टोकरे लेकर बैठ जाते हैं। उसी घर में काम करने वाले जो मेहतर होते हैं उन्हें परिवार के सभी सदस्यों के हिसाब से पत्तल भी मिलती है, जूठन से अलग लेखक की माँ एक पत्तल मांगती है। माँ के पत्तल मांगने पर घर का मालिक टोकरा भर जूठन देयकर पत्तल देने से इंकार कर देता है। इस पर लेखक की मकुंदी माँ भड़क उठती है और जूठन की टोकरी वहीं पलट तमतमाती हुई, अपने दोनों बच्चों के हाथ पकड़कर यह कहती हुई चली जाती है कि ''इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा...।''[5] इस जूठन से कल सबेरे बारातियों को नाश्ता करवा देना। यह घटना लेखक के मन में इस तरह गड़ जाती है कि फिर कभी जूठन को सहज भाव से स्वीकार नहीं करता है। इस प्रकार दलितों की महिलाओं में क्रांति की भावना पनपती हुई दिखाई देती है। इस घटना के पश्चात ओमप्रकाश वाल्मीकि की माँ का स्वाभिमानी स्वभाव उजागर हुआ है।

लेखक ने एक प्रसंग में बताया है कि, मरे हुए पशुओं को उठाने का काम चूहड़ों के जिम्मे था। इस काम के बदले उन्हें मेहनताना या मजदूरी नहीं मिलती थी। एक जानवर को उठाने के लिए पाँच–छः आदमी की आवश्यकता पड़ती थी। मरे हुए पशु को जल्दी नहीं उठाया गया तो त्यागियों की गालियाँ खानी पड़ती थी। मतलब इतना श्रम–साध्य काम करने के बाद बदले में जो मिलता था वह अपमान, गालियाँ और बेइज्जती ही होती थी क्यों कि यह काम उन बेगार प्रथा के रूप में करना पड़ता था। मरे पशु की खाल उतारने के बाद शहर जाकर बेचने से जितने पैसे मिलते हैं वही उनकी मजदूरी माना जा सकता है।

एक रोज ब्रह्मदेव तगा का बैल मर गया था। उस समय लेखक के पिता जी और भाई दोनों ही किसी काम से बाहर गये थे। दोनों में से घर में कोई नहीं था, ब्रह्मदेव तगा ने लेखक के घर आकर खबर कर दी थी। लेखक उस समय स्कूल में थे। माँ ने उसे बुला लिया और चाचा के साथ बैल की खाल उतारने भेज दिया था। उस दिन चाचा के कहने पर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने बैल की खाल उतारी थी। लेखक इन सब से उबरना चाहते थे। लेकिन परिस्थितियाँ ऐसी थी कि लेखक उसी दलदल में फंसते जा रहे थे। इस संदर्भ में लेखक लिखता है कि ''जैसे–जैसे खाल उतर रही थी, मेरे भीतर का रक्त जम रहा था। खाल उतारने में हमें कई घंटे लगे थे। चाचा ने खाल को जमीन पर फैला दिया था। उसमें लगे खून को सूखी जमीन ने सोख लिया था।''[6]

इस प्रकार खाल उतार कर उसे घर लेकर आए थे। आते समय घर जाने का रास्ता स्कूल के पास से ही था, इसलिए बालक ओमप्रकाश को इस बात डर लग रहा था कि खाल ले जाते समय उसके

स्कूल का कोई पहचान वाला विद्यार्थी देखेगा तो स्कूल में उसे बहुत तंग करेंगे। इसलिए वह अपने चाचा से भी यह बात कहते हैं, लेकिन चाचा इसे नहीं मानते हैं और खाल वाली गठरी बालक ओमप्रकाश बाल्मीकि को ही घर तक लानी पड़ती है। उस दिन लेखक की दशा देखकर उनकी माँ भी रो पड़ती है और भाभी कहती है कि ''इन से ये ना कराओ..... भूखे रह लेंगे कृकृकृ इन्हें इस गंदगी में ना घसीटो कृकृ।''[7] इसके साथ सूअर के बच्चे की बलि देने की घटना तो अत्यन्त मार्मिक और रौंगटे खड़ी कर देने वाली है।

बेगार प्रथा की एक घटना बताते हुए लेखक कहते हैं कि बस्ती के जवान लड़के बेगार करने से इन्कार कर देते हैं। क्योंकि तगा लोग काम के बदले मजदूरी मांगने पर ही नहीं देते हैं। इन दिनों तगाओं का इनके ऊपर दवदबा कम हो रहा था। इसलिए तगाओं ने ऐसी चाल चली कि पुरकाजी थाने के दरोगा से मिलकर एक षडयंत्र रचा था। दरोगा मौके के इंतजार में था। एक दिन गाँव में कोई बड़ा अफसर आने वाला था। इसलिए एक अतिथि गृह की साफ–सफाई करने के लिए दलितों की बस्ती में एक कर्मचारी आया था। साफ–सफाई के लिए कुछ लोगों की आवश्यकता थी, जिसके बदले में कोई मजदूरी या पैसा मिलने वाला नहीं था यह हमेशा की तरह बेगार प्रथा की तरह ही किया जाना था। इस घटना के बाद एका एक पुलिस बस्ती में आकर लोगों को जबरदस्ती पकड़ रहे थे और पुलिस थाना ले जाकर उन्हें मुर्गा बनाकर लाठियों से पीटा जा रहा था। यह उनके बेगार न करने की सजा थी। इस घटना को बताते हुए लेखक लिखते हैं कि ''खुले आम यह शौर्य उत्सव मनाया जा रहा था, जिसमें लोग मूक बने तमाशा देख रहे थे। कही कोई विरोध नहीं था प्रतिरोध नहीं था।''[8] इस प्रकार दलितों पर अन्याय विशिष्ट जाति या धर्म करता है। जो उनके मानवीय अधिकारों से वंचित रखती है इसलिए दलितों के प्रति किसी के भी दिल में मन में कोई संवेदना या सहानुभूति नहीं है। किसी ने ऐसा नहीं कहाँ कि दलितों पर अन्याय अत्याचार नहीं करो।

भारतीय हिन्दू वर्ण व्यवस्था में पशुओं को अच्छा स्थान दिया गया है गाय को माता कहा जाता है। चींटी को शक्कर खिलाई जाती है। यह मानकर कि जहाँ आत्मा होती है वहाँ परमात्मा होता है ऐसा मानने वाले हिन्दू समाज ने दलितों के साथ बहुत ही क्रूर अमानवीय व्यवहार किए हैं यह एहसास लेखक को हो जाता है और यहीं से लेखक के मन में दलित कविता के प्रति संस्कार पनपने लगते हैं और इन इन्हीं बातों से प्रेरित होकर लेखक प्रथमतः 'ठकुर का कुआँ' नामक कविता लिखते हैं।

लेखक दलित समाज में फैले अंधविश्वास का भी चित्रण किया है। मूल रूप दलित समाज अनपढ़ रहा है। इसलिए उनमें अंधविश्वास होना स्वाभाविक है। लेखक के भंगी बस्ती में कोई भी व्यक्ति बीमार पड़ता है तब लोग या परिवार वाले उसको दवा करने के बजाय भूत–प्रेत का चक्कर मानने लगते हैं और इससे छुटकारा पाने के लिए झाड़–फूँक, टोना, टोटका, ताबीज, गंडे भभूत आदि करने लगते हैं। लम्बे समय तक बीमारी रही तो 'पुच्छ' किया जाता है। ऐसे समय में भगत को बुलाकर गाना बजाना होता है, देवता भगत के शरीर में प्रवेश करते है बीमार व्यक्ति की तकलीफ के बयान करने पर भगत भूत या किस्सा छाया का विवरण देता है उसके निदान की बात कहता है इन देवताओं को 'पौन' कहा जाता है। इनके देवी–देवता भी सवर्ण समाज के देवी–देवताओं से अलग होते है। जिसमें माईमरदानी नामक देवी का नाम प्रमुख है। इस प्रकार आत्मकथाकार ने चूहड़ा समाज के रीति–रिवाज को उजागर किया है ऐसे ही अंधविश्वास के कारण लेखक के भाई 25 वर्ष की आयु में गुजर जाते हैं। पास–पड़ोस में निरंतर लड़ाई–झगड़े, गाली–गलौच, मार–पीट शराब पीनेवाले लोगों का माहौल होने के कारण यह आम बात बन गयी थी।

आत्मकथा में लेखक एक प्रसंग 'बरला इण्टर कॉलेज बरला' का अनुभव बहुत दर्दनाक बताते हैं। मास्टर फूल सिंह का सूरज सिंह को पीटना एक शिक्षक के नाम पर धब्बा है। यह ऐसे शिक्षक है जिन्हें आधुनिक द्रोणाचार्य कहा जा सकता है। सूरज देहरादून जैसे शहर में रहकर गाँव आता है। इसलिए उसका रहन–सहन अन्य दलित बालकों से अच्छा रहना, शिक्षकों को नहीं भाता है। क्यों कि एक चूहड़ा होकर उनसे बेहतर कैसे हो सकता है। इस लिए लेखक कहते हैं– ''ऐसे ही आदर्श शिक्षकों से पाला पड़ा

था उस समय बचपन से किशोर अवस्था की ओर बढ़ते हुए, जब व्यक्तित्व का निर्माण होता है तब ऐसे दहशत भरे माहौल में जीना पड़ा। इस पीड़ा का एहसास उन्हें कैसे होगा जिन्होंने घृणा और द्वेष की बारीक सुईयों का दर्द अपनी त्वचा पर कभी महसूस नहीं किया? अपमान जिन्हें भोगना न पड़ा? वे अपमान बोध को कैसे जान पाएगे?''[9] इन्हीं दिनों में एक बार बृजपाल त्यागी के गाँव से गेहूँ का कट्टा लाने के लिए भिक्खुराम के साथ केवल साइकिल चलाने को मिलती है यह सोचकर लेखक भी उसके साथ जाते हैं। बृजपाल त्यागी के घर जाने पर खाना–पीना हो जाता है, लेकिन एक व्यक्ति जब इनकी जाति के विषय में पूछता है तब सब सम्मान मिट्टी में मिल जाता है बृजपाल के घर का बूढ़ा उन्हें लाठी से मारता है। क्योंकि उन्होंने अपनी जाति नहीं बतायी थी, जब वे वापिस आते हैं तब उनकी साइकिल के ऊपर से बैलगाड़ी की पहिया चढ़ जाती है, और साइकिल टूट जाती है। मुजफ्फरनगर में मास्टर देवपाल त्यागी के पास वह रातभर रहते हैं उस रात लेखक को पूरी रात नंगे फर्श पर सोना पड़ता है, क्योंकि उस रात मास्टर वेदपाल त्यागी के घर एक पुरुष एक स्त्री को लेकर आता है। उस स्त्री के जिस्म के साथ दोनों पूरी रात एक के बाद एक खेलते हैं इस बात का अनोखा अनुभव लेखक को हो जाता है, इसलिए वे सोचने लगते हैं कि जो स्त्री दो–दो पुरुषों को समर्पित होती है वह शौक के लिए या मजबूरी के खातिर यह समझना बालक ओमप्रकाश वाल्मीकि को मुश्किल होता है। इसलिए यह अनुभव लेखक के लिए हमेशा पीड़ा दायक रहा है।

एक प्रसंग में लेखक इण्टर का अन्तिम वर्ष के छात्र थे, बोर्ड की परीक्षा थी। भविष्य इसी परीक्षा पर निर्भर था। लेखक को जान बूझकर कालेज के मास्टर प्रैक्टिकल करने से मना करते हैं। मतलब ओमप्रकाश बाल्मीकि को प्रैक्टिकल की पेपर में फेल कर दिया जाता है। इसके बाद लेखक देहरादून के डी0 ए0 वी0 कॉलेज में दाखिला लेते हैं वे देहरादून रहकर अपने मामा के पास रहकर पढ़ाई करने लगते हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि बरला के त्यागी इंटर कालेज में 12वीं तक पढ़ाई करने के बाद लेखक को डॉ0 बाबासाहेब अम्बेडकर का नाम भी मालूम नहीं होता है। इसमें लेखक की कोई कमी नहीं है, बल्कि इस व्यवस्था की सोची समझी साजिश रही है, क्योंकि सवर्णों ने निरन्तर डॉ0 बाबासाहेब अम्बेडकर का विरोध ही किया था और आज भी करते आ रहे हैं इनके विरोध का कारण अम्बेडकर का दलित होना ही है। इसलिए पूर्वाग्रह से ग्रसित मानसिकता के कारण शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों को डॉ0 अम्बेडकर के महत्व और उनके योगदान विषय में कभी जिक्र नहीं किया होगा जिसके कारण डॉ0 अम्बेडकर का जानना संभव है साथ ही ऐसी किताबों का उपलब्ध न होना और पाठ्यक्रम में भी डॉ0 अम्बेडकर का सहभाग न होना ही है, जिसके कारण लेखक ही क्या सवर्ण समाज के लोग आज भी अम्बेडकर को समझ नहीं पा रहे है। लेखक सबसे पहले अम्बेडकर के जीवन सम्बन्धित पुस्तक पढ़ने के पश्चात् लेखक अम्बेडकर कौन है? पता हो जाता है इसके बाद लेखक एक दिन कॉलेज में किसी ट्रेनिंग की बातचीत विद्यार्थियों में होती है उस ट्रेनिंग के विषय से पता चलता है कि ट्रेनिंग का अगला बैच जुलाई में शुरू होने वाला है। वे फार्म भरते हैं और उनका सलेक्शन ट्रेनिंग के लिए हो जाती है पढ़ाई बीच में ही छूट जाती है। लेखक आत्मनिर्भर बनाना चाहते हैं। इसलिए प्रशिक्षण लेना जरूरी समझते हैं। वे देहरादून से आर्डिनेंस फैक्ट्री खमरिया जबलपुर में दो वर्ष तक ट्रेनिंग लेते हैं। इन दिनों में सविता नामक ब्राह्मण लड़की उनसे प्रेम करने लगती है। लेखक और लड़की के पिता कुलकर्णी से अच्छा जान–पहचान होता है और घर आना–जाना हो जाता है। सविता का लेखक के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है इसलिए लेखक अपने जाति के विषय में सबिता को बताते हैं कि ''मैंने साफ शब्दों में कह दिया था कि मैंने उत्तर प्रदेश के 'चूहड़ा' परिवार में जन्म लिया है।''[10] जैसे ही लेखक अपनी जाति बताता है वैसे ही सारा प्यार मिट्टी में मिल जाता है।

लेखक की ट्रेनिंग पूरी होते ही आर्डिनेंस फैक्ट्री चन्द्रपुर महाराष्ट्र में लेखक की नियुक्ति होती है। चन्द्रपुर में कई कवि लेखकों के साथ संपर्क बन जाता है। इसके साथ ही 'मेघदूत' नामक नाट्य संस्थान की स्थापना भी करते हैं और इसके माध्यम से बहुत सारे नाटकों का मंचन भी करते हैं। यहाँ रहकर उनमें दलित आन्दोलन की ऊर्जा सामने आने लगती है बुद्ध के मानवीय विचारों से लेखक प्रभावित होते हैं। इसके बाद लेखक की शादी चन्दा नामक लड़की साथ हो जाती है।

महाराष्ट्र के चन्द्रपुर में रहकर ही लेखक दलित आन्दोलन से जुड़ जाते हैं। 1978 में 'दलित पैंथर' का आन्दोलन चल रहा था। मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम बदलकर डॉ0 बाबासाहेब अम्बेडकर विश्वविद्यालय करने के लिए महाराष्ट्र की अम्बेडकरवादी जनता ने बहुत संघर्ष किया था, परिणामस्वरूप सरकार ने नामांतर करने की घोषणा करते ही सवर्णों ने बहुत बड़ा विरोध प्रदर्शन किया था, दलितों की बस्तियाँ जलाई गईं, सैकड़ों लोग मारे गए। इसलिए सरकार ने नामांतर करने का फैसला वापिस लिया। इस स्थिति के विषय में लेखक कहते हैं कि ''हजारों वर्षों की घृणा एक बार फिर अपने मूल स्वरूप में दिखाई पड़ने लगी थी। इस आन्दोलन को मैंने बेहद करीब से देखा था। मेरा रोम–रोम आन्दोलन को महसूस कर रहा था। भारतीय समाज की क्रूर व्यवस्था व्यक्ति की योग्यता को नकार रही थी। उनकी दृष्टि में डॉ0 अम्बेडकर जन्मना महार थे। भले ही उनकी विद्वता आकाश जितनी ऊँचाई पा जाए।''[11]

दलित साहित्य की भाषा पर सवर्ण साहित्यकारों ने निरंतर आरोप लगाए हैं। क्योंकि इनकी भाषा में शालीनता नहीं है। इन्होंने अपने समाज की बोली भाषा में रचना की है, इसलिए यह भाषा सीधे दलितों के जीवन को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। अधिकतर दलित साहित्यकारों ने इसी भाषा में साहित्य रचना की है दलित साहित्य में गंदे अश्लील भाषा के प्रयोग मिलते हैं, क्योंकि दलित कवि कल्पनालोक में नहीं जीता, वह जीवन के कटु याथार्थ से रूबरू होता है। इसलिए यह इनकी यातनाओं की उपजी आक्रोशी भाषा तेज औजार की तरह भीतर तक झकझोर देती है। उनके साहित्य में दलित समाज की बोली बानी के अनेक शब्द मिलते हैं। दलित जिस परिवेश में जीवन जीते हैं वहाँ का माहौल गंदा है यहाँ गंदी गालियों में नंग–धडंग बच्चे घूमते हैं दूषित वातावरण है जिसे पारंपरिक आलोचक नहीं जानते हैं। इसलिए इनकी भाषा में अश्लीलता, गंदगी, नकार और विद्रोह, दलित जीवन विसंगतियों, उत्पीड़न शोषण और दमन का चित्रण करने के लिए यही भाषा दलित दमन का चित्रण करने के लिए यही भाषा दलित साहित्यकारों को ज्यादा सटीक लगती है। इसका प्रमाण ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में मिलता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में लेखक ने अधिकतर सामान्य बोली और देशी भाषा का प्रयोग किया है पर इसे अभिव्यक्ति करते समय कुछ संस्कृत से आए हुए तत्सम तद्भव, देशज शब्दों के साथ–साथ अंग्रेजी, उर्दू फारसी और अरबी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जैसे–

rRle 'kCn %& ''मेरी पत्नी से उसे यथासंभव अच्छा खाना खिलाया।''[12]

''उस रात उन चनों में जो स्वाद था, जो संतुष्टि थी वैसी संतुष्टि मुझे पाँच सितारा होटलों के खाने में भी नहीं मिली।''[13]

संकीर्णता, अन्त, संस्था, संदर्भ, संपर्क, रंग, अंकुरित, आशंका, भंगी, गंभीर, आडम्बर, सम्बोधन, सम्पादक, संदेह, संवाद, संपत्ति, संकोच, संकेत, संस्कार, अन्तर्मुखी, अन्तर्द्वन्द्व, स्वादिष्ट आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ मात्रा में 'जूठन' में दिखाई देता है।

rnHko & ''साहित्य में नर्क की सिर्फ कल्पना है। हमारे लिए बरसात के दिन किसी नारकीय जीवन से कम न थे।''[14]

घनिष्ठता, मित्रता, पासवाली, नारकीय, पिटनेवाला, घर आदि।

vxzsth 'kCn %& ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कहीं–कहीं विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किये हैं, लेकिन सब अधिकतर रोज बोलचाल की भाषा में प्रयोग होते रहे हैं। ''त्यागी इंटर कॉलेज में वह मास्टर रह चुका था।''[15]

इस प्रकार कुछ शब्दों को देखा जा सकता है। जैसे थ्रेशर, इंटरव्यू, स्कूल, कॉलेज, हाफ पैन्ट, स्काउट सेक्शन, फैशन, पीरियड, मॉनीटर, कंडक्टर, हाईस्कूल, ट्रेनिंग, स्टेशन, प्राइवेट, लंच, हेडमास्टर, रोडवेज, क्लर्क आदि।

mnw] vjch vkj Qkjlh d 'kCn %&

वाल्मीकि जी 'जूठन' में कुछ उर्दू, फारसी और अरबी भाषा के शब्द मिलते हैं। जैसे–

''बैठक का दालान पार करते ही खुला आँगन था। जिसके चारों ओर पक्की ईंटों के मकान थे। मकानों के आगे बरामदा था।''[16]

किताब, वक्त, खिलाफ, पर्चे, निगाह, वजूद, दाखिला, तारीख, मदरसा, इजाजत, साफ–सफाई कमीज, पाजामा, शादी, दरवाजा, तंग आदि।

xkeh.k rFkk cky pky d: 'kCn %&

“अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया.... अपनी माँ....।”[17]

इनके अतिरिक्त मैदान, झाडू, कमरा, फोड़ा, धूल क्लास, हाड़–गोड़, तड़के, जूठन, पत्तल, चट आदि अनेक शब्द मिलते हैं।

fu"d"k %&

हिन्दी में आत्मकथा लेखन बहुत पुराने समय से होता रहा है पर आत्मकथा लिखना सचमुच बहुत हिम्मत का काम है। आत्मकथा लिखने के लिए जिस प्रकार की तटस्थता, ईमानदारी, प्रामाणिकता और निर्ममता, की आवश्यकता होती है, हिन्दी में अपने हिन्दू संस्कारों के कारण उसका अभाव ही रहा। दरअसल हिन्दी साहित्यकारों का चरित्र यूँ भी दोहरा रहा है, अतः हिन्दी में जितनी भी आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें सत्य इतना ही है, जितना कि लेखक के व्यक्तित्व को उभारने में सहायक सिद्ध हुआ हो।

इसलिए आत्मकथाओं पर निरन्तर सवाल उठते रहे हैं। बावजूद इसके हिन्दी दलित आत्मकथा सच्चे अर्थों में आत्मकथा है। क्योंकि इसमें भोगे हुए अनुभव होते हैं, जो सवर्ण समाज इन्हें कभी समझ नहीं पाएगा। दलित आत्मकथा लिखने के संकट दोहरा होता है। क्योंकि दलित लेखकों को समाज, जाति, परिवार और रिश्तेदारों का भी सामना करना पड़ता है। 'जूठन' की रचना जिस माहौल को लेकर हुई है वहाँ गंदगी बदबूदार जगह, गाली–गलौज, भूख मरी, लाचारी, बेचैनी, जाति का दंश, सवर्णों का दलितों के प्रति अन्याय, और दुर्व्यवहार आदि। दलित जीवन के विषय में सवर्ण उतना ही जानता है जितना वह सुना है, दलित जीवन की यातना दलित ही जानता है। परिवार, जाति–बिरादरी के रीति रिवाज उनका जीवन और अन्य समाज को देखने से पता हो जाता है। दलितों को बेगार करनी पड़ती थी और निरन्तर अन्याय, अत्याचार सहने पड़ते हैं। इन सब के मूल में भारतीय वर्ण–व्यवस्था ही जिम्मेदार हैं। जिसके कारण दलित निरन्तर पिसता रहा है। इस आत्मकथा में वर्ण–व्यवस्था के घिनौने रूप को उजागर किया गया है। यह आत्मकथा उन तमाम दलितों के जीवन की यातना बनकर प्रस्फुटित होती है, जिन्होंने इस जीवन को भोग है।

lUnHk %

1. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवीं आवृत्ति : 2014, पृ0सं0 15
2. वहीं, पृ0सं0 16
3. वहीं, पृ0सं0 19
4. वहीं, पृ0सं0 30
5. वहीं, पृ0सं0 21
6. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवीं आवृत्ति : 2014, पृ0सं0 47
7. वहीं, पृ0सं0 48
8. वहीं, पृ0सं0 51
9. वहीं, पृ0सं0 62
10. वहीं, पृ0सं0 119
11. वहीं, पृ0सं0 129
12. वहीं, पृ0सं0 20
13. वहीं, पृ0सं0 33
14. वहीं, पृ0सं0 30
15. वहीं, पृ0सं0 68
16. वहीं, पृ0सं0 65
17. वहीं, पृ0सं0 15

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

eukgj ';ke tks'kh ds miU;klksa esa L=h&i:"k dk jkxkRed lEcU/k

MkW enuy tks'kh*
vfudk flag**

मनोहर श्याम जोशी जी एक उच्च बौद्धिक क्षमता वाले लेखक हैं। इनके उपन्यास कथ्य और शिल्प की दृष्टि से हिन्दी कथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने लेखन कार्य उस समय शुरू किया था, जिस समय प्राचीन मूल्यों का ह्रास और नवीन मूल्यों को अपनाने के बीच का द्वन्द चल रहा था। जोशी जी उत्तर आधुनिक सोच वाले सहित्यकार थे। वे आज के चिन्तन के साथ–साथ आने वाले परिणाम के विषय में भी सोचते थे।

कृष्ण कुमार यादव जी का जोशी जी के विषय में मानना है– "मनोहर श्याम जोशी के पास वैचित्र्य की कमी नहीं थी। साधारण चरित्रों का अद्भुतिकरण और अद्भुत चरित्रों का सामान्य विश्लेषण उनकी रचनाओं की एक दुर्लभ विशेषता रही है। वे हमेशा निम्नवर्गीय या निम्नमध्यवर्गीय पात्रों को उठाते हैं।"[1]

मनोहर श्याम जोशी जी ने अपने मन के किस्सागोई विचारों को केवल पत्रकारिता एवं कथा साहित्य के माध्यम से ही अभिव्यक्त किया है। उन्होंने समकालीन विसंगतियों पर इन माध्यमों से ही व्यंग्य किया है। उपन्यास विधा स्वयं में अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। मुंशी प्रेमचन्द जी उपन्यास में मानव चरित्र को प्रमुखता प्रदान करते है।

प्रेमचन्द जी के अनुसार– "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"[2]

प्रत्येक उपन्यास में मानव चरित्रों के रूप में स्त्री–पुरूष का आधिपत्य होता है। स्त्री – पुरूष के आपसी सम्बन्धों से ही एक विशिष्ट उपन्यास की रचना होती है। उपन्यास में स्त्री और पुरूष के सम्बन्ध कई रूपों में होते हैं– प्रेमी–प्रेमिका का सम्बन्ध पति–पत्नी का सम्बन्ध, पिता–पुत्री का सम्बन्ध, भाई–बहन का सम्बन्ध, देवर–भाभी का सम्बन्ध। परिवार में स्त्री–पुरूष के रागात्मक सम्बन्धों से ही समाज का निर्माण होता है।

रागात्मकता का अर्थ–मधुरता से है। किसी रिश्ते में मधुर, सौहार्दपूर्ण भाव ही रागात्मकता है। मनोहरश्याम जोशी जी के उपन्यास स्त्री–पुरूष के रागात्मक सम्बन्धों के ज्वलन्त उदाहरण है। इनके उपन्यासों में स्त्री और पुरूष के प्रत्येक रूप में अलग–अलग सम्बन्धों को उजागर किया गया है। प्रेम एक मधुर सम्बन्ध है। जोशी जी के उपन्यासों में प्रेमी–प्रेमिका का प्रेम काम भावना को जन्म देता है। स्वयं जोशी जी के अनुसार प्रेम को कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–Þप्रेम किन्हीं सयानों द्वारा बहुत समझदारी से ठहरायी जाने वाली चीज नहीं। वह तो विवाह है जो इस तरह ठहराया जाता है।"[3]

प्रेम तो कही भी किसी से भी हो सकता है ओर जो इस प्रेमपाश में बंधे होते हैं, वही प्रेमी–प्रेमिका होते है। जोशी जी प्रेम की परिभाषा विचित्र प्रकार से देते है–"चौंका होना प्रेम की लाक्षणिक स्थिति जो है। जिन्दगी की घास खोदने में जुटे हुए हम जब कभी चौंककर घास, घाम और खुरपा तीनों भुला देते हैं, तभी प्यार का जन्म होता है।"[4]

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कन्या गुरूकुल परिसर (गुरूकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)।
**शोध छात्रा, हिन्दी, गुरूकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

जोशी जी के उपन्यासों में उत्तरा आधुनिकतावाद का प्रभाव है। इनके उपन्यासों में स्त्री और पुरूष के सम्बन्ध व्यावहारिक है। l/kh'k ipkjh d vu|kj&"उत्तर–आधुनिकता में सम्बन्ध व्यावहारिक (पैरालॉजिकल) होते हैं, सभंग होते हैं, विपदग्रस्त होते (कैटास्ट्रोफिक) हैं, असुधार्य होते हैं और विडम्बनात्मक होते हैं। व्यावहारिकता उत्तर आधुनिकता का सार है। आदर्शहीन, प्रतिबद्धताहीन सम्बन्ध, जो क्षण–क्षण बदलते हैं, वे मूलतः सत्तात्मक सम्बन्ध होते हैं।"[5]

जोशी जी के उपन्यासों में प्रेमी–प्रेमिका का प्रेम मात्र दैहिक प्रेम है, जिसमें उन्मुक्त यौन चेतना को उजागर किया गया है। इनके 'कसप' उपन्यास में सर्वप्रथम प्रेम का जन्म पखाने में होता है। वहीं पर प्रेमी देवीदत्त (डी0डी0) प्रेमिका मैत्रेयी उर्फ बेबी का प्रथम मिलन होता है। प्रेमी दब्बू किस्म का है लेकिन प्रेमिका दबंग व खिलंदड अंदाज वाली है। इनका प्रेम तृप्ति की इच्छा करता है। "नहीं दिया जाने कहने को मैंने, एक वहीं नहीं दिया जो मेरे कपड़ों के नीचे ठहरा। वह नदी–पर्वत–जंगल– सूरज–चाँद–फूल–पत्ती जैसा जो होगा, जिसकी तू कर रहा था बात।"[6]

"आ!" वह कह रही है, "जो तू मेरा मरद है तो आ भोग लगा ले मेरा। जाकर कह दे मेरे इजा–बाबू से शादी तो हो ही गयी थी गणानाथ में, चतुर्थी कर्म भी हो गया बल यहाँ।"[7]

बेबी के कहे गये वाक्य से ऐसा लगता है जैसे प्रेम में केवल शारीरिक भोग की ही अनिवार्यता है। इनका प्रेम केवल देह तक ही सिमट कर रह जाना चाहता है। दैहिक प्रेम क्षणिक होता है। वर्तमान समय के स्त्री–पुरूष केवल उन्मुक्त प्रेम में विश्वास करते हैं। जोशी जी का 'हमजाद' उपन्यास भी प्रेमी–प्रेमिका के रागात्मक सम्बन्धों के लिए प्रसिद्ध है। इसमें कोई भी किसी का सच्चा प्रेमी नही है। केवल सच्चा प्रेम दैहिक सुख में निहित है। उदाहरणार्थ– तिलक और मैना का प्रेम कुछ इस प्रकार झलकता है– "मैंने उसके लबों पर अपने लब रख दिये और उसके जिस्म पर अपनी बाँहों का कसाव बढ़ा दिया। जिस तरह मैना ने मुझे भी बाँहों में कस लिया, जिस खुँखारी से उसने अपने होंठों से मेरे होंठों को कभी पीना और कभी पीसना शुरू किया, उससे साफ जाहिर हो गया कि मैना भी हमारी उल्फत को ख्वाबगाह तक पहुँचाने के लिए शुरू से इतना ही तड़प रही है जितना कि मैं।"[8]

इस प्रकार जोशी के 'हमजाद' उपन्यास में प्रेमी–प्रेमिका का प्रेम केवल मांसल–प्रेम है जो प्रेम को केवल क्षण भर के लिए भोगना चाहता है। कुछ इसी तरह का प्रेम 'क्याप' उपन्यास में मैं (नायक) और उत्तरा (नायिका) के मध्य दिखाया गया है– "हम सोहन हलुवा की टिकिया खाने की बात भूलकर मानो एक–दूसरे को ही खा डालने की इच्छा कर डालने लगे। असली प्यार तो वही है ना जो प्रेमी–प्रमिका को एक–दूसरे के लिए आहार बना दे।"[9] ऐसे उदाहरण अश्लीलता की हद तक पहुँच जाते हैं। यही है आज के आधुनिक प्रेमी–प्रेमिका का रागात्मक सम्बन्ध। पति–पत्नी एक दूसरे के पूरक होते हैं। अगर उनके दाम्पत्य जीवन में प्रेम और विश्वास न हो तो वह सुखी दाम्पत्य जीवन नहीं हो सकता।

डॉ0 गोविन्द रजनीश के अनुसार–"पुराने मूल्यों के विघटन, अपनी पहचान की छटपटाहट, बढते हुए अहं, शरीर सुख की बढ़ती कामना के कारण महानगरीय दाम्पत्य जीवन दिशाहारा हो गया है।"[10]

जोशी जी के उपन्यासों में पति–पत्नी का रागात्मक सम्बन्ध दिखाया गया है। 'कौन हूँ मै' उपन्यास में पति–पत्नी के अनैतिक सम्बन्ध दर्शाए गए है। जिसमें एक पति अपनी पत्नी को केवल भोगने की दृष्टि से पत्नी मानता है–"पति ने स्वयं ही मेरी यातना बहुत शीघ्र समाप्त कर दी मुझे मसनद पर गिराकर भोग लिया और बोले कि अब जाओ मुझे नींद आ रही है। मैने संकल्प कर डाला कि अपनी रातों को कटखना एकान्त सह लूँगी किन्तु पति से रात को दर्श–पर्श का सुख देने को न कहूँगी।"[11]

इस तरह के सम्बन्धों से पति–पत्नी का आदर्शात्मक प्रेम नहीं झलकता, अपितु केवल शारीरिक तृप्ति का ही प्रेम नजर आता है। पति–पत्नी के अश्लील, अनैतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त आदर्शात्मक सम्बन्ध भी है। पति–पत्नी के रूप में आदर्शात्मक सम्बन्ध 'कसप' उपन्यास में मिलते हैं, उपन्यास की नायिका मैत्रेयी उर्फ बेबी ने श्यामसुन्दर मिश्र से शादी की है, जो मैत्रेयी पर पूरी तरह आसक्त है। उनका मधुर रागात्मक सम्बन्ध कुछ इस प्रकार से दिखाई देता है–"मिश्र दम्पत्ति का घर समन्वित संस्कृति का, आधुनिक भारतीयता का प्रतीक है जो भी जाता है प्रभावित होकर लौटता है भारतीय लोक संस्कृति और

आधुनिक कला के इस संगम से। प्रशासक और राजनीतिज्ञ दोनों ही श्रीमान और श्रीमती मिश्र को अपनी बिरादरी में विशिष्ट मानते हैं। संस्कारहीन भ्रष्टाचार की बाढ़–सी आयी है देश में और उसके मध्य मिश्र–दम्पति किसी तरह संस्कृति का एक द्वीप बनाये हुए हैं।"[12]

पति–पत्नी के मधुर रागात्मक सम्बन्ध का एक ज्वलन्त उदाहरण बेबी (मैत्रेयी) के पिता शास्त्री जी और शास्त्रानी जी के आपसी सम्बन्ध का है। शास्त्री जी अपनी पत्नी के विषय में सोचते है– "उनके लिए तो यह थोडी–सी साँवली, भारी बदनवाली, आँखे नचाने वाली, व्यवहार कुशल देहातन ही ठीक थी। यह देहातन और तो और, उस पुस्तक मुखी की स्मृति इस पुस्तक प्रेमी के मन में जीवित रखने का दायित्व भी कुशलता से निबाह सकी।"[13]

शास्त्री जी को विवाह से पहले किसी पुस्तकमुखी स्वभाव वाली से प्रेम था, लेकिन किसी कारणवश शादी नहीं हो पायी। शास्त्री जी की पत्नी हमेशा उनको उस पुस्तकमुखी की प्रत्येक सूचना लाकर देती। उस पुस्तकमुखी की प्रसव के दौरान मौत होने की सूचना भी शास्त्रानी जी ने भरे हुए गले से दी थी। उन्हें अपनी सौत से लगाव था। शास्त्रानी जी की यही बात शास्त्री जी को उन पर पूरी तरह आसक्त कर देती थी। जोशी जी के उपन्यासों में जहाँ एक ओर प्रेमी–प्रेमिका, पति–पत्नी के मध्य उन्मुक्त प्रेम व आदर्श प्रेम दोनों का समन्वय है, वहीं दूसरी ओर उनके उपन्यासों में पिता–पुत्री के भी दोनों तरह के सम्बन्धों को उजागर किया गया है। ^d l i^ उपन्यास में दोनों तरह के उदाहरण मिल जाते हैं। आदर्श रागात्मक सम्बन्धों की डोर मैत्रेयी उर्फ बेबी के अपने पिता के साथ मधुर सम्बन्ध है, जो बेबी की प्रत्येक गलत हरकत को बालक्रीडा, बालहठ कह कर टाल देते हैं।

"शास्त्री जी ने इस बच्ची को देखा और पूछा अपने से कि बच्ची से कैसे कहा जाता है तू अब केवल स्त्री है। और अगर कह दिया जाता है ऐसा, तो फिर यह कैसे कहा जाता है कि यही वयस्कता तेरी स्वतन्त्रता का हनन करती है। बच्ची ! अब हम तेरी हर बात को बचपना मानकर उड़ा नहीं सकते। और स्त्री! तू कभी ऐसी स्त्री हो नहीं सकती कि अपने मन की कर सके। बच्ची स्त्री, तू अपने को स्त्री जान, स्त्री–बच्ची, तू अपने को हमारी बच्ची–भर मान।"[14]

दोनों पिता और पुत्री में मित्र जैसा सम्बन्ध है। दोनों एक–दूसरे को अपनी बात समझाते हैं और शास्त्री जी मैत्रेयी को गलत–सही का फैसला करने का अधिकर देते है। दोनों के विचार एक–दूसरे से मिलते हैं। किसी भी बात को शास्त्री जी मैत्रेयी पर जबरदस्ती नहीं थोपते हैं। दोनों का लाड़–प्यार कुछ इस प्रकार दिखाया है–"और तब पुत्री बाँहें हटाती है पिता के गले से। हथेलियों में लेती है पिता की हथेलियाँ मानों वह वृद्ध नहीं, समवयस्क हो और कहती है प्रौढ स्वर में, "इस बारे में बाद में बात कर लेंगे, अच्छा। तुम अब आराम करो बाबू।"[15]

'कसप' उपन्यास में एक ओर पिता–पुत्री के मधुर रागात्मक सम्बन्ध हैं, वहीं दूसरी ओर पिता–पुत्री के मध्य अनैतिक सम्बन्ध भी दिखाये गये हैं। गुलनार और उसके सौतेले पिता के मध्य जो सम्बन्ध दिखाया है, उसी का ज्वलन्त उदाहरण इस प्रकार है– "क्या तुम समझते हो कि वह मेरा सौतेला पिता, रंगमंच का जीनियस कभी मेरी मदद करता आगे बढ़ने में ? वह तो मुझे वात्सल्य भाव से भोगता रहता और चाहता कि मैं प्यारी–प्यारी बच्ची बनी रहूँ, उसके बिस्तर की शोभा बढ़ाती रहूँ। यह तो मैं थी जो उसे जता सकी कि इस तरह के वात्सल्य की कीमत चुकानी पड़ती है पिताजी।"[16]

पिता–पुत्री के ऐसे सम्बन्धों को दिखाकर जोशी जी ने आधुनिक जगत की दुर्दशा को समाज के समाने लाने का जोखिम उठाया है। स्त्री–पुरूष के सम्बन्धों में भाई–बहन के पवित्र रागात्मक सम्बन्धों को भी जोशी जी ने अपने उपन्यासों में दर्शाया है। भाई–बहन के साथ हमेशा साये की तरह रहकर उसकी रक्षा करता है। वह हमेशा उसके हितार्थ अपने कर्त्तव्यों को पूरा करता है। भाई–बहन का रागात्मक सम्बन्ध ^dku g e!* उपन्यास में मिलता है। जिसकी नायिका विभावती है और उसका भाई सत्येन्द्र नाथ बनर्जी। सत्या बाबू हमेशा उसके बाल विवाह के लिए माताजी और मामाजी से विवाद करता है और विभावती को पढ़ा–लिखाकर सही उम्र में ही उसकी शादी किसी पढ़े–लिखे इंसान से ही करवायेंगे। वह मात्र तेरह वर्ष की विभावती को समझाते रहते हैं कि "उन्होंने मुझे आश्वस्त किया कि वह मुझे ऊँची शिक्षा दिलवाएँगे ताकि मैं कोई अच्छी सरकारी नौकरी पा सकूँ। यही नहीं, मेरा विवाह किसी सुयोग्य युवक से होने के बाद ही वह स्वयं विवाह करेंगे।"[17] सत्या बाबू बाल विवाह के विरोधी है, दोनों

भाई–बहन का प्रेम देखने योग्य है– "दादा के प्रति माँ के इस पक्षपातपूर्ण व्यवहार से मेरे मन में दादा के प्रति और ईर्ष्या का भाव भी कभी नहीं उपजा। कारण परिवार में वही मुझे सबसे अच्छा मानते थे और मेरे लिए तो वह बन्धु ही नहीं, एक रूप में पिता एवं गुरू और दूसरे रूप में सखा–समान भी थे। बल्कि सच कहूँ तो वह मेरे आराध्य थे।"[18]

इस प्रकार जोशी जी ने उपन्यासों में भाई–बहन का सम्बन्ध विशिष्टता के साथ उजागर किया है। परिवार में स्त्री का एक रिश्ता अपने पति से होता वही एक रिश्ता अपने देवर यानि पति के छोटे भाई से होता है। देवर–भाभी का रिश्ता खूब हँसी–मजाक वाला होता है। जोशी जी के उपन्यास 'ट टा प्रोफेसर' में इस रिश्ते को कुछ इस तरह से दिखाया गया है – "भाऊ से खुलकर कोई बात करता तो बस बोज्यू। और वही थी जो पहले दिन से उसका माथा ही नहीं, गाल भी चूमती थी, ओंठ भी चूमती थी। बोज्यू भाऊ से दस वर्ष बड़ी थी। इस घर में बहू की हैसियत से कदम रखने पर उसने अपने चार वर्ष के इस छोटे–से इकलौते देवर से हँसी–ठट्ठे का रिश्ता सहज ही कायम कर लिया था।"[19]

बोज्यू (भाभी) कम उम्र में ही विधवा हो गई थी। उन्होंने अपने उन्मुक्त प्रेम को अपने से दस साल छोटे देवर पर लुटाया था। अंततः मनोहर जोशी जी के उपन्यासों में स्त्री–पुरूष के रागात्मक सम्बन्धों को वास्तविकता के साथ उजागर किया गया है। जोशी जी उत्तर–आधुनिकतावादी व्यक्ति थे। अपने उपन्यासों में उन्होंने वर्तमान में स्थापित होने वाले सम्बन्धों को उजागर किया है। प्रेमी–प्रेमिका का सम्बन्ध उदात्त न होकर कुछ समय के लिए स्थापित होने वाला व्यापार रह गया है। इसमें एक–दूसरे के प्रति काम की भावना प्रज्ज्वलित रहती है। उन्होंने पति–पत्नी के आदर्श रूप की भी स्थापना की। साथ ही कहीं–कहीं इन्होंने विवाहेत्तर सम्बन्धों की भी चर्चा की है। 'हमजाद', 'कौन हूँ मैं' इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। 'हमजाद' उपन्यास में प्रेम के नाम पर एक–दूसरे को छलने की प्रवृत्ति ही रही है। इसी तरह पिता–पुत्री के मध्य भी जोशी जी ने मधुर रागात्मक सम्बन्धों के साथ–साथ अव्यवहारिक सम्बन्धों को भी पेश किया है। वह इन सम्बन्धों के माध्यम से पाठक वर्ग को यह संदेश देना चाहते हैं कि अत्याधुनिक समाज में कुछ भी हो सकता है, जिसकी कल्पना भी नहीं की गयी हो।

lUnHkZ %

1. उत्तरआधुनिक थे मनोहर श्याम जोशी (www.sahityashilpi.com>मुख पृष्ठ > कृष्ण कुमार यादव > मनोहर श्याम जोशी से अंकित
2. रामकृष्ष्ण मिश्र, गोदानः सौन्दर्य और समीक्षा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली–6, पृ02
3. मनोहर श्याम जोशी, कसप, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली, पृ0 13
4. वहीं, पृ0–9
5. उद्घोषांत, डॉ0 मृदुल जोशी, पाश्चात्य काव्यानुशीलन, सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, एन–3/25 मोहन गार्डन, उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059, पृ0 230
6. मनोहर श्याम जोशी, कसप, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली, पृ0 256
7. वहीं, पृ0–257
8. मनोहर श्याम जोशी, हमजाद, पृ0–91, किताबघर प्रकाशन, 4855–56/24, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, पृ0 91
9. मनोहर श्याम जोशी, क्याप, वाणी प्रकाशन, 4695, 21–ए दरियागंज, नई दिल्ली–110002, पृ0 75
10. डॉ0 गोविन्द रजनीश, साहित्य का सामाजिक यथार्थ, चिन्मय प्रकाशन 153, चौड़ा रास्ता जयपुर–302003, प्रथम संस्करण–1992, पृ0 42
11. मनोहर श्याम जोशी, कौन हूँ मैं, वाणी प्रकाशन, 4695, 21–ए दरियागंज, नई, दिल्ली–110002, पृ0–124,
12. मनोहर श्याम जोशी, कसप, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली, पृ0–267
13. वहीं, पृ0–110
14. वहीं, पृ0–134
15. वहीं, पृ0–136
16. मनोहर श्याम जोशी, कसप, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली, पृ0–159–160
17. मनोहर श्याम जोशी, कौन हूँ मैं, वाणी प्रकाशन, 4695, 21–ए दरियागंज, नई दिल्ली–110002, पृ0–60,
18. वहीं, पृ0–57
19. मनोहर श्याम जोशी, ट टा प्रोफेसर, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली, पृ0–61,

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

jk"Vªh; uotkxj.k o L=h&iz'u

ehrk lkyadh*

19वीं सदी में भारत में आये अनेक परिवर्तनों व उससे उपजी आधुनिक मानसिकता व एक नयी विचार दृष्टि से भारतीय धर्म, समाज, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था का किया गया पुनर्मूल्यांकन भारत के इतिहास में नवजागरण के नाम से विख्यात है। जिसने भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व साहित्यिक मूल्यों को प्रभावित किया। जिस प्रकार यूरोप में 14वीं सदी में हुए नये आविष्कारों व औद्योगिक विकास ने यूरोपीय रिनेसां को जन्म दिया, उसी प्रकार भारत में 19वीं सदी में आये अनेक परिवर्तनों जैसे– प्रेस की स्थापना, संचार साधनों का विकास, शिक्षा का विकास, मध्यवर्ग का उदय आदि ने भारतीय नवजागरण को जन्म दिया। यद्यपि यूरोपीय रिनेसां व भारतीय नवजागरण भिन्न कालावधि व भिन्न परिस्थितियों की देन है, किन्तु इनके स्वभाव व मूल्यगत दृष्टिकोण में काफी समानता है। जैसे– मानवतावादी दृष्टिकोण, तर्कवाद व बुद्धिवाद का विकास आदि।

ए डिक्शनरी ऑफ फिलोसफी में नवजागरण की व्याख्या करते हुए कहा गया है– "'रिनेसां' (नवजागरण) शब्द उन व्यापक सामाजिक और दार्शनिक सिंद्धांतों को द्योतित करने हेतु दर्शन के इतिहास में प्रयुक्त होता है, जो कि सामंती पतन और प्रारंभिक पूंजीवादी समाज की स्थापना के दौरान(15वीं सदी से 17वीं सदी के पूर्व) यूरोप में (प्रथमतः इटली में) विकसित हुए। इस समय जब रूढ़िवाद आधिकारिक दर्शन बना हुआ था, तब मानववादी संस्कृति के उदय ने, प्राचीन काल की दार्शनिक बपौती के पुनरुत्थान ने और महत्वपूर्ण वैज्ञानिक खोजों की श्रृंखला ने नवजागरण के प्रगतिशील दर्शन को ब्रह्म विज्ञान के प्रभाव को तोड़ने तथा शास्त्रवाद विरोधी दृष्टिकोण विकसित करने में सक्षम बनाया।"[1]

प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान जैकब बुकहार्ट ने 'इटली की सभ्यता का नवजागरण' (1869) नामक पुस्तक में रिनेसांस के निम्न लक्षण गिनाये– "व्यक्तिवाद, पुरातनता का पुनरुत्थान तथा संसार और मनुष्य की खोज।"[2] यूरोपीय रिनेसां को सामंती शासन के पतन व पूंजीवाद के आगमन के एक परिवर्तनकारी दौर के रूप में देखा जा सकता है। जहाँ मनुष्य ने मध्ययुगीन मूल्यबोध को प्रश्न दृष्टि से देखना शुरू किया और तर्क की कसौटी पर उन्हें परखा। मशीनों के आविष्कार ने समाज में एक नयी क्रांति ला दी। मध्ययुगीन धर्म शास्त्रों द्वारा गढ़े गये आदर्शवाद को ध्वस्त करते हुए मनुष्य ने स्वयं को विज्ञान के आलोक में देखना शुरू किया।

भारतीय नवजागरण 19वीं सदी के आरंभ में विकसित हुई नयी राजनैतिक, आर्थिक व्यवस्था, मध्यवर्ग के विकास, नयी शिक्षा पद्धति, रेल, डाक व प्रिंटिग प्रेस के आगमन आदि से बदलते सामाजिक, सांस्कृतिक व धार्मिक मूल्यों की परिणति है। "भारतेन्दु हरिश्चंद्र के उदय के साथ हिन्दी में एक नये युग का आरंभ हुआ, यह मान्यता तो बहुत पहले से प्रचलित रही है; किन्तु इस नए युग को 'नवजागरण' नाम देने का श्रेय हिन्दी में डॉ. रामविलास शर्मा को है।"[3] उन्होंने 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' नामक पुस्तक में नवजागरण शब्द का प्रयोग किया है। उनका मत है कि नवजागरण शब्दबंध भले ही नया था, किन्तु यह धारणा पुरानी थी। रामविलास शर्मा द्वारा जिस पुरानी धारणा की ओर इशारा किया गया है, उसे नामवर सिंह ने 'रिनेसांस' कहा है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय रिनेसांस की तर्ज पर ही हिन्दी में नवजागरण तथा पुनर्जागरण शब्द का प्रयोग प्रचलित

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।

हुआ। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय भी भारतीय समाज में आये इस परिवर्तनकारी दौर को समझ रहे थे। उन्होंने इस परिवर्तन को यूरोप के रिनेसांस से जोड़कर देखा था। "पादरी अलेक्ज़ेडर डफ से एक बार उन्होंने कहा था : "मुझे ऐसा लगने लगा है कि यहाँ भारत में यूरोपीय रिनेसांस से मिलता–जुलता कुछ घटित हो रहा है।"[4]

रामविलास शर्मा भारतीय नवजागरण को पूंजीवाद के विकास तथा साम्राज्यवाद विरोधी स्वर के रूप में देखते हैं। उन्होंने हिन्दी नवजागरण को 'साम्राज्यवाद विरोधी जनजागरण' की संज्ञा देते हुए कहा–"हिन्दी प्रदेश में नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है।"[5] उन्होंने भारतीय नवजागरण के विकास में अंग्रेजी राज को सहायक न मानते हुए बाधक ही माना। उनके अनुसार भारत में व्यापार व्यवस्था पहले से मौजूद थी और अंग्रेजी शासन व्यवस्था के शोषणकारी स्वरूप से भारत की प्रगति बाधित ही हुई है। नामवर सिंह भारतीय नवजागरण को यूरोपीय नवजागरण की नकल न मानते हुए इसके एक भिन्न स्वरूप की व्याख्या करते हैं। वे भारतीय नवजागरण से भिन्न हिन्दी नवजागरण की कुछ क्षेत्रीय विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। जैसे– जातीय पहचान का आग्रह, निज भाषा व स्वदेशी का आग्रह आदि। उनके अनुसार– "हिन्दी नवजागरण मुख्यतया 'सांस्कृतिक' था और अधिकांश लेखन स्वदेशी संस्कृति के उत्थान को दृष्टि में रखकर किया गया।"[6]

L=h l/kkj lc/kh enn% भारत में नवजागरण का आगमन सर्वप्रथम बंगाल व महाराष्ट्र में हुआ। हिन्दी नवजागरण में व्यक्ति, धर्म व समाज संबंधी अनेक विषयों में परिवर्तन का दौर चला। नवजागरण के पुरोधा एक नयी दृष्टि से अपनी धार्मिक मान्यताओं व संस्कृति का पुनरावलोकन करते हैं और संस्कृति व परम्परा के नाम पर रूढ़ि बन चुकी मान्यताओं का विरोध करते हैं। इन सभी मुद्दों में अहम मुद्दा रहा– स्त्री जाति का सुधार। नवजागरण के मनीषियों ने जब मानवतावादी दृष्टिकोण से अपने धर्म व संस्कृति की पुनः व्याख्या की तब उन्हें महसूस हुआ कि समाज का एक बड़ा वर्ग (स्त्री वर्ग) मूल मानवीय अधिकारों से विच्छिन्न है तथा भारतीय स्त्री को अपने धर्म व संस्कृति की रक्षा का प्रतीक मानकर उस पर समस्त परम्पराओं को बलपूर्वक लागू करना, स्त्री जाति के लिए बहुत हानिप्रद साबित हो रहा है। अतः स्त्रियों की दशा सुधारने का मुद्दा भारतीय नवजागरण का मुख्य मुद्दा बनकर उभरा।

नवजागरण दौर के लगभग सभी समाज सुधारकों ने स्त्री जाति के विकास पर जोर दिया। इन समाज सुधारकों का दृष्टिकोण ही भारतीय नवजागरण के दृष्टिकोण को विकसित करता है तथा तत्कालीन साहित्य को भी प्रभावित करता है। इन समाज सुधारकों ने समाज में स्त्रियों की स्थिति, उनके जीवन स्तर, शिक्षा व जीवन मूल्यों पर नये सिरे से बहस छेड़ी। राजा राममोहन राय ने विलियम बैंटिक के सहयोग से सती प्रथा निषेध अधिनियम पारित करवाया। 20 अगस्त 1828 को ब्रह्म समाज की स्थापना हुई। इस संस्था ने बालिकाओं की शिक्षा के लिये विद्यालय खोले। राजा राममोहन राय ने बहु विवाह का विरोध किया तथा स्त्रियों को पैतृक संपत्ति में अधिकार देने का समर्थन किया। सन् 1863 से केशवचंद्र सेन ने 'वामा बोधिनी' पत्रिका निकालनी आरंभ की। जिसमें स्त्रियों की दशा सुधारने के लिये अनेक प्रेरणादायी लेख लिखे गये। स्त्रियों को धार्मिक शिक्षा देने के लिये 'ब्रह्मिका समाज' की भी स्थापना की गयी। प्रार्थना समाज (मार्च 1867) द्वारा विधवाओं की स्थिति सुधारने हेतु विधवाश्रम खोले गये। मदनमोहन मालवीय ने बहु विवाह प्रथा का विरोध किया। श्रीमति ऐनी बेसेंट ने बाल विवाह का विरोध कर स्त्रियों की दशा में सुधार लाने का कार्य किया। राधास्वामी सम्प्रदाय ने दहेज प्रथा व अन्य सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। पश्चिमोत्तर प्रांत में आर्य समाज का प्रभाव सर्वाधिक देखने को मिलता है। विशेषकर पंजाब में इस संस्था का सकारात्मक प्रभाव देखा जा सकता है। आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती ने बाल विवाह का विरोध किया। उन्होंने वेदों से प्रमाण जुटाकर यह बात कही कि स्त्रियों को विद्यार्जन करने व वेद पढ़ने का अधिकार है। आर्य समाज द्वारा अनेक बालिका विद्यालय खोले गये जिन्होंने पश्चिमोत्तर प्रांत में स्त्री शिक्षा का प्रसार किया।

नवजागरण काल में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन जैसी संस्थाओं ने समाज में नयी चेतना लाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। "19वीं

शताब्दी के सभी आंदोलनों की मुख्य समस्या नारी को समाज में सम्मानित स्थान दिलाने की थी। इन सुधारकों के अथक परिश्रम का ही यह परिणाम है कि जो नारी 60 वर्ष पूर्व सामाजिक समारोह के रूप में सती होकर आत्म हत्या करने के लिये बाध्य थी, वही शताब्दी के अंतिम वर्षों में सामाजिक रंगमंच पर आकर अपनी समस्याओं पर समस्यापूर्वक विचार व्यक्त करने लगी थी।"[7]

L=h f'k{kk dk i:lkj % मुगलों के आगमन से भारत में पर्दा प्रथा प्रचलित होने लगी, जिस कारण स्त्रियों की शिक्षा के प्रति समाज का रुझान लगभग नगण्य सा हो चुका था। अंग्रेज स्त्रियों के रहन–सहन, जीवन स्तर व उनकी बौद्धिक क्षमता को देखकर भारतीय मध्यवर्ग में भी अपनी स्त्रियों को पढ़ाने की इच्छा जागृत हुई। यह नवशिक्षित मध्य वर्ग जीविकोपार्जन हेतु शहर की ओर पलायन करने लगा और धीरे–धीरे संयुक्त परिवार व्यवस्था टूटने लगी। ऐसे में यह वर्ग पत्नि के रूप में एक ऐसी सहधर्मिणी की इच्छा रखने लगा जो कि उसके समान मानसिक सोच विचार रखती हो। इसके अतिरिक्त नवजागरण कालीन समाज सुधारकों ने स्त्रियों के जीवन स्तर को सुधारने व समाज में उन्हें सम्मानित स्थान दिलाने के लिये स्त्री शिक्षा को आवश्यक माना।

स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में पश्चिमोत्तर प्रांत की तुलना में बंगाल व महाराष्ट्र आगे थे। 19वीं सदी की औपनिवेशिक सरकार ने जिस प्रकार भारतीय पुरुषों को शिक्षित करने हेतु विशेष प्रयास किये, उतने प्रयास उन्होंने स्त्री शिक्षा हेतु नहीं किये क्योंकि उनका मानना था कि स्त्रियों के प्रति भारतीय अपने धर्म के समान रूढ़िवादी सोच रखते हैं। अतः 1857 के गदर के पश्चात् उनके द्वारा भारतीयों के धार्मिक मामले में अहस्तक्षेप की जो नीति अपनयी गयी थी, वहीं नीति उन्होंने भारतीय स्त्रियों के शिक्षा के संबंध में अपनायी। इसके अतिरिक्त भारतीय स्त्रियों को शिक्षित करने से अंग्रेजों को कोई विशेष लाभ भी नहीं था। यद्यपि उन्होंने थोड़ी बहुत सरकारी सहायता भारतीय स्त्रियों को शिक्षित करने हेतु प्रदान की, किन्तु वह प्रयास पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। उनकी स्त्री शिक्षा पर अनदेखी को नवजागरण कालीन मनीषियों ने समझा व स्त्री शिक्षा का मुद्दा नवजागरण का मुख्य मुद्दा बनकर उभरा। सुधारकों का मत था कि स्त्री को शिक्षित करना उसके उद्धार का प्रथम मार्ग है। भारत में स्त्री शिक्षा का प्रसार समाज सुधारकों व कुछ भारत प्रेमी अंग्रेजों के निजी प्रयासों का प्रतिफल है।

सर्वप्रथम स्त्री शिक्षा का कार्य ईसाई मिशनरियों की पत्नियों द्वारा बंगाल व महाराष्ट्र में 1820 के आस पास शुरू किया गया। उन्होंने स्त्रियों के लिये अलग से विद्यालय खोले तथा भद्रवर्गीय परिवारों में जा कर स्त्रियों को पढ़ाना आरंभ किया। यद्यपि ईसाई मिशनरियों द्वारा स्त्री शिक्षा का यह प्रथम प्रयास सराहनीय है, किन्तु इसकी सबसे बड़ी सीमा थी– इसका धार्मिक स्वरूप। इस समस्या को जे.ई.डी. बेथून (1801–1851) ने समझा और भारतीय स्त्रियों के लिये धर्म निरपेक्ष शिक्षा की वकालत की। "1849 में बेथून ने कलकत्ता में हिंदू बालिका विद्यालय की स्थापना की जो भारत में स्त्रीशिक्षा के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना साबित हुई।"[8] उनके द्वारा स्थापित यह विद्यालय बाद में बेथून कॉलेज के नाम से विख्यात हुआ जो कि देश का पहला महिला कॉलेज बना। बंगाल में स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में ईश्वरचंद्र विद्यासागर का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने स्त्री शिक्षा को शहरी सीमा से निकाल कर देहातों में प्रचलित किया। उनके प्रयासों की सराहना करते हुए अरविंद पोद्दार लिखते हैं– "सरकारी सहायता मिलेगी या नहीं, इसकी परवाह किये बिना उन्होंने नवम्बर 1857 से मई 1858 के बीच लड़कियों के लिये कुल 35 स्कूल खोले–सबके सब गाँवों में– जिनमें 1300 लड़कियों ने दाखिला लिया, जो उस जमाने के बंगाल में एक नामुमकिन कल्पना थी।"[9]

ज्योतिबा फुले(1828–1890) ने महाराष्ट्र में स्त्री शिक्षा के प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने शिक्षा में व्याप्त जातिवाद को दूर कर दलित जाति की स्त्रियों को शिक्षित करने के विशेष प्रयास किये। "बेथून से भी पहले सन् 1848 में– जब मार्क्स एंगेल्स कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो लिख रहे थे– फुले ने ब्राह्मणों के गढ़ पुणे में पहली बार कन्या पाठशाला खोली जिसमें माँग और महार जैसी दलित जातियों की लड़कियों को भी शिक्षित किया गया।"[10]

बंगाल व महाराष्ट्र की तुलना में पश्चिमोत्तर प्रांत में स्त्री शिक्षा की स्थिति चिंताजनक थी। "1881–82 में जहां मद्रास और बम्बई के प्रांतों में हर 400 स्त्रियों में एक स्त्री शिक्षित थी, बंगाल में हर

976 स्त्रियों में एक स्त्री शिक्षित थी, वहां पश्चिमोत्तर प्रांत में हर 2169 स्त्रियों में एक स्त्री शिक्षित थी।"[11] यह दुर्भाग्य की बात है कि उस दौर में पश्चिमोत्तर प्रांत में स्त्री शिक्षा जैसे गंभीर मुद्दे पर कोई विशेष प्रयास नहीं हुए। इस क्षेत्र में स्त्री शिक्षा के प्रसार में आर्य समाज का महत्वपूर्ण योगदान है। आर्य समाज द्वारा स्त्री शिक्षा के प्रसार हेतु किये गये प्रयासों का सर्वाधिक सकारात्मक परिणाम पंजाब मे देखने को मिलता है। स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा अनेक निजी स्कूल सरकारी अनुदान की सहायता से चलाये जाते थे। इन विद्यालयों में आर्य सभ्यता व संस्कृति तथा आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। सन् 1890 में लाला देवराज ने लाला मुंशीराम की सहायता से जालंधर में कन्या महाविद्यालय खोला। उन्होंने छात्राओं के लिये छात्रवास भी खोला जिसे कि उत्तर भारत का पहला छात्रावास माना जाता है। यह विद्यालय स्त्रियों को मात्र गृहस्थ शिक्षा देने का पक्षधर नहीं था। अतः यहाँ की छात्राओं को पुरूषों के समान अंग्रेजी व आधुनिक ज्ञान विज्ञान की शिक्षा दी गयी। "स्कूल की स्त्रीशिक्षा ने परिवार और समाज में स्त्री की परंपरागत भूमिका की धारणा को ठुकरा दिया और स्त्री की एक नई धारणा पेश की कि स्त्री की सार्थकता सिर्फ माँ बनने में नहीं है। स्कूल की छात्राओं को कांग्रेस के अधिवेशनों में ले जाया जाता था और स्कूल से निकली लडकियाँ पंजाब में पहली स्त्री–राजनीतिक कार्यकर्ता बनीं।"[12]

नवजागरण में उठे स्त्री शिक्षा संबंधी मुद्दे पर जितनी गहराई से अध्ययन किया जाए, वह विरोधाभासी प्रतीत होता है। समाज सुधारक स्त्रियों को शिक्षित अवश्य करना चाहते थे किन्तु वे उन्हें पुरूषों के समान शिक्षा देने के पक्षधर नहीं थे। "उस समय स्त्रियों को शिक्षित करने का उद्देश्य था– ऊँची जाति की महिलाओं को 'असभ्य स्त्री समुदाय' से किसी भी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने से रोका जाए और दूसरा यह कि उनके अन्दर निहित अशिष्टता की बुराई का इलाज किया जा सके।"[13] वे एक ऐसी भारतीय स्त्री का निर्माण करना चाहते थे जो कि पतिव्रता हो, गृह कार्यों में निपुण हो तथा इतना लिखना–पढ़ना व हिसाब करना जानती हो कि गृहस्थी के कार्यों को कुशलतापूर्वक निभा सके। यद्यपि सभी समाज सुधारक इस प्रकार की शिक्षा के पक्षपाती नहीं थे। किन्तु पश्चिमोत्तर प्रांत में इस प्रकार की स्त्री शिक्षा विशेष रूप से प्रचलित थी, जिसके सबसे बड़े समर्थक भारतेन्दु हरिश्चंद्र थे। हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक भारतेन्दु के इन विचारों से अन्य साहित्यकारों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। सम्भवतया इसलिये आरंभिक हिन्दी उपन्यास पुरूषों के कंधे से कंधा मिलाती एक आत्मविश्वासी स्त्री नहीं, बल्कि पतिव्रता व तथाकथित 'भारतीय संस्कारों' में दीक्षित स्त्री की छवि गढ़ते है। स्त्री शिक्षा के स्वरूप पर भारतेंदु का यह कथन अवश्य ही चिंताजनक है– "लड़कियों को भी पढ़ाइए, किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है।"[14]

"ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिये कि वह अपना देश और कुल–धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लडकों को सहज में शिक्षा दें।"[15]

स्त्री व पुरूषों के समान पाठ्यक्रम का विरोध करते हुए उन्होंने हंटर आयोग के समक्ष कहा– "ये पाठ्यपुस्तकें कई कारणों से आपत्तिजनक हैं। मैं मिस रोज़ ग्रीनफील्ड से पूरी तरह सहमत हूं कि बड़ी लड़कियों को प्रेमसागर (लल्लूलाल का बनाया) ग्रन्थ पढ़ने के लिये नहीं देना चाहिए। विद्यांकुर और इतिहासतिमिर नाशक उनके नैतिक चरित्र का विकास नहीं कर सकते। चरित्र निर्माण(मोरालिटी) और घरेलू प्रबंध वगैरह के बारे में बताने वाली अच्छी पाठ्यपुस्तकें उनके पाठ्यक्रम में लगानी चाहिए।"[16] विचित्र बात है कि प्रेमसागर जैसी रचना को बालकों के पाठ्यक्रम में लगाने से उनका नैतिक पतन नहीं होगा और इतिहास, भूगोल व अर्थशास्त्र की जानकारी देने वाली पुस्तकें जहां लड़कों के लिये उपयोगी थीं, वहीं लड़कियों को यह पढ़ाने में उन्हें कोई लाभ प्रतीत नहीं होता था।

वे स्त्री पुरूष की सहशिक्षा के भी विरोधी थे। नवजागरणकालीन प्रमुख लेखक बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में महिला स्वातंत्र्य' शीर्षक लेख में स्त्री शिक्षा के संबंध में जो विचार वयक्त किये हैं वह भी चौंकाने वाले हैं– "जिस दिन हमारी सीधी सादी ललना समाज में शिक्षा का असर पैदा हो गया, जैसा बंगाल में हो चला है फिर ये मंदिर आदि देवस्थान हिन्दुस्तान में एक पुरानी बात हो जायेंगे।"[17] हिन्दी भाषी क्षेत्र के बड़े साहित्यकारों के महिला शिक्षा पर यह विचार उस समय के समाज की तस्वीर को हमारे समक्ष

रखते हैं। बंगाल में महाराष्ट्र में स्त्री शिक्षा का आन्दोलन जितना सफल हुआ, उतना हिन्दी भाषी क्षेत्र में न हो सका। यहां स्त्रियों को शिक्षित करने का जो शैक्षणिका ढांचा तैयार किया गया था, वह उन्हें पुरानी स्त्री छवि से निकालने में समर्थ नहीं था।

fo/kok fookg % नवजागरण काल में स्त्रियों की दुर्दशा का कारण अशिक्षा के साथ–साथ उनके वैधव्य को भी माना जाता था। बालपन में विवाह के कारण अनेक स्त्रियां बहुत कम उम्र में विधवा हो जाती थीं। हिन्दू समाज में विधवा जीवन के नियम बहुत कड़े थे। सफेद वस्त्र पहनना, गहने त्यागना, साधारण भोजन, चरण पादुका का त्याग, केश मुंडवाना, कठिन दिनचर्या तथा गरीबी के कारण विधवाओं की दशा दयनीय थी। सन् 1918 में विधवा संबंधी दिये गये आंकड़े चौंकाने वाले हैं। "उस वक्त युक्तप्रांत में महज एक वर्ष की उम्र वाली विधवाओं की संख्या 113 थी, 2 वर्ष की उम्र वाली विधवाएं 70, दो से तीन साल के बीच की 151, तीन से चार साल के बीच की 603, चार से पांच साल के बीच की 1131, पांच से दस साल के बीच की 13,069 और 10 से 15 साल के बीच की विधवाएं 38,849 थीं।"[18] समाज सुधारकों ने विध वाओं की दशा सुधारने का एक बड़ा हल विधवा पुर्नविवाह में ढूंढ़ा। ईश्वरचंद विद्यासागर के अथक प्रयासों से सन् 1856 में विधवा विवाह कानून पारित हुआ। बंगाल व महाराष्ट्र में विधवा विवाह का प्रतिशत पश्चिमोत्तर प्रांत से अधिक था। " 1856 से लेकर 1900 ई. तक, 44 सालों में पूरे भारत में कुल 300 विधवा विवाह हुए।"[19] यह आंकडा संतोषजनक नहीं माना जा सकता। अनेक समाज सुधारकों ने विवाह योग्य व विवाह न करने योग्य विधवा स्त्रियों का विभाजन उनकी यौन शुचिता के आधार पर किया। कुछ सुधारक ऐसे भी थे जो मात्र बालविधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन करते थे। "दयानंद ने *सत्यार्थ प्रकाश* में बालविधवाओं (अक्षत योनि) के पुनर्विवाह को शास्त्रसम्मत बताया, पर शारीरिक संपर्क कर चुकी (क्षत योनि) द्विज जाति की विधवाओं के विवाह को अनुचित ठहराया।"[20]

प्रतापनारायण मिश्र न तो युवा विधवाओं के विवाह के समर्थक थे तथा न ही सम्पत्ति में उनके अधिकार को उचित मानते थे। जब विधवाओं के केश मुंडन को रोकने संबंधी कानून बना तो उनका दिया यह मत चौंकाने वाला है– "वाह री नई सभ्यता! भारतीय विधवा न ठहरी, वीरांगना ठहरी! इसमें उसे कष्ठ क्या होता है? हानि क्या होती है? सड़ी–सड़ी बातों के लिए कानून बनवाने से देश का क्या हित होगा?"[21] विधवा विवाह के संबंध में वे अपना मत कुछ इस प्रकार देते हैं– "अनेक महाशय विधवा विवाह की शिक्षा देकर समाज का हित करना विचारते हैं, हमारी सती, पतिव्रता परायणा, भर्ता को देवतुल्य मानने वाली, धर्म की एकमात्र आधार, गृह की एकमात्र शोभा, साध्वी स्त्रियों को ग्यारह खसम कराना चाहते हैं। पाश्चात्य सभ्यता का प्रवेश (जो गृह विच्छेद का मूल कारण है) हमारे घर में लाना चाहते हैं और कहते हैं कि हम आपके हितैषी हैं– तुम्हारी इस हितैषिता से बाज आए। हम जैसे हैं, अच्छे हैं।"[22]

इनके विपरीत नवजागरणकालीन साहित्यकार राधाचरण गोस्वामी ने विधवा विवाह का प्रबल समर्थन किया। दयानंद सरस्वती के मात्र अक्षत योनि विधवाओं के विवाह संबंधी विचारों का आर्य समाज ने प्रबल विरोध किया तथा सभी प्रकार की विधवाओं के विवाह का समर्थन किया।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने विधवा विवाह का समर्थन अवश्य किया, किन्तु उसके पीछे के कारण विचित्र ही बताये। उनका यह कथन दृष्टव्य है– "स्त्री कुल रूपादिक नहीं देखती। अहिल्या को जब नारद जी समझाने गए तो उसने उनको खूब आड़े हाथों लिया और स्पष्ट कहा कि स्त्री कदापि काम का वेग नहीं रोक सकती। संसार में सती स्त्री तभी तक है जब तक उसको मौका नहीं मिलता।"[23]

"जिस स्त्री को ऐसी देखो वा जिसका गौना न हुआ हो, वा जिसमें तनिक भी काम चेष्ठा संदेह हो, उसको चटपट किसी के माथे मढ़ो।"[24] हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक साहित्यकार का स्त्रियों के संबंध में यह दृष्टिकोण निश्चित ही आहत करने वाला है तथा 19वीं सदी के हिन्दी भाषी क्षेत्र में स्त्रियों के प्रति समाज के दृष्टिकोण को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

cky fookg dk fojks/k % नवजागरण कालीन समाज सुधारकों ने स्त्रियों की अशिक्षा, उनकी दुर्दशा व भारतीय पुरुष समाज के विकास की मंद गति का एक मुख्य कारण बाल विवाह को माना। अतः राजा राममोहनराय, दयानंद सरस्वती, केशवचंद सेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर आदि सभी समाज सुधारकों ने बाल

विवाह का विरोध किया। उनका मत था कि बाल विवाह के कारण बाल विधवाओं की एक बड़ी समस्या से समाज को जूझना पड़ता है। बाल विवाह स्त्री शिक्षा में मुख्य बाधक है तथा कम उम्र में संतानोत्पत्ति माता व शिशु के स्वास्थ्य के लिये भी हानिकारक है। पश्चिमोत्तर प्रांत में बाल विवाह की समस्या सबसे भयावह स्थिति में थी। हिन्दू धर्म बाल विवाह को शास्त्र सम्मत मान चुका था। "काशीनाथ भट्टाचार्य के ग्रंथ *शीघ्रबोध निर्णय* में आए श्लोक– 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी, दशवर्षाभवेत् कन्या, तत्र्द्ध रजस्वला।' के आधार पर पश्चिमोत्तर प्रांत के पण्डित बाल विवाह का समर्थन करते थे।"[25]

भारतेन्दु हरिशचंद्र ने बाल विवाह से स्त्रियों को होने वाली हानि के बारे में तो संभवतः नहीं सोचा। किन्तु वे इससे पुरूषों को होने वाली हानि पर विचारते हुए कहते हैं– "लडकों को छोटेपन में ही ब्याह करके उनके बल, वीर्य, आयुष्मान सब मत घटाइये।"[26]

बाल विवाह की समस्या को रोकने के लिये अनेक समाज सुधारकों ने विवाह की न्यूनतम आयु निश्चित करने पर बल दिया। दयानंद सरस्वती के अनुसार लड़की की आयु 16 व लड़के की आयु 24 वर्ष, केशवचंद सेन के अनुसार लड़की की आयु 14 व लड़के की आयु 16 वर्ष उचित मानी गयी। 1887 में स्थापित कायस्थ महासभा ने बाल विवाह का विरोध करते हुए 12 साल से कम उम्र की पत्नी के साथ संभोग करने का विरोध किया और 'एज ऑफ कंसेंट बिल' का समर्थन किया। इस बिल का प्रतापनारायण मिश्र विरोध करते हुए कहते हैं – "जिन स्त्रियों की परदादारी को भारतीय सदा प्राणों से अधिक रक्षणीय समझते हैं.....उस परदादारी की जड़ों में मानो दिन–रात कुठार रक्खी होगी। बहू–बेटियों का डॉक्टर के सामने अपमानित और कचहरी में आकर्षित होना अमिट हो जाएगा। बड़े–बड़े प्रतिष्ठातों का लाख का घर खाक हो जाएगा।"[27]

इन साहित्यकारों की तुलना में बालकृष्ण भट्ट बाल विवाह के विरोध में अधिक मुखर दिखाई देते हैं। उन्होंने अपने लेखन में बाल विवाह को अनेक सामाजिक बुराइयों की जड़ मानते हुए इसका प्रखरता से विरोध किया। उनके शब्दों में– "किसी का मत है मुल्क की तरक्की औरतों की तालीम से होगी; कोई कहता है कि विधवा विवाह जारी होने से भलाई है, कोई कहता है खाने–पीने की कैद उठा दी जाए तो हिन्दू लोग स्वर्ग पहुँच इन्द्र का आसन छीन लें, कोई कहता है विलायत जाने से तरक्की होगी; कोई कहता है फिजूल खर्ची कम कर दी जाए तो मुल्क अभी तरक्की की सीढ़ी पर लपक के चढ़ जाए। हम कहते हैं, इन सब बातों से कुछ न होगा जब तक बाल्य विवाह रूपी कोढ़ हमारा साफ न होगा।"[28] बाल विवाह का विरोध करते हुए ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने वयस्क स्त्री पुरूषों के प्रेम विवाह को आदर्श माना। उपर्युक्त वर्णित सुधारात्मक मुद्दे नवजागरण के सर्वाधिक चर्चित मुद्दे थे। इसके अतिरिक्त धार्मिक सुधार पर नवजागरण में सर्वाधिक तेजी से कार्य हुआ। अनेक समाज–सुधारकों ने धार्मिक रूढ़ियों, जादू–टोने व धार्मिक कुप्रथाओं का विरोध किया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेदों के पुनः अध्ययन पर बल दिया तथा धर्म को मात्र अंध आस्था के रूप में नहीं रखा बल्कि उसकी तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की। ताकि भारतवासियों में विदेशी धर्म के प्रति श्रेष्ठता की भावना के बजाय हिन्दू धर्म के प्रति पुनः श्रद्धा उत्पन्न हो। इनके अतिरिक्त अछूतोद्धार का मुद्दा भी नवजागरण काल में प्रबलता से उठया गया। महात्मा ज्योतिराव फूले ने शिक्षा पर सभी के समान हक की वकालत करते हुए अछूतों को शिक्षित करने का सराहनीय कार्य किया। इसके अतिरिक्त धार्मिक स्थलों पर उनके प्रवेश का समर्थन किया। बहु–विवाह का विरोध, शादी में फिजूलखर्ची का विरोध, विदेश यात्रा को धार्मिक रूढ़ी से जोड़ने का विरोध आदि ऐसे अनेक मुद्दे थे जो नवजागरण में प्रबलता से उठाये गये।

आश्चर्यजनक, किन्तु कटु सत्य है कि भारतीय नवजागरण के दौर में लिख रहे हिन्दी लेखक एक ओर जहां राष्ट्र, समाज व धर्म के मामले में एक नयी सोच रखते थे, वहीं स्त्री के संबंध में उनका दृष्टिकोण विशेष परिवर्तित नहीं हुआ। उनके लिये स्त्री तब भी एक मनुष्य होने की बजाय देवी, गृहिणी, घर, समाज व धर्म की इज्जत थी, जिसे पहरे में रखना आवश्यक था। नवजागरण में स्त्रियों के प्रति उठे मुद्दे उनकी स्थिति में परिवर्तन करने के बजाय उनके जीवन में थोड़ा बहुत सुधार लाने तक सीमित रहे। नवजागरण दौर के साहित्यकार व समाज सुधारक (पश्चिमोत्तर प्रांत) स्त्री शिक्षा का समर्थन करते हैं, किन्तु उन्हें

पुरूषों के समान आधुनिक शिक्षा प्रदान करने के समर्थक नहीं हैं। वे समाज में स्त्रियों की भूमिका एक गृहिणी के रूप में देखना ही पसंद करते हैं। विधवाओं के पुनर्विवाह हेतु दिये गये भारतेन्दु जैसे साहित्यकार के तर्क हैरत में डालने वाले हैं। पितृसत्तात्मक सोच व स्त्री की दशा में सुधार लाकर उनका 'उद्धार' करने की भावना हिन्दी भाषी क्षेत्र में हावी रही है। एक ओर राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले जैसे समाज सुधारक (बंगाल, महाराष्ट्र व पंजाब में) स्त्रियों को पुरूषों के बराबर का हक दिलाने की लड़ाई लड़ रहे थे, वहीं पश्चिमोत्तर प्रांत के साहित्यकार स्त्रियों को कुशल गृहिणी व आज्ञाकारी पत्नी बनाने के लिये 'देवरानी–जेठानी की कहानी', 'भाग्यवती' व 'वामाशिक्षक' जैसे उपन्यास लिख रहे थे। लगभग इसी मानसिकता की रचनाएं जैसे– 'मिरात उल उरूस' आदि तत्कालीन उर्दू साहित्य के में भी मिलती हैं। नवजागरण को हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिकता के आगमन का प्रतीक माना जाता है। इस दौर के हिन्दी साहित्यकारों का स्त्री जाति के प्रति यह दृष्टिकोण निश्चय ही पाठकों व आलोचकों को इन साहित्यकारों के पुनः मूल्यांकन हेतु प्रेरित करेगा।

LkUnHkZ %

1. 'नवजागरण और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', बली सिंह, शंकर पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000 ई., पृ0सं0 4
2. वहीं, पृ0सं0 3
3. 'हिन्दी का गद्य पर्व', नामवर सिंह, सं. आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 2010, पृ0सं0 84
4. वही, पृ0सं0 84
5. 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण', रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला छात्र संस्करण 2012ई0, पृ0सं0 9
6. 'हिन्दी का गद्य पर्व', पृ0सं0 82
7. 'हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन', डॉ0 चण्डीप्रसाद जोशी, पृ0सं0 25
8. 'रस्साकशी', डॉ0 वीरभारत तलवार, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, पहला छात्र संस्करण 2006 ई0, पृ0सं0 43
9. वहीं, पृ0सं0 44
10. वहीं, पृ0सं0 46
11. वहीं, पृ0सं0 37
12. वहीं, पृ0सं0 49
13. 'स्त्री संघर्ष का इतिहास', राधा कुमार, सस्करण सन् 2005, पृ0सं0 40
14. 'रस्साकशी', डॉ0 वीरभारत तलवार, पृ0सं0 39
15. वहीं, पृ0सं0 39
16. वही, पृ0सं0 34
17. 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल–जून, सन् 1891
18. 'रस्साकशी', पृ0सं0 37
19. वहीं, पृ0सं0 187
20. वहीं, पृ0सं0 176
21. वहीं, पृ0सं0 178
22. वहीं, पृ0सं0 145
23. वहीं, पृ0सं0 179–180
24. वहीं, पृ0सं0 180
25. वहीं, पृ0सं0 171
26. वहीं, पृ0सं0 171
27. वहीं, पृ0सं0 173
28. वहीं, पृ0सं0 173–174

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

vk/kfudrk vkj mÙkj&vk/kfudrk % Hkkjrh; ifji{; e

lat; dekj*

आधुनिकता शब्द समय सापेक्ष है। आधुनिकता का सम्बन्ध काल परिवर्तन से है, नवीन युग समय–समय पर आते रहे हैं। जैसे आज के नये युग पर लोगों को नाज है उसी तरह हर जमाने के लोग अपने जमाने पर नाज करते हैं। संसार का कोई भी समाज किसी भी समय इतना स्थापित नहीं रहा है, कि वह हर आदमी को पंसद हो। हर समय, समाज अपने को पीछे वाले से आधुनिक समझता है।

यूरोप में आधुनिकता की शुरुआत 16वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई, वहां का समाज परम्परागत था। सम्पूर्ण यूरोप में सामंती व्यवस्था थी। यूरोप के बौद्धिक वर्ग ने इस व्यवस्था का विरोध किया। उसी समय औद्योगिक क्रांति हुई और विज्ञान में भी क्रांति आई। क्रांति के परिणाम स्वरूप यूरोप और अमेरिका में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। सामंतवाद का स्थान पूँजीवाद ने ले लिया और राजशाही का अन्त हुआ, इसके बाद प्रजातंत्र का विकास होता है। ''आज पूरे आग्रह के साथ कहा जा सकता है कि यूरोप और अमेरिका उत्तर आधुनिकता के द्वार को भी पार कर चुके है।''[1] आधुनिकता में साम्राज्यवाद भी अन्तर्निहित है। यूरोप की महान शक्तियाँ अपने व्यापार के लिए नये बाजार की खोज में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका गये। इस साम्राज्यवाद ने इन पिछड़े देशों में आधुनिकता की भावना को पैदा किया प्रजातांत्रिक व्यवस्था के प्रति विश्वास भी जाग्रत किया। इस तरह 17वीं शताब्दी में इन विकासशील देशों में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। यूरोप में औद्योगिक क्रांति से पहले ''ज्ञानोदय'' आ गया था 18वीं शताब्दी में ''वैज्ञानिक क्रान्ति ने यूरोप के लोगों को सोचने के तरीके को ही बदल दिया। इस वैज्ञानिक क्रान्ति को आधुनिकता का जनक कहा जाता है।''[2] औद्योगिकरण के परिणामस्वरूप यूरोप में सांमतवाद का पतन हुआ। उसी समय पूँजीवाद का विकास प्रारम्भ हुआ। उद्योगों के कारण शहरीकरण ने गति पकड़ी गाँव कस्बो में परिवर्तित हुए, कस्बे शहर का आकार लेने लगे। धीरे–धीरे महानगर अपने विशाल स्वरूप में उभर कर सामने आये। जिस पर आधुनिकता का प्रभाव है। 20वीं शताब्दी में आधुनिकता का परिवेश अधिक व्यापक हो गया। अब आधुनिकता की प्रक्रियाओं में तीव्रता आने लगी जैसे कि मुनाफाखोरी की विचारधार की प्राथमिकता जिसे दुनिया दो भागों में बट गयी, गरीबों की दुनिया यानि पिछड़े हुए देश और अमीरों की दुनिया अर्थात् समृद्ध देश जो अधिक से अधिक धन कमाने के लिए नये बाजार की खोज प्रारम्भ कर दी। 10वीं और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कई राजनीतिक क्रान्तियों का जन्म हुआ। फ्रांस की क्रान्ति, अमेरिका की राज्य क्रान्ति आदि नये संदेश को लेकर आए। जिसका प्रभाव पूरी दुनिया पर पड़ा जिसमें अनेक साहसिक प्रयोग हुए। पुराने मापदण्ड टूटे और नयी तकनीकें आयी। नयी संवेदनाएं उत्पन्न हुई, नयी दिशाएं खुली जिससे हर देश में आगे पीछे आधुनिकता का प्रवेश हुआ। ''आधुनिकता कई सम्मिलित बातों का नाम है। औद्योगीकरण आधुनिकता की पहचान है।'' साक्षरता का सर्वव्यापी प्रसार आधुनिकता की सूचना देता है। नगर सभ्यता का प्राधान्य आधुनिकता का गुण है। आधुनिक देश वह देश है, जिसकी अर्थव्यवस्था जटिल और स्वभावतः ही प्रसरणशील हो, जो 'टेक–ऑफ' की स्थिति पार कर चुकी हो।''[3]

1980 ई. के दशक कुछ ऐसी पुस्तक आयी, जिससे प्रजातंत्र और उदारवाद के माध्यम से आधुनिकता को स्थापित किया जा सकता है। 'रोवर्ट को हेने' और 'पान केनेडी' ने अपनी पुस्तक के माध्यम से यह स्थापित किया कि अब दुनिया की बड़ी शक्तियों की दादागीरी और चौधराहट के दिन लद

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)।

गये, जिसका प्रभाव आधुनिकता के विकास पर पड़ा। अमेरिका के विचारक ''फ्रांसिस फूकोयाम'' का एक लेख 'The can od thistory' esa The National Intnest' में प्रकाशित हुआ जिसने यह तर्क दिया कि अमेरिका की चौधराहट में जो कमी आयी है वह कोई महत्व घटना नहीं है। वास्तव में यह तो उदारवाद और आधुनिकता है। ''आधुनिकता एक प्रकार से औद्योगिक अर्थ व्यवस्था का दर्पण होता है।''[4] गिडिन्स के अनुसार'' आधुनिकता अनिवार्य रूप में बहुआयामी है इसमें परिवर्तन और गत्यात्मकता अन्तर्निहित है।''[5] आधुनिकता में चार तत्व निहित है पूँजीवाद, उद्योगवाद, निगरानी रखने की क्षमता, राष्ट्र–राज्य हैं। आधुनिकता एक व्यापक प्रक्रिया है जिसका क्षेत्र काफी व्यापक है। जिसका प्रभाव राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय स्तर पर भी हुआ जिसमें उपभोक्ता वस्तुओं की प्रचुरता और विभिन्न जीवन शैलीयाँ है।

जिसमें वस्तु की कमी नहीं और सारी दुनिया ही बाजार है। जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाती है। इस प्रकार औद्योगीकरण और एकाकीपन, प्रतियोगिता और उत्तेजित असंतोष भी है, जो मनुष्य की मनः स्थिति को दर्शाती है। आधुनिकता अपने परिवेश में बहुत व्यापक है। जिसमें पूँजीवाद, औद्योगिकरण प्रजातंत्र और विवेक या बुद्धिसंगतता केन्द्रीय लक्षणों के रूप में दिखाई देता है। आधुनिकता के अधिक लक्षणों के होते हुए भी विवेक इसका प्राणवायु है। इतिहास के विकास क्रम में प्रत्येक युग आधुनिक बन कर ही हम तक आया है। परंपरा के साथ उसके प्रति विद्रोह भी लगा हुआ है। जैसे– ''उपनिषदों के ब्राह्मणवाद और कबीर की जीवन दृष्टि को प्राचीन नहीं कह सकते क्यों कि इनमें मनुष्य को समस्त उपसर्गों से हटा कर स्वतंत्र और अंपरिबद्ध चेतना के रूप में कल्पित किया गया है।''[6] इसी प्रकार हर धर्म व विचार एक दूसरे के आने पर प्राचीन हो जाता है।

आधुनिकता के संबंध में 'प्रो. योगेन्द्र सिंह' की पुस्तक 'Modernixation व Indian Tradition 1972 आधुनिकता के क्षेत्र में एक क्लासिकल ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुई। आधुनिकीकरण एक सार्वभौमिक सांस्कृतिक घटना है। आज की सम्पूर्ण दुनिया एक आधुनिक समाज है। आधुनिकता का यह प्रतिमान एक सम्पूर्ण संसार का आदर्श प्रतिमान है 'प्रो. योगेन्द्र' का कहना है कि ''आधुनिकता के जो भी लक्षण हैं वे बुनियादी रूप से सार्वभौमिक और उदार विकासीय है इसकी प्रकृति सम्पूर्ण मानवता को अपने अन्दर समेट लेती है। इस दृष्टि से आधुनिकता एक सांस्कृतिक–सार्वभौमिक है।''[7] आधुनिकता का संदर्भ तर्क और विवेक पर आधारित है। इसमें संवेगों और भावुकता का कोई स्थान नहीं होता। आधुनिकता के मूल्य परम्परा के मूल्य से भिन्न होते हैं। जब किसी समाज में आधुनिक मूल्यों का प्रवेश हो जाता है। तब वह आधुनिक हो जाता है। 'प्रो. योगेन्द्र सिंह' द्वारा दी गई आधुनिकता की व्याख्या में मूल्य और सांस्कृतिक प्रधान है। मूल्यों में वे विवेक तकनीक तंत्र और वैज्ञानिकता सन्दर्भ को अपनी व्याख्या का केन्द्र मानते हैं। इसी प्रकार आधुनिकता के संदर्भ में 'दिपांकर गुप्ता की पुस्तक 'Mirtaken Modernity' 2000 ई. में प्रकाशित हुई। जिसमें कहा गया है कि ''आज भारत कई दुनिया वालों के बीच में है। हमारे यहां जो भी आधुनिकता आई है, वह स्पष्ट रूप से विदेशी और पश्चिमी देशों से आई है।''[8] लेकिन कुछ विद्वान यह नहीं मानते कि वे आधुनिकता को समय, समाज, देश, काल की स्थिति पर निर्भर करते हैं। हमारे विचारों में कितना तर्क व सत्य है। जो हमें हमारे व्यवहार राज्य तथा संस्थाओं के क्रिया कलापों का एक बहुत बड़ा दस्तावेज है। जो गलत फहमियों को दूर करने के लिये आज यह बहुत आवश्यक हो गया है कि हम आधुनिकता के सही अर्थों को समझें। आधुनिकता एक ऐसी विचार धारा हैं, जो किसी मानक व पूर्व कल्पित कल्पना पर आधारित नहीं होती है।

आधुनिकता गतिशील प्रक्रिया है। आधुनिकता अपने आप में कोई मूल्य नहीं बल्कि अपने अनुभवों द्वारा जिन सहनीय मूल्यों को उपलब्ध किया है, उन्हें नये संदर्भो में देखने की दृष्टि ही आधुनिकता है। आधुनिक संन्दर्भ में अस्थिर तत्वों में परिवर्तन हुए भी स्थायी तत्व नये रूप में नयी साज–सज्जा से मनोहर बनकर उजागर होता है। आधुनिक ज्ञान की अत्याधिक उपलब्धियों के आलोक में रूप ग्रहण करने का प्रयास करती है।

जिसे हम आधुनिक कहते हैं, वह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में अर्जित किया गया न कि किसी एक विशेष तिथि से प्रायोजित। आधुनिकता की शुरूआत यूरोप में हुई इस मान्यता पर सब एकमत है।

इसीलिए अक्सर आधुनिकीकरण को पश्चिमी करण का पर्याय मान लिया जाता है। 'अमृतराय' इस भ्रांति के प्रति सचेत करते हुए लिखते हैं कि ''आधुनिकता के लिए हरदम यूरोप और अमेरिका की तरफ टकटकी लगाए रहना बेतुकी बात है। आधुनिकता किसी देश या महादेश की बपौती नहीं है।''[9]

भारतीय परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता पूँजीवाद के उदय के साथ सामाजिक जुड़ाव को संदर्भित करते हुए बौद्धिक संस्कृति की प्रवृतियों को भी संदर्भित कर सकती है। विशेष रूप से उन आन्दोलनों को जो धर्म निरपेक्षी करण और उत्तर औद्योगिक जीवन के साथ जुड़े हुए है। भारतीय समाज पर पश्चिमी रहन–सहन, खान–पान और जीवन–पद्धति का ऐसा जहर चढ़ गया कि वह परम्पराओं की उपेक्षा की दृष्टि से देखता और प्रत्येक विदेशी वस्तु को स्वीकार कर लेता है। जिसे 'प्रो, दिपांकर गुप्ता' पश्चिम का 'बिषैलाकरण, कहते हैं। देश का अधिकांश युवा वर्ग इस विषैले की गिरफ्त में है। वास्तव में आधुनिकता लोगों में यह प्रेरणा जागृत करती है कि वे अन्य लोगों के जीवन में भागीदारी कर सकें। ऐसी आधुनिकता नागरिकों में एक 'समृद्ध जीवन' प्राप्त करने में सहायक होगी। लेकिन जब हम भारत में इस तरह के व्यवहार में आधुनिकता की खोज करते हैं, तो हमें बड़ी निराशा होती है।

''भारत की आधुनिकता में प्रजातांत्रिक व्यवस्था को जो स्थान मिला है, वह व्यवस्था कमजोर है। देखा गया है, कि भारतीय प्रजातंत्र और पूँजीवाद जो आधुनिकता की अभिव्यक्ति है, सामान्यतः अमीरों के हक में है।''[10] यूरोप और अमेरिका की आधुनिकता का निर्माण ढेर सारी क्रांतियों ने किया जिसमें दो बड़े विश्व युद्ध हुए, वियतनाम जैसे युद्ध ने अमेरिका की कमर कमज़ोर कर दी। ये सब परम्पराएँ थी, इन्होंने आधुनिकता के भविष्य को तय कर दिया। हमारे देश की परम्पराएँ अलग थीं। यहां पहले देशी राजा व महाराजा थे, इसके बाद विदेशी आक्रमण हुए। फिर उपनिवेशवाद के रूप में साम्राज्यवाद आया। इन सब राजनीतिक और औद्योगिक कारकों ने जिस आधुनिकता को जन्म दिया, वह विशिष्टता के अनुरूप है। यहाँ का पूँजीवाद विदेशी पूँजीवाद से भिन्न है। भारत में बहुत थोड़े से भारतीय समाज अपनी विशिष्टता रखते हुए, यहां की परम्पराओं की पहचान अलग है।

भारत में आधुनिकता के जो लक्षण हैं, वे निर्विवाद रूप से दिखाई पड़ रहे हैं। हमारे देश में आधुनिकता के विकास में वैश्वीकरण की प्रासंगिकता हाल के कुछ वर्षों में बहुत अधिक बढ़ गई है। भारत में क्षेत्रीयता और स्थानीयता सुदृढ़ हो गयी हैं। इन्हें राष्ट्र–राज्य के साथ जोड़ने में वैश्वीकरण की कड़ी है हमारी स्थानीय, आंचलिक और क्षेत्रीय संस्कृतियां बहुत व्यापक हैं। इन्हें वैश्वीकरण के माध्यम से ही जोड़ा जा सकता है। भारत में आधुनिकता आज जिस दौर में है इसमें वैश्वीकरण का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। उच्च उपभोग के जो प्रतिमान आज हमारे देश के लोगों में उभरते दिखाई दे रहे हैं, वे स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि जहां एक ओर हम अपनी परम्पराओं में पूरा लचीलापन लाने को तैयार हैं। वहीं हम बड़ी उदारता से आधुनिक उपभोग की वस्तुओं को अपना रहे हैं। उपभोग करने का लालच हममें इतना वेकाबू है कि हम हर किस्म की वस्तु को अपनाने के लिए तैयार है। ऐसा समझा जाने लगा है। मध्यम वर्ग के लोग जितना अधिक उपभोग करते हैं, वह उतना ही अधिक अभिजन या समृद्ध वर्ग समझा जाने लगा है। चाय, कॉफी, अण्डा, मांस, मछली आदि का प्रयोग उपभोग का सामान्य प्रकार बन गया है। आदमी, औरत और बच्चों के पोशाक के उपभोग भी बदल गये हैं। इनमें आधुनिकता के कारण सजातीयता आने लगी है। 'दिवाकर गुप्ता' भारत में और विशेष करके मध्यम वर्ग में बढ़ती हुई खपत पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि ''यहां के मध्यम वर्ग पर पश्चिमी देशों का एक पागलपन चढ़ा हुआ है। इस पागलपन में उसने उपभोग को ही अपनी जीवन शैली बना ली है, मोटर से उसे कोई उत्पादन लाभ नहीं है, फिर भी वह उसे खरीदता है, उसके पास उपभोग की कोई वस्तुएं होती हैं जिन्हें वह केवल आधुनिकता की जीवन–शैली समझकर अपना लेता है।'' ढेर सारे अर्थशास्त्री प्रगतिजनक को आधुनिकता मानते हैं लेकिन 'अरून्धन्ती राय' की पुस्तक 'दि ग्रेटर कोमन गुड 1999''[12] में लिखती हैं कि ''बड़े बांध खाद्यान्नों के उत्पादक सहायक होते हैं। इन बांधों से हरित क्रान्ति जैसी उत्पादन क्रांतियां भी हुई हैं। लेकिन जो एक दूसरों के लिए प्रगति है, वह दूसरे के लिए विध्वंस भी है। सही वही है, जो आम आदमी के हित में हो। यह सही है कि आधुनिकीकरण के भिन्न–भिन्न रास्ते हो सकते हैं लेकिन कभी भी

भिन्न–भिन्न आधुनिकताएं नहीं हो सकती हैं। भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था को अपनाया तो सही तरीके से लेकिन हाल के वर्षों में यह व्यवस्था राजनीतिक अभिजन, जाति–नेतृत्व तथा अपराधियों के गिरफ्त में आ गई है। अतः इसमें समग्रता का अभाव है।''[13]

भारतीय परिप्रेक्षय में आधुनिकता के समबन्ध में जो भी विचार दिये गये, उससे समग्र समाज का विकास हुआ। भारत में आधुनिकता के एजेण्डा ने पिछड़े वर्गों को आरक्षण के माध्यम से विकास और सुरक्षा के कई कार्यक्रम दिये हैं। सुरक्षात्मक भेद–भाव की नीति ने दलितों को ऐसे कई अवसर दिये हैं जिनके माध्यम से वे देश की राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षणिक गतिविधियों में भाग ले सकते हैं। भारत में आधुनिकता का लक्षण केवल पूँजीवाद, उद्योगवाद, राज्य शक्ति और प्रजातंत्र ही नहीं, बल्कि यहां इसके लक्षण भारतीय समाज की विशिष्टता से है। इस समाज की अपनी कुछ एथनिक–सांस्कृतिक और ऐतिहासिक खामियां हैं। आधुनिकता को इनके साथ जूझना होगा।

आधुनिकता की तरह उत्तर–आधुनिकता भी एक जटिल प्रक्रिया है। जिसकी रूपरेखा को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। उत्तर–आधुनिकता के प्रमुख विचारक मुख्यतः 'ल्योतार', 'फूको', 'देरिदा', 'बोड्रिलार्ड', और जेनेसन हैं। कुछ उत्तर–आधुनिकतावादी महिलायें जो जेन्डर के क्षेत्र में विशेष पहचान रखती हैं। इन महिलाओं में 'नेन्सी फ्रेसर', और 'लिंडा निकोलसन', अग्रणी हैं। ''उत्तर–आधुनिकता शब्द का प्रयोग सबसे पहले 1979 ई. में 'ल्योतार' ने किया था।''[13] उत्तर–आधुनिकता विचार या दर्शन से अधिक एक प्रकृति का नाम है। यह बीसवीं शताब्दी की मूल धारा थी। यह संपूर्ण आधुनिक यूरोपीय दर्शन के प्रति एक तीव्र प्रतिक्रिया है। क्योंकि इसका विकास एवं इसकी अस्मिता का आधार आधुनिकता की देन है। 'टॉयनबी' के अनुसार ''आधुनिकता के बाद उत्तर– आधुनिकता तब शुरू होती है जब लोग कई अर्थों में अपने जीवन, विचार एवम् भावनाओं में तार्किकता एवम् संगति को त्याग कर अतार्किकता एवम् असंगतियों को अपना लेते हैं।''[14] इस प्रकार उत्तर–आधुनिकतावाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की समाप्ति के बाद की स्थिति है। उत्तर–आधुनिकता एक सांस्कृतिक और ज्ञान–मीमांसा की दशा है। जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक सामाजिक संस्थाएं दब जाती हैं।

'मैक्गूगन' के अनुसार उत्तर–आधुनिकता ''ज्ञान और संस्कृति की एक दशा है। इसमें आधुनिक सामाजिक संस्थाएं कमजोर हो जाती हैं। ग्लोबल या भूमण्डलीय समाज का निर्माण करती है।''[15] उत्तर–आधुनिकता में कोई विषय वस्तु निश्चित मानक पर आधारित नहीं होता है। इसी सन्दर्भ में 'रिचार्ड गोट' लिखते हैं कि ''उत्तर–आधुनिकता आधुनिकता से मुक्ति दिलाने वाला एक स्वरूप है। यह एक विखण्डित आन्दोलन है जिसमें सैकड़ों फूल खिल सकते हैं। उत्तर–आधुनिक में बहु संस्कृतियों का निवास हो सकता है।'' उत्तर–आधुनिकता समाज को आधुनिकता की गिरफ्त से मुक्ति देती है। यह विखण्डितता का पक्षधर है। इसमें समग्रता नहीं बल्कि इसमें बहुसंस्कृतियाँ होती हैं। उत्तर–आधुनिकतावाद का सरोकार सांस्कृतिक तत्वों से है।

उत्तर–आधुनिकता के प्रमुख विचारक ल्यौतार कि ''हमें सफलता के खिलाफ युद्ध छेड़ देना चाहिये, इसकी अपेक्षा हमारी सक्रियता विशिष्टता के प्रति होनी चाहिए''[17] ल्योतार महान वृतान्तों को अस्वीकार करते हैं। कुल मिलाकर ल्योतार विखण्डन अर्थात् स्थानीयता के पक्षधर हैं, वे विविधता के हामी हैं। और सकलता तथा महान वृतान्त के विरोधी हैं। ''उत्तर–आधुनिकता ने कई ज्वलंत प्रश्न खड़े कर दिये। इस अवधारणा ने शहरों की गगनचुम्बी इमारतों को बुल्डोजर की नाक के सामने खड़ा कर दिया।''[18] 'कॉरपोरेट' पूँजीवाद को सांसत में डाल दिया। कला के जगमगाते बाजारों को ध्वस्त कर दिया। अब एक नई संस्कृति का अवतार उत्तर–आधुनिकता के रूप में हो रहा है। यह नई संस्कृति लोकप्रिय संस्कृति है। लोकप्रिय संस्कृति संचार की है। यह लोकप्रिय संस्कृति शुद्धता से मुक्त है, अभिजन से विमुख है और कला के स्वरूप से परे है। इसकी स्टाइल अधिक रोमांचक है, व्यंग्यात्मक है, और ग्रहणशील है।''[19]

उत्तर–आधुनिकता मनुष्य की भावनाओं, मनोभावों और आध्यात्मिकता पर भी जोर देता है। आधुनिकता ने पवित्र करिश्मा, मानवीय एकता, रोमान्स सभी पर बड़े–बड़े प्रश्न चिन्ह खड़े कर दिये थे, उत्तर–आधुनिकता इन पर जोर देती है। ''समुदाय, प्रेम, स्त्रियों की कोमलता, स्नेह आदि इसके केन्द्रीय

विषय रहे हैं। हमारे देश में हिंदी साहित्य के रीतिकाल में प्रेम, शृंगार और रस की जो धारा बही थी, बिहारी जैसे रोमान्टिक कवि हुए थे, वे सब आधुनिककाल से यूरोप में विचारों को विकसित किया गया।''[20] उत्तर–आधुनिकता का केवल एक ही आयाम या पहलू हो ऐसा नहीं है। इसमें प्रजातंत्र, अर्थ–व्यवस्था, विखण्डन, संस्कृति और राजनीति, साहित्य, कला और धर्म है। इन सबसे आगे, भावनाएं और मनोभाव हैं। उत्तर– आधुनिकता में सब कुछ समाहित हैं।

आधुनिकता विचारों के माध्यम से अपना विस्तार करते हुए उत्तर– आधुनिकता व्यक्ति विशेष पर बल देता है। दोनों ही यूरोप में पैदा हुए और पूरी दुनिया को प्रभावित कर रहे हैं। जहाँ आधुनिकता में सिद्धान्त व विचार हैं, लेकिन उत्तर–आधुनिकता में ऐसा कुछ नहीं है।

lUnHkZ %

1. एस.एल. दोषी– आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता एवं नव–समाज शास्त्रीय सिद्धांत, प्रकाशन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृ.सं. 2
2. वहीं, पृ.सं. 4
3. वहीं, पृ.सं. 5
4. वहीं, पृ.सं. 9
5. वहीं, पृ.सं. 9
6. रामधारी सिंह दिनकर– आधुनिकता बोध, प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ.सं. 3
7. एस.एल. दोषी– आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता एवं नव–समाज शास्त्रीय सिद्धांत, प्रकाशन रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृ.सं.22
8. वहीं, पृ.सं. 25
9. रामधारी सिंह दिनकर– आधुनिकता बोध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ.सं. 10
10. डॉ. रामरतन भटनागर– नव चिन्तन, प्रकाशन सागर बुक स्टोर, सागर, 1970, पृ.सं. 228
11. हजारी प्रसाद द्विवेदी– परम्परा और आधुनिकता, हजारी प्रसाद ग्रन्थावली, राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण, 2007, पृ.सं. 360
12. एस.एल. दोषी– आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता एवं नव–समाज शास्त्रीय सिद्धांत, प्रथम संस्करण, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृ.सं. 40
13. बच्चन सिंह– 'हिंदी आलोचन के बीज शब्द', पृ.सं. 28
14. उत्तर–आधुनिकता बहुआयामी सन्दर्भ, पाण्डेय शशिभूषण 'शीताशू' लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 2010, पृ.सं. 21
15. कैलाश वाजपेयी– आधुनिकता का उत्तरोत्तर, प्रथम सं. 1999, सारांग प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं. 15
16. एस.एल. दोषी– आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता एवं नव–समाज शास्त्रीय सिद्धांत, प्रथम संस्करण, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृ.सं. 19
17. वहीं, पृ.सं. 153
18. वहीं, पृ.सं. 155
19. वहीं, पृ.सं. 161
20. वहीं, पृ.सं. 182

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

fgUnh miU;kl esa ?kfVr 'kfYid&ifjorZu dh fn'kk ,oa nf"V

gesUr iz lkn*

पिछले कुछ वर्षो में राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय फलक पर तेजी से बदलती परिस्थितियों ने व्यक्ति के सामाजिक जीवन को संकुल, संश्लिष्ट एवं सर्वसमावेशी बना दिया है। उपन्यासों के विस्तष्त कलेवर में यह क्षमता होती है, कि वह भविष्योन्मुखी वाणी को सुनकर उसे एक साथ पिरोने का कार्य करें। हिन्दी उपन्यासों में नया बदलाव वैश्वीकरण के समय आता है, जिसके फलस्वरूप नई पीढ़ी का जन्म होता है। उपन्यास में केवल विषयवस्तु ही नहीं बदलती, उसकी पूरी संरचना काफी वक्र, तीखी, पर्याप्त प्रहारात्मक और विस्फोटक हो जाती है। इन परिस्थितियों की आवाज उपन्यास के रचना–प्रक्रिया में सुनाई देती है। समस्याओं के विस्तार एवं जीवन की चुनौतियों ने औपन्यासिक शिल्प में भारी परिवर्तन किये हैं। कभी–कभी ऐसा प्रतीत होता है मानो उपन्यास में अन्य विधाओं की प्रवृतियाँ समाहित हो, जिसे अलग कर पाना असंभव है। कभी अध्याओं के शीर्षक असमंजस पैदा करते हैं। हिन्दी उपन्यासों में विभिन्न शैल्पिक युक्तियों के प्रयोग का मुख्य कारण आकर्षण अथवा सामाजिक जटिलता रही है। पूजीवादी सभ्यता के विकास के परिणामस्वरूप भी उपन्यास अपने व्यापक कलेवर में आया। ''पूँजीवादी सभ्यता में यथार्थ का जो रूप सामने आया, उसे अभिव्यक्ता करने के लिए उपन्यास एक आवश्यक दिशा और माध्यम के रूप में सामने आया। पूँजीवादी सभ्यता की विविध जीवन सत्यों को कथा के माध्यम से व्यक्त करने के लिए ही इसकी उत्पति हुई है।''[1]

हिन्दी उपन्यास के बदलते परिप्रेक्ष्य में जीवन की गतिशीलता रूपायित हुई है। जीवन की निरंतरता को नये स्तर पर रूपांतर किया गया है। उपन्यासों अथवा अन्य रचनाओं के शिल्प में एक महत्त्वपूर्ण परिर्वतन यह देखने को मिलता है कि साहित्यिक विधाओं में आज कोई भी साहित्यिक विधा केवल अपने रूप में सिमिट कर (अन्य विधाओं की उक्त मुक्ति) नहीं रह गयी है। उन्होंने अपने रूप का विस्तार बड़े कुशलतापूर्वक किया है। जिस प्रकार कोई मूर्तिकार मूर्ति में तोड़फोड़ कर उसे और नये सॉचे में रचकर एक नई आकर्षक रूप प्रदान करता है ठीक उसी प्रकार आज की साहित्यिक विधाएँ अपने पारंपरिक रूप में नहीं रह गयी हैं। वह पारस्परिक शैली, वृत्तियों अंतः प्रवृत्तियों को चुनौती देता हुआ एक नया रूप ही दे डालता है। कभी–कभी रचनाकार ही अपनी कृति को समझने में असमर्थ हो जाता है, कि वह किस विधा की कृति है। प्रसिद्ध कहानीकार हिमांशु जोशी जी ने अपने एक कहानी–संग्रह की भूमिका में इस परिवर्तन के स्वरूप को चित्रित करते हुए विचार किया है, ''साहित्य की विधाएँ भी नये–नये रूपों में परिभाषित हो रही है कहानी में सीमित न रहकर, विशुद्ध सच का पर्याय भी बन रही हैं। जीवनियाँ जीवन्त कथाओं का रूप ले रही हैं। आत्मकथाएँ औपन्यासिक शैली में पाठकों को अधिक रिझा रही हैं। जो जैसा है, उसे हमें उस रूप की अपेक्षा किसी दूसरे रूप में देखना अधिक स्वभाविक लग रहा है। कहानी का सच भी दूसरा रूप बनकर उभर रहा है। विधाओं की सीमा–रेखाओं के टूटने से साहित्य नया आकार ले रहा है, उसमें कम कृत्रिमता और अधिक आत्मीयता यानी अनुभूति की प्रमाणिकता अधिक सहज लग रही है।''[2]

औपन्यासिक शिल्प में यह प्रवृत्ति बिल्कुल नई है। कथाकारों ने एक ही रचना में रिर्पोटिंग, कथा, रिपोतार्ज, भाषण, पत्रकारिता, आत्मकथांश आदि का सहारा लेकर वर्तमान के जीवित राजनेताओं,

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

साहित्यकारों विश्वविद्यालयों, अध्यापकों एवं स्वयं कथाकारों ने अपने को चित्रित किया है। जैसे काशीनाथ सिंह का 'काशी की अस्सी' में भी मानसिक उहापोह यही है कि वे इसे उपन्यास माने या कहानी या रिपोतार्ज ''इसी मुहल्ले का 'लाइव शो' है यह कृति उपन्यास का उपन्यास और कथाओं की कथाएँ। खासा चर्चित, विवादित और बदनाम। लेकिन बदनाम सिर्फ अभिजनों में, आमजनों में नहीं।''[3]

उपन्यास में ऐसे प्लाट का निर्माण किया जाता है, जहाँ लेखक और पाठक, समाज या सम्प्रदाय अपना नैतिक रिश्ता बनाते हैं। किसी उपन्यास में शब्द कौशल की मात्रा अधिक होती है, कभी समस्या पर सपाट बयान होता है। आज उपन्यास में नित्य नये परिवर्तन हो रहे हैं। यथार्थवाद के घिसे–पिटे पांरपरिक रूप से उपन्यास मुक्त हो गया है। उपन्यास पाठकों में गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करने के साथ–साथ आलोचनात्मक विजन भी पैदा करते हैं, जिसे डॉ0 शंभूनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास, 'राष्ट्र और हासिया' में स्पष्ट करते हैं ''आज उपन्यास में कहन शैली, लोकोक्तियाँ, सांस्कृतिक स्मृतियों, रिपोतार्ज, जादुई यथार्थवाद, वर्णन और अन्य कई तरह से सजा–गुजाकर प्रस्तुत किया जा रहा है। यह यथार्थवाद का अपने प्रचलित घिसे–पिटे रूपों को छोड़कर नयी वास्तविकताओं की रोशनी में आगे बढ़ना है, उसका विपरीत होना नहीं। कुछ उपन्यास गहन शोध करके लिखे जा रहे हैं। सुन्दर पठनीय और अनोखे बनाए जा रहे हैं कि लोकप्रिय हो सके। उपन्यास एक पब्लिक फार्म है, पाठकों से आदान–प्रदान पर निर्भर है।''[4]

उपन्यास में शिल्प को लेकर अनेक प्रयोग किये गये हैं। उपन्यास का ढाँचा लगभग सभी उपन्यासों में दूसरे से भिन्न बनाती है मधुरेश ने 'हिंदी उपन्यास का विकास' के परिशिष्ट में सार्थक टिप्पणी करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि आज समाज की चिंता करने वाले लेखकों की चिंता समाज करता है। कॉलरिज ने कहा था We recive..... what we give" ''अपनी विकास यात्रा में उपन्यास ने शैली–शिल्प और ढाँचे को लेकर अनेक प्रयोग किये हैं। लेकिन इन प्रयोगों की सार्थकता का हमेशा ही उनके अंतर्वस्तु के संदर्भ में स्वीकारा है। दुनिया भर के उपन्यास का ढाँचा उसके जन्म लेने के बाद से ही लगभग एक जैसा रहा है। लेकिन हर कहीं अपने विशिष्ट समाज की अंतर्वस्तु ही उसके ढांचे को निर्धारित और प्रभावित करती रही है। बहुत हल्के–फुल्के ढंग से यह कहकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता कि हिंदी लेखक समाज की अधिक चिंता करता रहा, जबकि समाज उनकी चिंता नहीं करता। सच्चाई यह है कि समाज की चिंता करने वाले लेखकों की चिंता ही समाज करता है।''[5]

उपन्यास के बदलते शिल्प के परिप्रेक्ष्य में लेखक कहीं–कहीं संपूर्ण चित्रण करता। वह बहुत चीजें अनकही छोड़ देता है। मौन की व्यंजना अत्यधिक टीस और पाठकों के हृदय को उद्वेलित करने वाली होती है। कथाकारों के मौन हो जाने का यह अर्थ नहीं कि वह अपनी प्रतिब्धता का निर्वहन करने से बचता है, बल्कि मौन की व्यंजना तीखी और स्थायी होती है। रोहिंणी अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'इतिवृत की संरचना और संरूप' में अपनी कथन को स्पष्ट करने के लिए संजीव के उपन्यासों का उदाहरण देती हैं। ''जंगल जहाँ से शुरू होता है' का केंद्रीय पात्र व्यक्ति न होकर जंगल है। जंगल जो पल–पल रूप बदलकर रात के अंधेरो में खूँखार और रहस्यमय हो जाता है और दिन के उजालों में निथरा, उजला और मासूम जंगल जो नदी में बाढ़ बनकर जमीन लीलते हुए जिंदगियाँ बहा ले जाता है। तो शांत हो जाने पर नई जमीन उगलकर नई रंजिशों की फसल पैदा करता है। जंगल जहाँ अपराध पहाड़ों की तरह नंगा खड़ा है... नदियों में दूर–दूर तक बह रहा हैं। जंगल जो अपने विविध रूपों और अर्थ छवियों के साथ केलेडेस्कोप अंदाज में घुलने लगता है, तो भूगोल मात्र नहीं रहता, जाति मात्र की अरण्य गाथा बन जाता है। यही खूबी है संजीव वे सबकुछ कहते नहीं, कहते–कहते बहुत कुछ अनकहा छोड़ देते हैं और वह अनकहा शब्दहीन होते हुए भी टीस, उद्वेलन, तनाव या सवाल बनकर इस तरह मन पर दस्तक देने लगता है कि पूरा आयोजन साहित्यिक रचना का पाठ न रहकर आत्मान्वेषण की सघन यात्रा बन जाती है। अति परिचित पात्रों एवं घटनाओं के साथ व्यवस्था की जानी–पहचानी राहों से गुजरते हुए संजीव अचानक किस दुर्गम बीहड़ में पाठक को नितांत अकेला छोड़कर नितांत गायब हो जायेगा। निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।''[6]

प्रेमचंद की कथा के उपरांत कथा–लेखकों ने शिल्प के मूल ढाँचे में परिवर्तन की आवश्यकता समझी। किंतु यह प्रवृत्ति मुख्य रूप से पाश्चात्य जगत से रही है। पाश्चात्य चिंतकों ने उपन्यास में कथा को क्षीण से क्षीणतर बनने का प्रयास किया। इसका प्रभाव हमें भारतीय उपन्यासों पर भी देखने को मिलता है। इस प्रवृत्ति का साथ प्रेमचंद की बाद की रचनाओं में देखने को मिलता है। हिंदी क्षेत्र में नया उपन्यास जन्म लेने के लिए पाश्चात्य की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थी। गोपालराय में 'उपन्यास की संरचना' पुस्तक में उपन्यासों के मूल ढाँचे में बदलाव की ओर संकेत करे हुए टिप्पणी करते हैं, ''1927 में ही ई0एम0 फोर्स्टर्स में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आस्पेक्ट्स ऑफ द नॉवेल', में तनिक हसरत के साथ कहा था–काश उपन्यास में कथा न होती उनकी धारणा थी कि 'कथा' को पूर्णतः बहिष्कृत करके उपन्यास नहीं लिखा जा सकता पर उसे क्षीण से क्षीणतर तो किया ही जा सकता है। यूरोपीय उपन्यास के ही नहीं हिंदी उपन्यास में भी कथा से मुक्ति का निरन्तर प्रयास जारी रहता दिखायी देता है। पहले 'कथा' की छुट्टी हुई और उसे बाद कथानक को भी अस्वीकार कर दिया गया। प्रेमचंद ने सुगठित कथानक को शिथिल बनाने का प्रयोग किया और अज्ञेय ने 'शेखरः एक जीवनी' में ऐतिहासिक काल के रेखीय विकास को ताश के पत्तों की तरह फेंट देने का प्रयोग किया।''[7]

पुरा कालीन शिल्प उदात्त एवं गरिमापूर्ण थे। उनमें एकरूपता, समानता थी। प्रारंभिक शिल्पों में संतुलनता थी। उत्तर–संरचनावादी युग में शिल्प का रूप बिल्कुल बदल गया है। अतिरंजना, चमत्कार, रिमिक्स, विषम परिस्थितियों ने औदात्य शिल्प का स्थान ले चुका है। वर्तमान शिल्प अपनी संतुलता खो चुका है, जो उत्तर आधुनिक शिल्प की प्रमुख विशेषता है। डॉ0 अजय तिवारी ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'शिल्प और समाज' में आधुनिक शिल्प की तुलना प्राचीन शिल्प से सकते हुए लिखते हैं, ''प्राचीन कला के भव्य, उदात्त, गरिमापूर्ण शिल्प के एकदम विपरीत पैरोडी, कतरन, विद्रूप जैसे उपकरण उत्तर–संरचनावादी शिल्प का निर्माण करते हैं। स्थापत्य से संगीत तक, कविता से फैशन तक, उपन्यास से विज्ञापन तक हर जगह संतुलन की पुरानी धारणा बदल चुकी है; अतिरंजना, चमत्कार, रिमिक्स, बिल्कुल विषम सामग्रियों के अन्थग्रंथन से आज का शिल्प बना है। यहाँ तक कि सुन्दर और भदेस, संतुलित और बेडौल, सुसंगत, अनुपातहीन का ऐसा घाल–मेल है कि थोड़ी सी संस्कारबद्ध रूचिवाला सहृदय क्षुब्ध हुए बिना नहीं रह सकता है.. वास्तविक संसार की संतुलहीनता ही कला में शिल्प का गठन कर रही है।''[8]

उपन्यासों के शीर्षक की बात की जाए तो शीर्षकों के प्रयोग में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। पहले उपन्यासों के अध्यायों में क्रम होता था। किंतु इधर के उपन्यासों में अध्याय देने की विभिन्न शीर्षक शैलियाँ सामने आयी हैं। ये ऐसे शीर्षक होते हैं, जो साधारण नहीं होते। ये पाठकों को चौंकाने का काम करते हैं। पाठक उन शीर्षकों से अध्याय के कथ्य की संगति बैठाने में असमर्थता का अनुभव करने लगता है या उसे समझने में समय लगता है। उपन्यासों के अध्यायों के शीर्षक का प्रभाव न केवल उपन्यास विधा शिल्प तक ही सीमित है, बल्कि कहानी शिल्प पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। इसका उल्लेख पुष्पजाल सिंह ने 'भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास' में करते हैं– ''पहले उपन्यासों के अध्याय प्रायः ही एक, दो, तीन के क्रम से दिए जाते थे और कुछ उपन्यासों के अंत में 'उपसंहार' (गुनाहों का देवता) भी होता था। किंतु अब उपन्यासों के इस शैली के अतिरिक्त कहीं अध्याय दिये ही नहीं जाते हैं, केवल स्थान छोड़कर या समय अंतराल सूचक कोई चिन्ह मात्रा दे दिया जाता है (तत्वमसि : जया जायवानी)। उपन्यास के अध्यायों में विभिन्न शीर्षक देने की शैली इधर बहुत अधिक प्रचलन में आयी है, कहीं–कहीं तो ये शीर्षक से अध्याय के कथ्य की संगति बैठना काफी मुश्किल सा काम हो जाता है। अध्यायों के लिए शीर्षक का प्रयोग 'मुझे चाँद चाहिए' सुरेन्द्र वर्मा से अधिक होने लगा है......अध्याय शीर्षकों का सर्वप्रथम आकर्षण प्रयोग अलका सरावगी के 'कलिकथा : वाया बाईपास' में मिलता है और वे अध्याय के कथ्य से भी संबंधित रहे हैं। कुछ उपन्यासों का शीर्षक बड़ा वैचित्र्य होता है और कथा से उनकी क्या संगति बैठती है, यह समझने में कुछ देर लगती है।''[9]

पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित हुए उपन्यासों के आकार पर नजर डालें, तो हम पाते हैं कि स्थिति चौंकाने वाली और भयावह है। कुछ उपन्यास दो खंडो में और कुछ उपन्यास 400 पृष्ठों से ऊपर लिखे

गये हैं। कुछ लेखक वृहद उपन्यास लिखकर महानता की श्रेणी में आना चाहते हैं। उपन्यास लिखकर उसे पूर्ण रूप से पठनीय बनाना प्रत्येक लेखक की क्षमता से बाहर होती है। बाजारीकरण के इस दौर में प्रकाशक के लिए कृति सिर्फ और सिर्फ मोटा मुनाफा कमाने का साधन रह गयी है। यद्यपि यह कोई नियम नहीं है कि केवल छोटे उपन्यास ही श्रेष्ठ हो सकते हैं या इसके पृष्ठों की कोई सीमा निर्धारित है, किंतु आज भागमभागी के दौर में पाठक पृथुलाकार के वृहद उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण चीजों को भी ग्रहण नहीं कर पाते। यह स्थिति अहिंदी प्रदेश के उपन्यासों में भी बनी हुयी है। पृथुल उपन्यास महत्त्वपूर्ण रहते हुए भी अपठ्य रह जाते हैं। उपन्यास के आकारगत परिवर्तन पर पुष्पपाल सिंह ने अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास' में सटीक एवं सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए लिखते हैं ''यदि पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित उपन्यासों के आकार पर दृष्टि डालें तो स्थिति बड़ी चौंकानेवाली व लगभग भयावह है.... हॉलांकि कुछ लेखक उपन्यास साध ही नहीं पाते हैं। उनकी कथा का सिरजा काफी बिखर जाता है। कहीं–कहीं उनमें पठनीयता का बुरी तरह क्षरण भी हो जाता है। कुछ लेखकों को यह भ्रम है कि महान उपन्यासकार होने के लिए 'महा उपन्यास लिखना लाजिमी है। पुरस्कारकामी लेखन ने भी इस 'महा उपन्यास' प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। बड़े उपन्यासों को कुशल लेखक बहुत आधी तरह साथ लेते हैं, ऐसे भी उदाहरण विरल नहीं हैं कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' बड़े आकार का होते हुए भी पाठकों में (थोक खरीद के बल पर नहीं) खूब लोकप्रियता हुआ– यह दीगर बात है कि कुछ लोगों को यह उपन्यास ही नहीं लगता।..... ऐसे में हमारे उपन्यासकारों को कुछ हाल ही में आए उपन्यासों को भी अपना 'कथा–मॉडल' बना लेना चाहिए। कुछ उपन्यास छोटे आकार में भी महत् कृति का रूप लेते हैं–निन्यानबे, ''मैं अपनी झोली नहीं दूँगा'', ''कलि–कथा : वाया बाइपास'', ''काशी का अस्सी'', ''जमीन'' आदि।''[10]

इस प्रकार उपन्यासों में शैल्पिक परिवर्तन कथ्य के अनुरूप ही घटित होते चले जा रहे हैं। आधुनिक उपन्यासों में नैतिक–दृष्टिकोण के बदलाव से भी उपन्यास की संरचना में बदलाव आया है। उपन्यास की संरचना को वस्तु, चरित्र और संवेदना ने पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। अपनी समृद्धि के बल पर ही हिंदी उपन्यास आज वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठित है।

lUnHk %

1. बाबा, डॉ0 ऋचा, 'उपन्यास के सिद्धांतों का विकास और विवेचन', पुष्पांजलि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001, पृष्ठ सं0 11
2. जोशी, हिमांशु, 'सागर तट के शहर', भूमिका पृष्ठ सं0 5
3. सिंह, पुष्पपाल, 'भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास', राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं0 131
4. डॉ0 शंभूनाथ, 'हिंदी उपन्यास : राष्ट्र और हासिया', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ सं0 345
5. मधुरेश, 'हिंदी उपन्यास का विकास', लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ सं0 236
6. अग्रवाल, रोहिणी, 'इतिवृत्त की संरचना और संरूप', आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ सं0 138
7. गोपालराय, 'उपन्यास की संरचना', राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं0 402
8. तिवारी, अजय, 'शिल्प ओर समाज, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, 2014, पृष्ठ सं0 79
9. सिंह, पुष्पपाल, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं0 132–133
10. वहीं, पृष्ठ सं0 136

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

ixfr'khy pruk vkj ixfroknh dfork

v:.k dekj 'kDy*

आधुनिक हिन्दी कविता का चतुर्थ चरण प्रगतिवाद नाम से जाना जाता है और इसका समय 1936 से 1943 ई0 कहा जाता है। डॉ0 राम विलास शर्मा, डॉ0 कमला प्रसाद तथा कुछ अन्य विचारक यह मानते हैं कि साहित्य या कला में किसी नयी चेतना का उदय इतिहास की किसी घटना की तरह किसी निर्धारित तिथि या समय पर नहीं होता, किन्तु प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन 1936 से इस काव्य धारा का उदय माना जाता है और द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के कारण इसका अवसान 1943 से माना जाता है। 1943 ई0 में तारसप्तक के प्रकाशन के साथ ही प्रयोगवाद और नयी कविता का उद्भव हुआ है इसीलिए प्रगतिवाद की सीमा 1936 से 1943 तक मान्य सी हो गयी है।

प्रसिद्ध प्रगतिवादी विचारक महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा कि ''प्रगतिवाद कोई 'कल्ट' या सम्प्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का काम है–प्रगति के रूँधे रास्ते को खोलना उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतंत्रता का नहीं परतंत्रता का शत्रु है।[1] श्री राहुल जी प्रगतिवाद के लक्षण में हिन्दी तथा विश्व साहित्य में उत्पन्न हुई प्रगतिशीलता के व्यापक पटल पर हिन्दी साहित्य के 'वाद' विशेष को स्थापित करना चाहते हैं। इसीलिए वे प्रगतिवाद में आगत यथार्थवाद के प्रभाव से सुन्दरता अर्थात् सौन्दर्य दृष्टि को भी उपेक्षित नहीं मानते। प्रगतिवाद को वे उच्च साहित्य के निर्माण का साधक तथा अवरोधकारी शक्तियों की संकीर्णता को तोड़ने वाला मानते हैं।

प्रगतिवाद की सुप्रसिद्ध लेखिका रेखा अवस्थी लिखती हैं कि ''छायावाद के भीतर रोमांटिक विद्रोह, सामन्ती नैतिकता के बंधनों के प्रति आक्रोश, वेदना, प्रकृति–प्रेम, स्त्री–पुरूष सम्बन्धों में सहज स्वच्छन्दता का आग्रह साम्राज्यवाद का विरोध आदि परस्पर टकराते हैं। अतः यह समझ वैज्ञानिक नहीं कि छायावाद पलायन का काव्य था।[2] डॉ0 रेखा अवस्थी की उपर्युक्त स्थापना डॉ0 राम विलास शर्मा तथा डॉ0 नामवर सिंह के समर्थन में है। डॉ0 शर्मा ने 'निराला की साहित्य साधना' लिखने के पूर्व ही यह कहा था कि प्रगतिशील चेतना का उद्भव इससे पूर्व की छायावादी कविता के प्रगतिशील तत्वों से हुआ है। डॉ0 शर्मा लिखते हैं– ''छायावाद काव्यधारा में जो प्रगतिशील और जन हितैषी तत्व थे उन्हें अपने में समेटकर यह धारा आगे बढ़ने का प्रयास कर रही है। प्रगतिशील कविता छायावाद की परिणति है। उसका विद्रोह पुरानी सीमाओं से निकलकर आज एक विषद सामाजिक रूप धारण कर रहा है।'' विलासिता और सामन्तवाद का विरोध तथा राष्ट्रीय चेतना इन तत्वों का विवेचन करते हुए डॉ0 नामवर सिंह भी लिखते हैं– ''छायावाद हमारी विशेष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किये। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढ़ियों से मुक्त किया उसी तरह उसने आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर प्रेरित किया। व्यक्ति की स्वाधीनता, विराट–कल्पना, प्रकृति सहचर्य, वैयक्तिक प्रणय, उच्च नैतिक आदर्श, देशभक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि के प्रसार द्वारा छायावाद ने हिन्दी जाति के लिए जीवन में ऐतिहासिक कार्य किया।[3] डॉ0 सिंह की यह धारणा आधुनिकता के विकास में छायावाद की महत्वपूर्ण भूमिका की पहचान से सम्बन्धित है जिसके द्वारा वे यह बताना चाहते हैं कि प्रगतिशील कविता के अधिकांश तत्व छायावाद में ही पनपने लगे थे।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, एम0डी0पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़।

प्रगतिवाद के लक्षणों को पहचानने के क्रम में यह धारणा भी ध्यान में रखनी चाहिए कि आदिकाल के तांत्रिक साहित्य से भक्ति काल का उदय हुआ। भक्ति काल की सगुण भक्ति धारा के कृष्ण भक्ति से रीति काल में लौकिक धरातल पर उतरकर 'लाल' और 'लली' के प्रेम की श्रृंगारिक अनुभूतियों के चित्रण में संलग्न हुआ। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आधुनिक काल के नवजागरण का प्रभाव इनके चक्रीय क्रम में छिपे गति से अग्रसर हुआ और भारतेन्दु युग के नवजागरण और देश भक्ति से द्विवेदी युगीन राष्ट्रीयता का उद्‌भव हुआ। इसी प्रकार द्विवेदी युग की स्वच्छन्दता वादी चेतना रहस्वाद से घिरकर आगे नहीं बढ़ी किन्तु उसी चेतना से राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के प्रभाव से छायावाद का उदय हुआ। प्रगतिवाद उसी छायावाद के प्रगतिशील तत्वों से उद्‌भूत होता है।

हिन्दी समीक्षकों का एक वर्ग ऐसा है जो छायावाद को पलायनवादी मानता रहा। प्रसाद की प्रसिद्ध कविता 'ले चल वहाँ भुलावा देकर' के राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त निराशा को दरकिनार कर इन समीक्षकों ने एक सरलीकरण की प्रवृत्ति वाली स्थापना फतवे की तरह घोषित कर दी कि छायावाद पलायनवादी है। प्रगतिवादी काव्य धारा को कुछ समीक्षक विदेशी प्रभाव का द्योतक मानते हैं। आश्चर्य होता है कि डॉ0 रांगेय राघव की इस स्थापना पर जब वे यह कहते हैं कि– ''हिन्दी में इस भावना का विकास विलायत से लौटे हुए उन मध्यम वर्गीय या उच्च मध्यम वर्गीय युवकों ने किया जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे, किन्तु जिनका ज्ञान भारत के विषय में नहीं के बराबर था। वे लोग भारत के इतिहास और संस्कृति को कुछ अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से ही पढ़ सके थे। हम यह बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि प्रारम्भ से ही जो नींव गिर पड़ी उसकी ईंट तिरछी पड़ी और दुर्भाग्य से यह ऊपर की इमारत तिरछी हो गयी।[4] साहित्य की समीक्षा लम्बाई या चौड़ाई नापने का मीटर या गज का फीता लेकर नहीं की जा सकती। प्रगतिवादी समीक्षा के पुरोधा ने किसी आग्रही दृष्टिकोण के कारण विदेशी साहित्य के प्रभाव तथा उच्च शिक्षित युवकों द्वारा रचे जाने के कारण प्रगतिशील नहीं मानते जबकि प्रगतिवादी चेतना का उत्स भारत में व्याप्त परतंत्रता तथा अंग्रेजी शासकों की दमनकारी नीतियों की प्रतिक्रिया है।

यथार्थवाद न तो मार्क्सवाद का भावानुवाद है और न ही हिन्दी कविता की कोई धारा विदेशी प्रभाव से उत्पन्न हुई है। जहाँ अधुनातन चेतना के प्रभाव का प्रश्न है अधिकांश आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ ज्ञान–विज्ञान के प्रसार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के उदय तथा आत्म चेतना और व्यक्तिवाद और समाजवाद के द्वन्द्व से उत्पन्न हुई है। इन सभी काव्य धाराओं पर विश्व के किसी प्रसिद्ध महाकवि का प्रभाव उसी प्रकार है जैसे रवीन्द्र नाथ टैगोर का प्रभाव सुमित्रानन्दन पन्त की सौन्दर्य दृष्टि पर देखा जाता है।

'प्रगतिवाद' की इन परिभाषाओं और प्रवृत्तियों का सम्यक अनुशीलन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि प्रगतिशील चेतना, देश, समाज, साहित्य और साहित्यकार के अन्तर्सम्बन्ध पर आधारित है। प्रसिद्ध समीक्षक और आधुनिक साहित्य के मर्मज्ञ डॉ0 नामवर सिंह ने अपनी समीक्षा कृति 'इतिहास और आलोचना' में 'समाज' 'लेखक' और 'साहित्य' का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए माना है कि कोई भी लेखक या साहित्यकार अपने समाज की उपज हुआ करता है। ''समाज बनाता है साहित्यकार को और साहित्यकार रचना करता है साहित्य की और वह साहित्य यदि अपनी इतिहास चेतना की देन है, तो उस साहित्य से प्रभावित होता है 'समाज'। सुमित्रानन्दन पन्त को विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन से 1969–70 डी0 लिट्‌0 की उपाधि प्रदान किये जाते समय छायावाद की प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा था कि जिस प्रकार देश की प्रकृति का समन्वय बादलों की वर्षा द्वारा होता है उसी प्रकार उच्च कोटि का साहित्य सामाजिक संवेदनाओं को ग्रहण कर उसे अपने अनुभव से पचा, गलाकर लोकहित के लिए साहित्य की सर्जना करता है उसी प्रकार बादल पैदा होता सागर के हृदय से और उड़कर वह उत्तर या पश्चिम की ओर जाकर वर्षा करके धरती को हरियाली देता है और उसका अधिक जल नदियों के द्वारा पुनः उसी सागर को लौटा दिया जाता है।

भारतीय समाज और संस्कृति का यही आदान–प्रदान साहित्य सर्जना को एक साहित्यिक प्रक्रिया से जोड़ता है और यही जोड़ने और जुड़ने की साहित्य की प्रक्रिया ऐसी अनुकूल है कि सागर के

खारे जल से वाष्प ग्रहण कर बादल उसे मीठा जल बनाता है। उसी प्रकार प्रगतिशील कवि अपने समाज के द्वन्द्व, कुण्ठा, निरासा और जीवन संघर्षो को ग्रहण करते हुए अपने अनुभव की भट्ठी में गलाकर अपनी शिल्प विधि और प्रतिभा के साँचे में ढालकर जन के हित से युक्त करता है इसी प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है'।[5] साहित्य सर्जना का क्षेत्र भौगोलिक अथवा राजनीतिक सीमा में बँधता नहीं है और प्रगतिवादी कविता का मुख्य लक्षण यह है कि उसका रचनाकार जीवन और जगत् के द्वन्द्व को झेलते हुए अवरोधक तत्वों को त्याग देता है और ग्राह्य जनवादी, व्यक्तिवादी तत्वों को ग्रहण कर उससे कविता की रचना करता है।

प्रसिद्ध समीक्षक डॉ0 कमला प्रसाद ने प्रगतिवाद का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'प्रगतिशील जनवादी कविता मानव मुक्ति के संघर्ष' की कविता है। रचनाकार यह स्वयं आत्मविश्वास स्तर पर करता है। मुक्तिबोध की काव्य रचना प्रक्रिया से प्रभावित विद्वान समीक्षक ने लिखा है– रचना प्रक्रिया में अतीत और समकाल में से किसका कितना हिस्सा होता है, प्रगतिशील कवि यांत्रिक तरीके से इसके लिए नहीं सोचता। समकाल के प्रभाव का ज्यों का त्यों कविता में उतार देना उसे प्रोपेगण्डा बना देता है तथा इतिहास की अंध आवृत्ति रूढ़ि ग्रस्त या पुनत्थानवादी। इसीलिए रचयिता की मानसिक प्रयोगशाला में समकाल और इतिहास का मिश्र घोल बनता है। उस घोल की

क्रिया संवेदना के रसायन से सम्पन्न होती है। संवेदना अमूर्त नहीं होती। वह वस्तु में निहित रहती है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दों का वस्तु निरपेक्ष होना असम्भव है। रचयिता के लिए वस्तु का पूरा अर्थ समकालीनता का पर्याप्त है।[6]'' डॉ0 कमला प्रसाद के उपर्युक्त विवेचन का सम्बन्ध समीक्ष्य प्रगतिवादी कविता से है। प्रगतिवादी कविता के यथार्थवाद से खीझकर कुछ समीक्षक यह मानते हैं कि यह धारा सौन्दर्य चित्रण की विरोधी होती है। सौन्दर्य वस्तु में निहित होता है और कोई भी 'वस्तु' उपयोगितायुक्त होने के कारण सर्जक का ध्यान आकृष्ट करती है।

lUnHk %

1. हंस, संपादक, अमृतराय, अक्टूबर 1947, पृष्ठ 15
2. प्रगतिवाद और समान्तर साहित्य, रेखा अवस्थी, पृ0 16
3. छायावाद, डॉ0 नामवर सिंह, पृ0 142
4. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, डॉ0 रांगेय राघव, पृ0 7
5. अशोक के फूल–हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 88
6. आधुनिक हिन्दी कविता और आलोचना की इन्द्रात्मकता, डॉ0 कमला प्रसाद, पृ0 259

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

mRrj&vk/kfudrk

vuie feJ*

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भारत में उत्तर आधुनिकता के माध्यम से बाजारवाद की संकल्पना तीव्रगति से उभरती है। यह दशक भारत में नयी आर्थिक नीति, उदारीकरण एवं निजीकरण की संकल्पनाओं के साथ प्रस्तुत होता है। इन सबका प्रभाव राजनीति, समाज, धर्म पर तो पड़ता ही है, साहित्य पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है।

उत्तर–आधुनिकतावाद को पूँजीवाद की उत्तर–अवस्था नव पूँजीवाद से जोड़कर देखा जा रहा है। भूमण्डलीकरण और बाजारवाद उत्तर–आधुनिकता की विशेषताएं हैं बाजारवाद यानी उपभोक्तावाद जिसमें पहले वस्तु बनाई जाती है फिर आवश्यकता पैदा की जाती है। अजय तिवारी लिखते हैं– ''इनके बीच उपभोक्तावादी रणनीति के साथ पश्चिम में उत्तर–आधुनिकता का विकास हुआ। पूरी अथव्यवस्था 'रियायत' और 'जवाबदेही' से हटकर 'प्रोत्साहन' और 'प्रतिस्पर्धा' पर आ टिकी। नागरिक समाज को वित्त पूँजी के अनुरूप 'ऋणं हत्वा घृतं पिबेत्' के सिद्धान्त पर ला दिया गया ताकि सूद और मुनाफे से दोहरा संचय हो सके।[1] अधिकांश आलोचक उत्तर–आधुनिकता को बाजारवाद से जोड़कर देखते हैं लेकिन डॉ0 मैनेजर पाण्डेय–'उत्तर आधुनिकता को मध्ययुगीनता की वापसी मानते हैं। इतिहास, पुराण गाथाएँ लोक संस्कृति का पुनराविष्कार उत्तर–आधुनिकता की देन है। इतिहास या अतीत भव्यता के साथ प्रदर्शित तो किया जा रहा है, लेकिन धर्म, नीति, सदाचार, नैतिकता को प्रोत्साहन इसका उद्देश्य नहीं है। कृष्ण दत्त पालीवाल लिखते हैं– ''उत्तर–आधुनिकता के लिए अतीत एक क्रीड़ा है। इस क्रीड़ा में वह अतीत को पुण्य–उपभोग की संस्कृति बनाकर उसका लुत्फ उठा लेना चाहती है। यही कारण है कि वह अतीत की नवनिष्पत्ति तो करती है, लेकिन उसकी गरिमा, महिमा और महावृतान्तता, महानायकवाद को ध्वस्त करके हंसती है, व्यंग्य करती है.....देह हो या रचना, धर्म हो या दर्शन सभी को विज्ञापन बनाती है।''[2] डॉ0 मैनेजर पाण्डेय उत्तर–आधुनिकता को मध्ययुगीनता से जोड़कर देखते हैं लेकिन यूरोपीय या अमेरिकी समाज के लिए चाहे यह बात सत्य हो क्योंकि वहाँ के मध्ययुगीन इतिहास को अंधकार काल कहा है, लेकिन भारत का मध्ययुग लोक जागरण, आत्मान्वेषण तथा मुक्ति कामना का काल है और मध्ययुग की सांस्कृतिक चेतना का निर्माण कबीर, तुलसी जैसे संतों ने लोक जागरण के माध्यम से किया है। यूरोपीय संस्कृति में धर्म या चर्च अथवा पोप का वर्चस्व आज भी विद्यमान है, इसलिए यूरोप के संदर्भ में 'उत्तर– आधुनिकता' मध्ययुगीनता का पर्याय हो सकती है, भारत के संदर्भ नहीं।

लीलाधर मण्डलोई उत्तर–आधुनिकतावाद को उदारवाद से जोड़कर देखते हैं। वे लिखते हैं–''बेशक उदारवाद शब्द अनुवाद की देन है लेकिन मीडिया ने इसे समय का केन्द्रीय रूपक बना दिया है। भ्रम की अवस्था बनी हुई है जिसे देखकर सोचने–विचारने और उसे साफ करने की जरूरत है। वैचारिक आंदोलन का अभाव, सांस्कृतिक शून्यता, पूँजी के दर्शन का फैलाव, सांस्कृतिक कारोबार का उदय, पापुलर कल्चर का फैलता साम्राज्य, वैज्ञानिक सोच के बरक्स संकीर्ण धार्मिक सोच का पर्यावरण, उपभोक्तावाद के पंजों में घिरता मनुष्य, मूल्यों का क्षरण आदि पद चर्चा में है।''[3] उत्तर–आधुनिकता के युग जिस सांस्कृतिक शून्यता की बात कही जा रही है, अशोक बाजपेयी इस पर में विचार करते हुए कहते हैं कि–'यह सांस्कृतिक शून्यता हम पर कहीं बाहर से और शक्तियों ने नहीं लाद दी है, हमने स्वयं

*एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी, एम0डी0पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़।

उसकी रचना निबाही है।' श्री अशोक बाजपेयी जिस सांस्कृतिक शून्यता की बात करते हैं, उसे मूल्यहीनता समझना चाहिए। मूल्यहीनता को मोहभंग से जोड़कर देखना चाहिए क्योंकि आजादी की लड़ाई के दौरान जो मूल्य अर्जित किये गये थे, वे धीरे–धीरे क्षरण की ओर जाते दिखाई पड़ रहे हैं। कारण यह है कि आजादी मिलने के बाद नागर समाज राजनीतिक सत्ता में मिल गया। आजादी के बाद यह समूह सत्ता का हिस्सा बन गया है और राजनीतिक पतन से इसने समाज को खोखला करना शुरू कर दिया जिसके कारण सशक्त नागर समाज नहीं बन पाया। यही कारण है कि आज समाज का का नेतृत्व भ्रष्ट नेताओं अफसरों और माफिया के पास है। सांस्कृतिक शून्यता या वैचारिक शून्यता के लिए सत्ता तथा सत्ता पर काबिज नेतृत्व ही जिम्मेदार है। सत्ता का उपयोग, दुरूपयोग राजनीति अपने ढंग से करती है, इसलिए शासन तथा राजनीतिक मूल्यों और विचारों की व्याख्या अपने ढंग से करके अराजक माहौल का निर्माण करता है जो अपसंस्कृति के रूप में हमारे सामने आ रहा है। अपसंस्कृति यानी की भाषा के नाम पर विदेशी अधकचरी भाषा, शिक्षा के नाम पर सिर्फ सर्टीफिकेट और सरकार के नाम पर सिर्फ जाति भेद और धर्मभेद की राजनीति।

नये विमर्श, नयी सामाजिक संरचना का सीधा प्रभाव साहित्य में संरचनावाद के रूप में देखा जाता है, और विखण्डनवाद इसी का एक अंग है। डॉ0 कमला प्रसाद ने कहा कि 'समाजवादी मुल्कों में अफसरशाही स्वेच्छाचारी हो गयी तथा कम्प्युनिष्ट पार्टियों ने आन्तरिक लोकतंत्र को क्षति पहुँचाई। फलतः कई देशों का समाजवादी ढाँचा चरमरा गया। इनमें से सोवियत संघ के बिखराव ने घातक दिशा ग्रहण की। दुनिया पर फिर पश्चिमी देशों–विशेषकर अमरीका का वर्चस्व बढ़ने लगा। इस संधि में उत्तर–आधुनिकता की धारणा ने जोर पकड़ा। विखण्डनवाद का पुरजोर प्रचार हुआ। सृजन के संसार में रचना की जगह संरचनावाद का आग्रह बढ़ा।''[4] विद्वान आलोचक के इस विचार से उत्तर–आधुनिकतावाद की विचारधारा ने विखण्डनवाद का रूप ग्रहण किया जिसका प्रभाव साहित्य पर संरचनावाद के रूप में पड़ता है। कमला प्रसाद जी ने इस परिस्थिति को बीसवीं शताब्दी के नौंवे दशक की विश्व राजनीति की कोख से उपजने वाले पूँजीवाद के सामंतवादी परदे को उभार दिया है। अब से बीस वर्ष पहले प्रसिद्ध समीक्षक डॉ0 रघुवंश ने विश्व राजनीति के दोनों ग्रुपों के देशों को सामंतवादी कहा है। इसलिए वे पश्चिम के समाजवादियों तथा पूँजीवादी देशों की व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक माना है। डॉ0 कमला प्रसाद ने सुधीश पचौरी के हवाले उत्तर–आधुनिकता, संरचनावाद की विवेचना की है– ''सुधीश पचौरी ने दोनों में भेद करते हुए लिखा है समकालीन कविता, रचना न होकर संरचना है। रचना संरचना के मुकाबले कम सचेत प्रयत्न ठहरता है। संरचना आधुनिक समाज का परिणाम है जिससे रोमांटिक एज को एक बारगी समाप्त कर दिया।[5] प्रसिद्ध समीक्षक डॉ0 अवधेश कुमार सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका में अपने एक लेख के माध्यम से उत्तर–आधुनिकतावाद को भी परा आधुनिकता की ओर जाते हुए देखा है। जिस प्रकार उतर–आधुनिकतावादियों ने आधुनिकतावाद के साथ–साथ 'कविता के अन्त' की घोषणा भी की, उसी तरह अवधेश कुमार ने कहा है कि आधुनिकतावाद के टोटलाइजेशन इसेंसिलाइजेशन, रिडक्सनिज्म का असंभव मान अस्वीकृत कर दिया है और उत्तर संरचनावादी व्यवहार पक्ष का उपयोग कर डीकान्स्ट्रक्शन पाठ विधि का प्रयोग किया जो एक ओर तो कृति को साइकोएनालासिस भी अर्थात् उपलब्ध संकेतकों के आधार पर मूल तक पहुँच उसे जानने का प्रयास था, दूसरी ओर नई आलोचना के सूक्ष्म और नजदीकी पाठ की नये ढंग से पैरवी की। चूँकि विसंरचना करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि कृति स्वयं को पहले से ही विसंरचित कर चुकी है अतः कृति के पास जाकर देखना पड़ता है कि किन–किन स्थानों पर ऐसा हुआ है।''[6] इन तर्कों के आधार पर डॉ0 अवधेश कुमार सिंह कहते हैं –''आधुनिकतावाद प्रारम्भ से ही वैश्विक है जिसमें एक प्रकार के तरल या लिक्विड समाज को जन्म दिया है जिसमें स्थायित्व या टिकाऊपन कभी–कभार ही दिखाई देता है। समाज जीवन में स्थापित संबंधों की अस्थिरता तथा नजाकत के साथ समाज संरचनाओं में आये सतत् परिवर्तन ने पर–आधुनिकतावाद को भी प्रभावित किया है।''[7] इस प्रकार यह समझ में आता है कि उत्तर आधुनिकतावाद के उपरांत सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के परस्पर प्रभाव से समाज की गतिशीलता के साथ–साथ मूल्यों में भी सतत् परिवर्तन हो

रहे हैं। इन्हीं परिवर्तनों के प्रभाव से उत्तर–आधुनिकतावाद के अगले चरण पर–आधुनिकतावाद का आगमन हुआ जिसके सम्बन्ध में ंअंग्रेजी के शब्द Ultra Modernism का अर्थ ग्राह्य है। यह शब्द मूलतः लैटिन का है जिसका अर्थ है अन्य अथवा पर या भिन्न जो डिफरेंट के बहुत नजदीक है पर आधुनिकतावाद के घोषणा पत्र में चार सूत्र बताये गये हैं जिसका अर्थ है उत्तर–आधुनिकतावाद मर चुका है नयी आधुनिकता उदीयमान है। बहुसंस्कृतिवाद और अस्मिता का मिश्रण हो रहा है। नव ब्रह्माण्डवाद अनुवाद, उपशीर्षकीकरण के माध्यम से डबिंग पर आधारित है, इसमें समय और अंतराल (Space) के आपस में जो संबंध बुनावट का रूप लेते हैं आजकल की कला उसे तलाशती है।

एडवर्ड सईद ने प्राच्यवाद के अध्ययन–विश्लेषण को आधार बनाकर उत्तर–औपनिवेशक पाठ पद्धति का विरोध किया है। सईद कहते हैं कि पूरब की प्रचलित छवि पूरब का यथार्थ न होकर पश्चिम द्वारा निर्मित छवि है, पश्चिम की वर्णित छवि है, पश्चिम के अधूरे पूरबबोधकी व्याख्या है। दूसरे यह भी कि प्राच्यवाद को साम्राज्यवादी संरचना से काटकर नहीं देखा जा सकता क्योंकि पूरब और पश्चिम का सम्बन्ध प्रमुखतया सत्ता–आधिपत्य और जटिल प्रभुत्व का है। गौतम सान्याल सईद के प्राच्यवाद और उत्तर–आधुनिकता का विश्लेषण करते हुए कहते हैं– ''दरअसल सईद जागतिकता को पाठ से बिल्कुल कतर देने के लिए फ्रायड सोस्यूर, नीत्से और एक सीमा तक देरिदा के प्रतिरोधी हैं। उनका कहना है कि इन चिन्तनों के कारण ही समकालीन समीक्षा ने अपरिसीम प्रणालीगत स्वतंत्रता हासिल कर ली है और पाठ को पारम्परिक निरंतरताओं (यथा राष्ट्र, परिवार, जीवनी युग, समाज आदि) से अलग किया है।''

lUnHk %

1. अजय तिवारी का लेख–नया ज्ञानोदय–संपादक–रवीन्द्र कालिया–फरवरी 2010, पृ0–84
2. नया ज्ञानोदय–साहित्य वार्षिकी, जनपरी 2015, संपादक– लीलाधर मण्डलोई
3. आलोचक और आलोचना, डॉ0 कमला प्रसाद, पृ0 61
4. कविता का अंत–सुधीश पचौरी, पृ0 7 आलोचक और आलोचना में कमला प्रसाद उद्धृत।
5. आलोचना, अप्रैल–जून 2012, संपादक–नामवर सिंह, पृ0 19
6. अलोचना, जनवरी–मार्च 2012 संपादक–नामवर सिंह, पृ0 12
7. उत्तर–आधुनिकता और दलित साहित्य, कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ 167

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

Ákphu uhfr xFk esa lkekftd thou ,oa 'kklu r=

M,0 jfo'k dekj frokjh*

यह सर्व प्रचलित स्वीकृति है कि मनुष्य समान नहीं है और यह विभिन्न श्रेणियों में विभाजित जिनके कर्तव्य पृथक तथा जीवन पद्धतियाँ स्पष्ट हैं, एक उच्च (पुरोहित) वर्ग है, भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। उच्च श्रेणियों के मिथ्याभिमान की आलोचनाएँ समय–समय पर सुनी गयी थीं, परंतु ऋग्वेदीय युग के अंतिम चरण से आज तक यह सामान्य विचार साधारण रूप से मान्य होता आया है।

हम देख चुके हैं कि ऋग्वेदीय युग के अन्त से समाज का चार श्रेणियों में विभाजन मौलिक, आदिम तथा दैवीय रूप से निर्दिष्ट माना गया था। अत्यधिक प्राचीन आर्यों के श्रेणी विभाजन से भारत के चार वर्णों का विकास हुआ क्योंकि अनेक भारोपीय समुदायों में कुछ श्रेणी–विभाजन विद्यमान था तथा प्राचीन ईरान में चार श्रेणियाँ थी जो भारत के वर्गीकरण से अनेक दशाओं में तुलना करने के योग्य थीं। भारत में श्रेणी–विभाजन शनैः शनैः अधिक जटिल होता गया जबकि वैदिक युग में वर्तमान अफ्रीका में प्रचलित परिस्थिति की भाँति यहाँ भी एक नवीन स्थिति उत्पन्न हो गयी। जिसमें शक्ति सम्पन्न गौर वर्ण के अल्पसंख्यक, श्यामवर्ण के बहुसंख्यकों पर अपनी पवित्रता तथा श्रेष्ठता को बनाये रखने का प्रयास कर रहे थे। कबीलों का श्रेणियों में विभाजन और अधिक कठोर होता गया तथा श्याम चर्म वाले आदिवासियों ने आर्यों की सामाजिक रचना के केवल निम्नतम स्तर पर दास के रूप में स्थान प्राप्त किया जिनके अधिकार अत्यधिक सीमित थे तथा जिनमें अनेक निर्योग्यताएँ थीं। शीघ्र ही वर्ण–व्यवस्था के विचार ने भारतीय मस्तिष्क में इतना गम्भीर स्थान ग्रहण किया कि इसके पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मोती जैसे बहुमूल्य तथा लकड़ी जैसे उपयोगी पदार्थों के वर्गीकरण के लिए भी होने लगा। सैद्धान्तिक रूप से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ0 प्र0 बालकों, संन्यासियों तथा विधवाओं के अतिरिक्त जो इस व्यवस्था की परिधि के बाहर थे, समस्त आर्य, चार श्रेणियों में से एक सम्बन्धित थे। तीन उच्चतम श्रेणियों तथा शूद्रों के बीच एक महान अन्तर स्थापित किया गया। प्रथम द्विज दो बार जन्म लेने वाले थे अर्थात् पहले अपने जन्म से तथा पुनः संस्कारों से, जब उनका यज्ञोपवीत किया जाता था और वे आर्यों के समाज के बीच ग्रहण करते थे। शूद्र, संस्कार विहीन तथा उसे प्रायः आर्य समझा नहीं जाता था। सैद्धान्तिक रूप से यहाँ चार श्रेणियेां का विभाजन कार्यशील था[1] मनु के कथनानुसार ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन तथा अध्यापन, यज्ञ करना, दान लेना तथा दान देना है,[2] क्षत्रिय का कर्त्तव्य जन–रक्षा, यज्ञ करना तथा अध्ययन करना था।[3] वैश्य भी यज्ञ तथा अध्ययन करना था, परंतु उसका मुख्य कर्त्तव्य पशुपालन, कृषि, व्यापार तथा ऋण देना था।[4] शूद्र का कर्तव्य केवल तीनों उच्चतर श्रेणियों की सेवा करना ही था।[5] भगवत्गीता में विस्तार पूर्वक वर्णव्यवस्था के बारे में उल्लेख मिलता है। क्षत्रियों का परम कर्त्तव्य धर्मयुक्त युद्ध करना था। क्योंकि इससे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्त्तव्य नहीं है।[6]

रामायण कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था थी। तत्कालीन समाज प्रमुख रूप से चार वर्णों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित था। यद्यपि वर्ण वंशपरम्परागत थे तथापि वर्ण व्यवस्था का आधार कर्म भी था। विश्वामित्र कर्म के आधार पर क्षत्रिय थे ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुये थे। इसी प्रकार अन्धमुनि और उनकी पत्नी, जो क्रमशः वैश्य और शूद्रा थी, (कर्मानुसार) मुनि और तपस्वी कहे गये हैं।

*पूर्व शोध छात्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ0 प्र0।

रामायणानुसार ब्राह्मण अपने उत्कृष्ट कर्मों एवं गुणों के कारण समाज में श्रेष्ठतम थे। वे पवित्र, स्वकर्मनिरत एवं जितेन्द्रिय थे तथा दान एवं अध्ययन करने में संलग्न रहते थे। क्षत्रिय आर्यों की रक्षा करने में तत्पर रहते थे। वैश्य व्यापारी एवं कृषक थे। इनके गण एवं निगम थे। शूद्र वर्ण समाज की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विभिन्न कर्मों का सम्पादन करते थे। समाज में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मणिकार, कुम्भकार, सूत्रकार, कारीगर, बढ़ई, स्वर्णकार, वैद्य शौण्डिक (कलार), रजक, तन्तुवाय (दरजी), शैलूत्र, कैवर्तक (धीवर) आदि थे। रामायण के प्रारम्भिक काण्डों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि समाज में शूद्रों का स्थान अन्य वर्णों के ही समान था। रामायण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी लोभादि विकारों से विवर्जित तथा अपने अपने कर्तव्यों का सन्तुष्ट होकर पालन करने वाले कहे गये हैं। राजा समान रूप से चारों वर्णों के हित साधन में तत्पर रहता था। चारों वर्णों के हितार्थ ही विश्वामित्र ने राम को ताड़का का वध करने के लिये आदेश दिया था। राजोत्सवों में न केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की बुलाये जाते थे, अपितु शूद्र भी आमन्त्रित किये जाते थे एवं सम्मान प्राप्त करते थे। तीनों वर्णों के समान शूद्र को भी अध्ययन एवं ज्ञानार्जन करने का अधिकार था। समाज में शूद्रों की हीनता के उदाहरण रामायण के उत्तरकाण्ड के अतिरिक्त अन्य काण्डों में उपलब्ध नहीं होते। वस्तुतः मूल रामायण में सभी वर्ण समाज में समानाधिकारों से युक्त कहे गये हैं।[7]

मनुष्य योनि में ब्राह्मण महान देवतुल्य था। उसकी आध्यात्मिक शक्ति ऐसी विलक्षण थी कि यदि राजा उसके अधिकारों के प्रति उदासीन होने का प्रयत्न करते तो वह तत्काल ही राजा को उसकी सेना के सहित नष्ट–भ्रष्ट कर सकता था। विधान में ब्राह्मण ने अपने को महान सुविधाओं का अधिकारी बताया। तथा उसने प्रत्येक दृष्टिकोण से अग्रगण्यता, सम्मान एवं प्रतिष्ठा की माँग की। यहाँ तक कि बौद्ध धर्मग्रन्थ भी पवित्र एवं कर्तव्य परायण ब्राह्मण की महानता को स्वीकार करते हैं यद्यपि वे इनके निरर्थक अधिकारों को नहीं मानते थे तथा निम्नतर ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय को अधिक महत्व देते थे।[8]

f'k{kk % पवित्र धर्मग्रन्थों के आदर्शानुकूल ब्रह्मचारी की दीक्षा गुरु के आश्रम में होती थी। कुछ प्रारम्भिक साक्ष्यों में गुरु को एक अकिंचन संन्यासी के रूप में प्रदर्शित किया गया है तथा गुरु के निमित्त भोजन याचना करना विद्यार्थी के कर्तव्यों में से एक परम कर्त्तव्य होता था, परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इस नियम का निरन्तर पालन नहीं होता था। जो भी हो, विद्यार्थी से यह आशा की जाती थी कि वह अपने गुरु का पूर्ण सम्मान करें, उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करे तथा उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करें।

विद्यार्थी के प्रथम पाठों में प्रातः मध्याह्न तथा सायंकाल की संध्या थी जिसमें गायत्री मन्त्र का उच्चारण, प्राणायाम, जल का आचमन एवं छिड़कना तथा सूर्य–देव को जल चढ़ाना था, जो भक्त के इष्ट देव का प्रतीक समझा जाता था, चाहे वह विष्णु अथवा स्वयं सूर्य देवता ही हों। ये धार्मिक कृत्य सभी द्विजों के द्वारा किये जाते थे तथा विभिन्न रूपों में आज भी सम्पन्न किये जाते हैं।

गुरु के आश्रम में विद्यार्थी का ध्यान पूर्णतः वेदपाठ तक ही सीमित नहीं रहता था। अध्ययन के अन्य क्षेत्र भी थे, विशेष रूप से वेदांग अथवा सहायक विज्ञान जो उचित वेद–ज्ञान के लिए आवश्यक थे। इन 6 वेदांगों में निम्नांकित सम्मिलित हैं– 1. कल्प–विधान, 2. शिक्षा–शुद्ध उच्चारण अथवा स्वर ज्ञान, 3. छन्द–छन्दशास्त्र, 4. निरुक्त–शब्द व्युत्पत्ति शास्त्र, 5. व्याकरण तथा 6. ज्योतिष अथवा नक्षत्र ज्ञान। इसके अतिरिक्त उत्तर वैदिककाल में गुरु अपने विद्यार्थियों को प्रायः आध्यात्म विद्या की 6 विचारधाराओं के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान करते थे अथवा उस विचारधारा के अनुसार शिक्षा देते थे जिसमें उनको विशेष रुचि होती थी। पवित्र विधान में पारंगत गुरु अपने शिष्यों के समक्ष नीतिशास्त्र की व्याख्या करते थे, जबकि अन्य गुरु ज्योतिषशास्त्र, गणित अथवा साहित्य जैसे विशेष धर्म–निरपेक्ष विषयों का ज्ञान कराते थे। स्मृतिकारों का मत है कि समस्त उच्चवर्गीय युवक इसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते थे, परंतु ऐसा नहीं था। राजकुमारों और सरदारों तथा मंत्रियों के पुत्रों को अस्त्र–शस्त्र की तथा शासन के लिए उपयोगी अन्यान्य विज्ञानों की शिक्षा दी जाती थी।[9] रामायण में स्पष्ट रूप से राजकुमारों की शिक्षा प्रबन्ध की व्यवस्था मिलता है। राजकुमारों को वेद, तत्वज्ञान, वीरता, राजनीति आदि का अध्ययन कराया जाता था।

उन्हें शासन–संचालन, शस्त्र विद्या और युद्ध–कौशल की शिक्षा प्रायोगिक रूप से दी जाती थी। वे धनुर्विद्या, रथ संचालन, हस्थिविद्या और शासन के संचालन में निष्णात होते थे।[10]

कुछ नगर अपने विद्वान् गुरुओं के लिए प्रसिद्ध हो गये तथा उन्होंने मध्यकालीन यूरोप के विश्वविद्यालय नगरों के समान ख्याति प्राप्त कर ली थी। बनारस तथा तक्षशिला इनमें से मुख्य थे जो बौद्धकाल में भी प्रसिद्ध थे। बनारस, जो उस समय काशी के नाम से प्रसिद्ध था, विशेष रूप से अपने धार्मिक गुरुओं के लिए ख्यात था, परंतु सुदूर उत्तर–पश्चिम स्थित तक्षशिला में धर्म–निरपेक्ष अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता था। तक्षशिला से सम्बन्धित प्रसिद्ध पण्डितों में चतुर्थ शताब्दी के ख्याति–प्राप्त वैयाकरण पाणिनि, चन्द्रगुप्त मौर्य के ब्राह्मण मंत्री तथा राज्य–काल–विज्ञान के परम्परागत मुख्य विशेषज्ञ कौटिल्य और भारतीय औषधि–विज्ञान के दो महान विद्वानों में से एक चरक थे।

यद्यपि स्मृतियों का यह आदर्श था कि एक गुरु की अध्यक्षता में थोड़े–से ही विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए, फिर भी यह प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रकार के महाविद्यालय, इन विश्वविद्यालय–नगरों में विद्यमान थे। इस प्रकार से हम बनारस की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में पढ़ते हैं कि वहाँ पर 500 विद्यार्थी तथा अनेक गुरु थे जिनका निर्वाह दान द्वारा होता था। आदमी रूप में गुरु किसी शुल्क की याचना नहीं करते थे, विद्यार्थी गुरु–ऋण अपनी आदरणीय सेवाओं द्वारा चुकाते थे और अपनी शिक्षा अवधि की समाप्ति पर अपने गुरु को उपहार भेंट करते थे जो परम्परानुसार एक गाय के रूप में होता था। जो भी हो, मनु ने यह स्पष्ट किया है कि कुछ वैतनिक अध्यापक भी होते थे जो धन–प्राप्ति हेतु वेदों की शिक्षा देने को प्रस्तुत रहते थे।

सम्पूर्ण देश के अनेक अन्य बौद्ध मठ तथा दक्षिण और पश्चिम में स्थित जैन मठ, शिक्षा केन्द्रों के रूप में मध्यकालीन यूरोप के ईसाई मठों के समान सेवा करते थे। मध्यकाल में हिन्दू मठ व्यवस्था का विकास हुआ तथा हिन्दू मठ भी शिक्षा का केन्द्र बन गये।[11]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन में शिक्षा का प्रबन्ध समाज के साथ–ही–साथ शासन व्यवस्था की मुख्य जिम्मेदारी थी जिससे समाज प्रगति के पथ पर बढ़कर जीवन को सुखी एवं समृद्ध बना सकें।

fookg % आदर्श रूप से विद्या अध्ययन की अवधि 12 वर्ष की होती थी, यद्यपि इसकी समाप्ति विद्यार्थी के लिए एक वेद में पारंगत हो जाने पर हो सकती थी। कुछ गम्भीर प्रकृति के विद्यार्थी अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा कर लेते थे तथा अपने सम्पूर्ण जीवन भर धार्मिक अध्ययन में संलग्न रहते थे। जो भी हो, सामान्य रूप से युवक 25 वर्ष की आयु तक अपने घर लौट आता था तथा अपनी श्रेणी के अनुसार दिनचर्या आरम्भ कर देता था। स्नातक के लिए सामान्य रूप से यही उचित समझा जाता था कि वह शीघ्रातिशीघ्र विवाह कर ले क्योंकि यदि उसने धार्मिक दृष्टि से अविवाहित रहने का प्रण न किया हो तो विवाह एवं सन्तानोत्पत्ति उसका परम कर्तव्य हो जाता था। विवाह के तीन मुख्य उद्देश्य होते थे– गृह यक्षों को सम्पन्न करके धर्म की उन्नति, सन्तानोत्पत्ति जिससे पिता तथा उसके पूर्वजों को मृत्योपरान्त सुखमय जीवन का आश्वासन प्राप्त हो और वंश–परम्परा का क्रम चलता रहे, रति अथवा यौन आनन्द भली प्रकार विचार–विमर्श करके, शुभ घड़ी देखकर, जन्मपत्री का मिलान कर तथा शारीरिक शुभ लक्षणों से सन्तुष्ट होकर वर–वधू के माता–पिता द्वारा उस समय तथा आज भी सामान्य रूप से धार्मिक विवाह का आयोजन किया जाता है।

प्राचीन काल में यह साधारण नियम था कि कन्याएँ विवाह से पूर्व पूर्ण युवती होती थी। हिन्दू रूढ़िवादिता को सन्तानोत्पत्ति से इतना प्रेम हो गया था कि इस बात को दृढ़तापूर्वक यह कह दिया गया था कि जो पिता अपनी कन्या के प्रथम मासिक धर्म से पूर्व ही उसका विवाह नहीं कर देता, उसको मासिक धर्म की प्रत्येक अवधि, जिसमें वह अविवाहित रहे, एक गर्भपात कराने के पाप का भागी बनना पड़ता था–गर्भपात एक भयंकर पापस्वरूप था, जो अनेक प्रकार के वधों से भी अधिक घृणित था। सामान्य दृष्टिकोण यह था कि एक आदर्श विवाह वह होता है जिसमें कन्या की आयु वर की आयु का 1/3 हो– इस प्रकार 24 वर्षीय व्यक्ति को 8 वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिए।[12] धर्मग्रन्थों ने

आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है जो अनेक देवताओं तथा अलौकिक प्राणियों के नामों के आधार पर इस प्रकार हैं।[13]

(1) ब्रह्म– वह विवाह जिसमें कन्या का विवाह दहेज सहित उसी श्रेणी के पुरुष के साथ ऊपर वर्णित विधि के अनुसार किया जाता था।

(2) दैव–जब कोई गृहस्थ अपनी कन्या का विवाह यज्ञकर्ता पुरोहित के साथ उसकी दक्षिणा के भागस्वरूप कर देता था।

(3) आर्ष– इसमें दहेज के स्थान पर वधू के मूल्यस्वरूप एक गाय और एक बैल लिया जाता था।

(4) प्रजापत्य–इसमें कन्या का पिता बिना दहेज के तथा बिना उसका मूल्य माँगे हुए कन्या दे देता था।

(5) गन्धर्व– इसमें दोनों पक्षों की सम्मति ली जाती थी तथा वह केवल विश्वास द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था। इस प्रकार का विवाह प्रायः गुप्तरूप से होता था।

(6) असुर– क्रय द्वारा विवाह

(7) राक्षस– अपहरण द्वारा विवाह

(8) पैशाच–इसे विवाह कहा ही नहीं जा सकता। इसके अनुसार सोती हुई, विक्षिप्त अवस्था में अथवा नशे की दशा में किसी बालिका को फुसला लिया जाता था।

इन आठ रूपों में से सामान्यतः प्रथम चार विवाहों की स्वीकृति दे दी गयी थी तथा वे ब्राह्मण के लिए न्यायसंगत थे, ये विवाह धार्मिक तथा अटूट होते थे। अन्य प्रकार के विवाह धर्मात्माओं द्वारा विभिन्न अंशों में अस्वीकृत माने जाते थे।

विवाह के दीर्घ संस्कार को पूर्ण करके कोई भी गृहस्थ जीवन के उन तीन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने को संलग्न कर सकता था जिनका वर्गीकरण सामान्यतः धार्मिक तथा सामान्य साहित्य में प्राप्त है। वे तीनों इस प्रकार हैं– 'धर्म' अर्थात धर्म विधान का पालन करके लाभान्वित होना, अर्थ अर्थात् सत्यमार्ग के अनुसरण द्वारा धन प्राप्त करना, 'काम' अर्थात् सब प्रकार के संसारिक सुखों का उपयोग। इन तीनों उद्देश्यों का महत्व क्रमानुसार है और यह विचार किया गया था कि जहाँ एक से दूसरे उद्देश्य का विरोध होता हो, वहाँ महानतम उद्देश्य को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।[14]

nk;Òkx ¼lEifÙk&foÒkt u½ % दाय शब्द अति प्राचीन वैदिक साहित्य में भी प्रयुक्त हुआ हैं। 'ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्' (ऋग्वेद) में 'शतद्वाय' शब्द को सायण ने 'प्रभूत दाय' (वसीयत) से युक्त के अर्थ में लिया हैं। ऋग्वेद के श्रमस्य दाय विभजन्त्येम्य!' में दाय का अर्थ सम्भवतः 'भाग या पुरस्कार' हैं। तैत्तिरीय संहिता एवं ब्राह्मण–ग्रन्थों में दाय 'पैतृक सम्पत्ति' या केवल 'सम्पत्ति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। सूत्रों एवं स्मृतियों में दाय के रूप के रूप में आने वाला एक दूसरा शब्द 'रिक्थ' भी ऋग्वेद में आया है, यथा– शरीर का पुत्र अपनी बहिन को पैतृक सम्पत्ति (रिक्थ) नहीं देता, प्रत्युत उसके पति के पुत्र को उसका पात्र बनाता है।'

दाय और दान शब्द 'दा' धातु से बने हैं, किन्तु दोनों के अर्थ में अन्तर हैं। दान में दो बातें पायी जाती हैं, 'किसी वस्तु पर विद्यमान अपने अधिकार (स्वामित्व) को छोड़ना' और 'उसी वस्तु पर किसी अन्य का स्वामित्व उत्पन्न करने के लिए अपना स्वामित्व नहीं छोड़ता। किन्तु दोनों में किसी वस्तु के स्वामित्व का त्याग रहता है, यही एक साम्य है। यद्यपि दाय शब्द 'दा' धातु से बना है किन्तु इसके अर्थ में परम्परा निहित है।

दाय के दो कोटियों में विभाजित किया है– अप्रतिबन्ध एवं सप्रतिबन्ध। प्रथम में पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र अपने सम्बन्ध से ही अपने पिता, पितामह एवं प्रपितामह द्वारा आगत वंशपरम्परा के धन को प्राप्त करते हैं इसमें पिता या पितामह की उपस्थिति से पुत्रों एवं पौत्रों की कुल संपत्ति के प्रति अभिरूचि में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता, क्योंकि वे उसी कुल में उत्पन्न हुए रहते हैं। इसी से इसे अप्रतिबन्ध दाय की संज्ञा मिली है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने चाचा की सम्पत्ति पाता है या कोई पिता जब अपने पुत्र की सम्पत्ति संतानहीन चाचा या संतानहीन पुत्र के मृत हो जाने पर पाता है तो यह सप्रतिबन्ध दाय कहलाता है, क्योंकि इन स्थितियों में भतीजा या पिता क्रम से अपने चाचा या पुत्र की सम्पत्ति पर तब तक स्वत्व

नहीं पाता जब तक चाचा या पुत्र जीवित रहता है या जब तक चाचा या पुत्र का पुत्र या पौत्र रहता है। स्पष्ट है स्वामी की जीवितावस्था अथवा अस्तित्व या पुत्र का अस्त्वि भतीजे या पिता के उत्तराधिकारी में बाधा उपस्थित करता है। अतः यह सप्रतिबन्ध दाय कहलाता है।[15] मनुस्मृति में कहा गया है कि ''पिता के और माता के मरण के बाद सभी भाई मिलकर पिता के और माता के धन को समान रूप से विभाग करे, क्योंकि पिता–माता जीवित रहने तक वे उस धन के स्वामी नहीं होते हैं।''[16]

यदि पुत्र पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार रखते हैं तो पुत्रोत्पत्ति पर पिता बिना पुत्र की आज्ञा के धार्मिक कृत्य नहीं कर सकता, क्योंकि इन कृत्यों से पैतृक सम्पत्ति का व्यय होता हैं। और इससे इस उक्ति का कि ''उस व्यक्ति को, जिसके बाल अभी काले हैं और जो पुत्रवान है, वैदिक अग्नि में यज्ञ करना चाहिए'' खण्डन हो जाता हैं। इतना ही नहीं, इसमें स्मृतियों के ऐसे कथन, यथा– ''यदि पिता अपने कतिपय पुत्रों में किसी एक को विशेष अनुग्रहवश कुछ प्रदान करता है या पति प्रेमवश अपनी पत्नी को कुछ देता है तो उसका विभाजन नहीं होता'', निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि इस प्रकार के प्रदान (इस सिद्धान्त पर कि पुत्र जन्म से ही सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं) बिना पुत्रों की सहमति के नहीं किये जा सकते। इसके अतिरिक्त कुछ स्मृतियों ने पिता के रहते पुत्रों के स्वत्व को नहीं माना है। पुत्र या पत्रों का स्वामित्य पूर्व स्वामी के स्वत्व के हटने से मृत्यु या पतित होने या संयासी हो जाने के उपरान्त ही उत्पन्न होता है। जब तक एक ही पुत्र है, तो वह पति की मृत्यु के उपरान्त सम्पत्ति का स्वामित्व पाता है और वहाँ विभाजन की आवश्यकता ही नहीं हैं। किन्तु जब कई पुत्र होते हैं तो उन्हें संयुक्त सम्पत्ति का स्वामित्व मिलता है और विभाजन के उपरान्त ही उन्हें पैतृक सम्पत्ति के पृथक–पृथक भागों का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है और अंतिम स्वरूप ही बहुधा देखने में आता है, अतः विभाजन के उपरांत ही स्वत्व की प्राप्ति होती है।

पिता के जीवन–काल में विभाजन–सम्बन्धी पुत्र की माँग को प्राचीन काल के कुछ धार्मिक मनोभावों से प्रेरणा मिली। गौतम ने लिखा है कि यदि संयुक्त न रहकर भाई पृथक हो जायँ तो धार्मिक श्रेष्ठता की वृद्धि होती है। मनु ने कहा है– ''वे भाई संयुक्त रह सकते हैं या यदि धर्म–वृद्धि चाहे तो पृथक भी रह सकते हैं, पृथक रहने से धर्म–वृद्धि होती है। यही बात नारद ने भी कही है। विभाजन होने पर धर्म की वृद्धि होती है, क्योंकि अलग हो जाने पर अलग–अलग घरों में धार्मिक कृत्य होने लगते हैं। यहाँ पर धर्म का तात्पर्य है मुख्यत; ऐसे धार्मिक कार्य जो पंचमहायज्ञों से सम्बंधित हैं।

तैतिरीय संहिता में आया है कि मनु ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में विभाजित कर दी, इसमें यह भी आया है कि ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति मिली। आपस्तम्भ एवं तैतिरीय संहिता ने निष्कर्ष निकाला है कि पुत्रों में बराबर भागों का विभाजन उचित विधि है और ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का अधिक भाग देना शास्त्रविरुद्ध है। इससे स्पष्ट है कि बराबर के बँटवारे का नियम–सा था और अधिक अंश देना अपवाद था तथा वैदिक युग में भी ऐसा विरल ही होता था। ऐतरेय ब्राह्मण ने इन्द्र के ज्येष्ठस्य श्रेष्ठय नामक अधिकार का उल्लेख किया है। विभाजन के समय ज्येष्ठ पुत्र के साथ विशिष्ट व्यवहार करना मनु एवं याक्ष0 के युगों में प्रचलित था और आधुनिक काल में भी कुछ विभाजन योग्य रियायतों एवं कुछ साधारण कुलों में यह विधि प्रचलित रही है, क्योंकि उनके पीछे अतीत की परम्परा रही है या राजकीय दानों (जागीर एवं संरजाम आदि) के बँटवारे की ऐसी विधि रही है। कौटिल्य एवं कात्यायन ने घोषित किया है कि दाय–विभाजन के समय राजा द्वारा देशों, जातियों, ग्रामों एवं श्रेणियों की रुढ़ियों की रक्षा होनी चाहिए।

स्मृतियों में विभाजन–काल सम्बंधी नियमों का विचार किया गया है। एक समय वह था जब पिता जीवन–काल में ही पुत्रों में सम्पत्ति विभाजन करता था। दूसरा समय था पिता की मृत्यु के उपरान्त। दायभाग ने केवल इन्हीं के सन्यासी को मान्य ठहराया है, अर्था् पिता के स्वामित्व की समाप्ति पर (मृत्यु पर सन्यासी हो जाने पर या सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाने पर) तथा पिता के जीवन काल में ही उसकी इच्छा के अनुसार। जीमूतवाहन जैसे कुछ लेखक बहुत आगे बढ़ गये हैं और कहते हैं कि पिता की मृत्यु के उपरान्त माता के जीवन–काल तक भी पुत्रों के बीच सम्पत्ति–विभाजन नहीं होना चाहिए। गौतम का अनुसरण करते हुए मिताक्षरा ने विभाजन के तीन प्रमुख काल दिये हैं– (1) जीवन काल में पिता की इच्छा

से, (2) जब पिता की सारी भौतिक इच्छाएँ मृत हो गयी हो, वह संभोग से दूर रहता हों और माता सन्तानोत्पत्ति के योग्य न रह गयी हो, उस समय पिता की इच्छा के विरुद्ध भी पुत्र यदि चाहें तो बँटवारा कर सकते हैं एवं (3) पिता की मृत्यु के उपरान्त। मिताक्षरा ने शंख के आधार पर लिखा है कि पुत्र माता द्वारा सन्तान उत्पन्न किये जाने पर भी पिता की इच्छा के विरूद्ध बँटवारा कर सकते हैं, यदि पिता अनैतिक हो, अधार्मिक हो, असाध्य रोग से पीड़ित हो या वृद्ध हो गया हो। यही बात नारद में भी हैं। मिताक्षरा की टिप्पणियों के फलस्वरूप मदन पारिजात जैसे ग्रन्थों ने विभाजन के चार काल दिये हैं– (1) पिता के रहते उसकी इच्छा के अनुसार (2) पिता की इच्छा के विरूद्ध भी जब कि माता, सन्तान उत्पन्न करने योग्य न रह गयी हो और पिता निस्काम हो गया हो और वह सम्पत्ति की परवाह न करता हो (3) जब पिता वृद्ध हो गया हो, अधममार्ग का अनुसरण करता हो या असाध्य रोग से पीड़ित हो तो उसकी इच्छा के विरूद्ध भी विभाजन हो सकता है, तथा (4) पिता की मृत्यु के उपरान्त यही बात व्यवहार निर्णय में पायी जाती है।

मिताक्षरा ने निष्कर्ष निकाला है कि पिता की इच्छा के विरूद्ध भी पुत्र पितामह की सम्पत्ति के विभाजन की माँगे रख सकता है। यही मिताक्षरा सम्प्रदाय के मत से हिन्दू कानून है, जो आजकल मान्य है।[17] nÙkd ¼x¨n fYk;k g|vk i|=½ ¼ आधुनिक काल में भारतीय हिन्दू व्यवहार (कानून) की किसी भी शाखा में इतने मुकदमें नहीं चले जितने कि दत्तक पुत्र के सम्बन्धित व्यवहार शाखा में हैं। ऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ पचास–पचास वर्ष तक लग गये हैं, और कितने ही व्यवहार–पदों से सम्बधित समस्त न्यायमूर्तिमण्डन के निर्णयों को प्रिंवी कौंसिल ने रद्द कर दिया है। मध्यकाल के लेखकों ने एक ही प्रकार के स्मृति–वचनों की भाँति–भाँति से तोड़–मरोड़कर उनकी विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की है, इसलिए आधुनिक भारतीय विवादों एवं मध्यकाल की प्रामाणिक व्याख्याओं के फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में दत्तक–सम्बंधी व्यवहार विभिन्न हो गये हैं।[18]

ऋग्वेद के समय में ही औरस पुत्र (अपने शरीरज पुत्र) को अधिक महत्ता प्राप्त की और दूसरे के पुत्र को अपना बनाना अच्छा नहीं माना जाता था। पाश्चात्कालीन शुक्र जैसे लेखक ने भी दत्तक एवं अन्य गौण पुत्रों को अपने पुत्रों के समान मानना गर्हित समझा है क्योंकि धनी पुरुषों को देखकर ही वे बालक उनके पुत्र बनने की आकांक्षा रखते हैं।[19] दत्तक पुत्रों के विषय में वैदिक साहित्य में भी संकेत मिलते हैं।

सूत्रों एवं स्मृतियों में केवल बारह पुत्रों में दत्तक का नाम गिनाने के सिवा इस विषय में और कुछ विशेष नहीं मिलता। मनु ने इसकी परिभाषा दी है ''माता अथवा पिता, पुत्र के अभाव से आफत में पड़े हुए पुरुष के लिए समान जातीय पुत्र को प्रेम से पानी लेकर देते हैं, उसको दत्तक पुत्र जानना चाहिए।''[20]

एक स्थान पर इस प्रकार कहा गया है– बीज एवं शोणित से उत्पन्न व्यक्ति अपने जन्म के लिए माता एवं पिता का ऋणी होता है। अतः उसके माात एवं पिता को उसे दे देने, बेचने या त्यागने का अधिकार है। किन्तु किसी को अपना एक मात्र पुत्र न हो किसी अन्य को देना चाहिये और न उसी प्रकार स्वयं स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उसे अपने पूर्वजों का कुल चलाना आवश्यक है। बिना पति की आज्ञा के किसी स्त्री को किसी अन्य का पुत्र न तो स्वीकार करना चाहिये और न अपने पुत्र को देना चाहिये। यदि कोई दत्तक पुत्र लेना चाहें तो उसे ऐसा अपने सगे बन्धु–बान्धवों को निमंत्रित कर, राजा को उसका समाचार देकर और अपने गृह के मध्य में व्याहतियों के साख्य होम करके करना चाहिये और ऐसे पुत्र को दत्तक बनाना चाहिये जो अपना सगा सम्बन्धी हो और आचार–व्यवहार एवं बोली से दूर का न हो। यदि दत्तक के कुल के विषय में संदेह उत्पन्न हो जाय तो दत्तक होने वाले को दत्तक के सम्बंधियों की दूरी के कारण चाहिये कि वह उसे शूद्र समझे, क्योंकि यह ब्राह्मणों एवं श्रुति ग्रन्थों में) घोषित है कि 'एक पुत्र, औरस या दत्तक के द्वारा वह (दत्तक लेने वाला) बहुतों को बचाता है। यदि दत्तक लेने के उपरान्त औरस उत्पन्न हो जाय तो दत्तक को एक–चौथाई भाग मिलता है।[21] मनु ने ऐसे पुत्र के गोद लिये जाने की ओर संकेत किया है जो गोद लेने वाले के गोत्र का नहीं है, और दत्तककर्म के फलों का भी उल्लेख किया हैं।[22]

दत्तक के अन्तर्गत प्रमुख विषय हैं– पुत्रीकरण का लक्ष्य या उद्देश्य, वह व्यक्ति जो नियमतः पुत्रीकरण कर सकता है, वह व्यक्ति जो पुत्रीकरण के लिए पुत्र देता है, वे व्यक्ति जिनका पुत्रीकरण हो सकता है, पुत्रीकरण–सम्बन्धी आवश्यक साधन एवं संस्कार–कार्य का तथा पुत्रीकरण का फल।

i=hdj.k dk mís'; ¼ अत्रि ने घोषित किया है कि केवल पुत्रहीन व्यक्ति को ही सभी सम्भव प्रयासों से पुत्र–प्रतिनिधि होना चाहिये, जिससे कि वह पिण्ड एवं जल पा सके। दत्तक चन्द्रिका ने उपर्युक्त अत्रि–वचन एवं मनु का उल्लेख कर पुत्रीकरण के दो उद्देश्य घोषित किये हैं– (1) पिण्डोदक क्रिया हेतु (2) नाम संकीर्तन हेतु, अर्थात् पिण्डों एवं जल से धार्मिक लाभ की प्राप्ति एवं गोद लेने वाले के नाम एवं कुल को अविच्छेद्य रूप से चलते जाने देना। ऐसा कहा जा सकता है कि अधिकांश में गोद लेने वाले पुत्रीकरण करने वाले का उद्देश्य धार्मिक होता है, किन्तु पुत्र देने वाले तथा उसके पुत्र का ध्येय धर्म से बहुत दूर होता है। अंतिम दोनों का कम–से–कम आधुनिक समय में, प्रमुख लक्ष्य होता है, बिना किसी प्रयास के सम्पत्ति की प्राप्ति करना, उनके मन में धार्मिक वृत्तियाँ कदाचित् ही उत्पन्न होती है। कोई दरिद्र व्यक्ति को अपना पुत्र, दत्तक रूप में नहीं देता यद्यपि उस दरिद्र में आत्मा की रक्षा की भावना उतनी ही प्रबल होती है जितनी कि धनिक व्यक्ति में। विधवाओं के द्वारा जो पुत्रीकरण होता है उसमें धार्मिक भावना बहुत ही दूर खड़ी रहती हैं। बहुधा वे अपने पति के भाईयों या भतीजों से द्वेष की भावना के कारण दत्तक पुत्र ग्रहण करती है और उन्हें इस प्रकार के समझौते के साथ ग्रहण करती हैं कि वे स्वयं सम्पत्ति–सम्बन्धी लाभ उठा सकें और अपना जीवन आनन्द से काट सकें दत्तक रूप में अपना पुत्र देने वाला व्यक्ति पिता को ही पुत्रीकरण में अपना पुत्र देने का मुख्य अधिकार है और वह बिना पुत्र की माता की सहमति से भी ऐसा कर सकता है। बिना पति की आज्ञा के माता अपने पुत्र को नही दे सकती, जब तक पिता जीवित एवं मति देने के योग्य है तब तक माता पुत्र–दान नहीं कर सकती।

मनु के मतानुसार यदि पिता मर गया हो या सन्यासी हो गया या अपनी मति देने के लिए अयोग्य हो तो केवल माता ही पुत्र को दत्तक के रूप में दे सकती है, किन्तु यदि पिता स्पष्ट रूप से ऐसा करने को मना कर दे तो वह दत्तक देने में असमर्थ मानी जाती है। यदि माता एवं पिता मर गयें हो तो यहाँ तक कि पितामह या विमाता या भाई किसी को दत्तक में नहीं दे सकते।

i=hdj.k ds ;ksX; O;fä ¼ यदि पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र स्वाभाविक रूप में या दत्तक रूप में न हों तो कोई भी अच्छी मति वाला एवं बालिग हिन्दू पुरुष पुत्रीकरण कर सकता है, अर्थात् गोद ले सकता है। बालकृष्ण के ''दत्तसिद्धान्त मंजरी' नामक ग्रन्थ में आशा है कि यदि औरस पुत्र जन्म से ही अंधा, गूँगा या बहरा हो तो पिता दत्तक ले सकता है। यदि व्यक्ति कुमार (अविवाहित) या विधुर हो या उसकी पत्नी की सहमति न हो या वह गर्भवती हो तब भी दत्तक लेने में कोई बाधा नहीं हैं। वास्तव में, वशिष्ठ ने दत्तक पुत्र लेने के उपरान्त भी पुत्र उत्पन्न करने की व्यवस्था दी है। रुद्रधर एवं वाचस्पति के मत से शूद्र लोग दत्तक नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि वे मन्त्रों के साथ होम नहीं कर सकते। पराशर ने भी ऐसा ही विधान दिया है। बिना पति की स्पष्ट आज्ञा के पत्नी पति के रहते गोद नहीं ले सकती। व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त केवल उसकी पत्नी ही गोद ले सकती है किन्तु विधवा के अधिकारों के विषय में मतैक्य नहीं है।

xksn ;k nÙkd gksus ds ;ksX; O;fä ¼

जैसा कि प्राचीन ग्रन्थों में आया है कि आठवें वर्ष में उपनयन होना चाहिये, 'व्यवहारमयूख' ने इसके आधार पर केवल पुरुष वर्ग को ही दत्तक योग्य माना है। भारतीय न्यायालयों ने इस बात को मान लिया है किन्तु दत्तक मीमांसा, 'संस्कारकौस्तुभ' एवं 'धर्मसिन्धु' ने दशरथ की पुत्री शान्ता एवं पृथा के उदाहरण के आधार पर कहा है कि कन्या भी दत्तक रूप में प्रतिगृहीत हो सकती है। पन्नालाल ने अपनी पुस्तक ''कुमायूँ' लोकल कस्टम्स'' में लिखा है कि कुमायूँ में परम्परा के अनुसार कन्या भी गोद ली जाती है। दत्तक पुत्र, गोद लेने वाले की जाति हो होना चाहिये। मेद्यातिथि ने स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय को भी गोद ले सकता है। किन्तु मनु स्मृति के अन्य टीकाकार, यथा–कुल्लूक आदि, तथा 'व्यवहारमयूख' एवं अन्य ग्रन्थों ने लिखा है कि दत्तक समान जाति का होना चाहिये।

ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जैसा कि मिताक्षरा का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र ही अपने जनक पिता के पुत्र रूप में सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्त्ता है और पुत्र द्वारा किये जाने वाले उपयोगों को पूरा करने वाला है।[23] मनु का मत है कि ''अपने ज्येष्ठ पुत्र की उत्पत्ति से व्यक्ति पुत्रवान्

पिता कहा जाता है और पितृ–ऋण से मुक्त हो जाता है।''[24] दो व्यक्ति एक ही पुत्र को गोद नहीं ले सकते। ऐसा करने पर प्रत्येक का पुत्र–प्रतिग्रहण अवैधानिक है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि दत्तक पुत्र लेने का अधिकारी विधि द्वारा पारित कानून के आधार पर शासन समाज को स्वीकृति प्रदान करता था। सामाजिक अधिकारों को शासन समय–समय पर दिशा निर्देशित करता था ताकि समाज कोई अनैतिक कार्य न कर सकें। इन सभी बातों से स्पष्ट होता है कि सामाजिक अधिकारों के संबंध में शासन एवं समाज के बीच सहसम्बन्ध स्थापित था।

i= d mijkUr mÙkjkf/kdkj dk vuØe

यदि बिना पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र के व्यक्ति मर जाता है तो उसके उत्तराधिकार के विषय में याज्ञवल्क्य के दो श्लोक है ''पत्नी, पुत्रियाँ, माता–पिता, भाई, उनके पुत्र, गोत्रण, बन्धु (सपिण्ड सम्बन्धी लोग) शिष्य एवं सहपाठी–इनमें से क्रम से एक के न रहने पर आगे वाला दूसरा मृत व्यक्ति का (जब कि कोई पुत्र न हो) धन पाता है। यह नियम सभी वर्णों के लिए प्रयुक्त होता है।''

किसी की पृथक् सम्पत्ति के विषय में पुरुष सन्तान के अतिरिक्त अन्य उत्तराधिकारियों में प्रथम स्थान विधवा पत्नी को प्राप्त होता हैं। कई शताब्दियों के संघर्ष के उपरान्त ही मृत व्यक्ति की (जब वह अलग शताब्दियों के संघर्ष के उपरान्त ही मृत व्यक्ति की) (जब वह अलग एवं असयुंक्त रूप में ही मृत हुआ हो) विधवा का उत्तराधिकार मान्य हो सका है। तैत्तिरीय संहिता ने स्त्रियों को 'अदायादी' घोषित कर दिया था। गौतम ने कहा है कि सन्तानहीन मर जाने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति को सपिण्ड, सगोत्र एवं सप्रवर या उसकी पत्नी हो सकती है। दायभाग ने कहा कि पुत्रहीन मृत व्यक्ति का धन उसके भाईयों को मिलता है, उनके न रहने पर माता–पिता या सबसे बड़ी पत्नी को मिलता है। व्यवहार रत्नाकर ने व्यक्ति के भाइयों, कन्याओं, पिता, सौतेले, माता एवं पत्नी को क्रम से रिक्थाधिकारी माना है। यह यातना है कि कालिदास के समय में पुत्रहीन पत्नी को अपने मृत पति का धन नहीं मिलता था, उसे केवल भोजन–वस्त्र मिलता था और सम्पत्ति पर राजा का अधिकार हो जाता था।

याज्ञवल्क्य एवं विष्णु ऐसे स्मृतिकार हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से घोषित किया कि पुत्रहीन व्यक्ति के मृत होने पर रिक्थाधिकार सर्वप्रथम पत्नी को मिलना चाहिये। वृहस्पति ने पुत्रहीन व्यक्ति की पत्नी को प्रथम उत्तराधिकारी घोषित किया है और अपनी उक्ति के समर्थन में कारण भी दिये हैं–''वेद, स्मृतियों के सिद्धांतों तथा लोकाचार द्वारा यह घोषित है कि पत्नी अर्धांगिनी है पुण्यों एवं पापों में भागीदार समझी गई जब तक मृत व्यक्ति का आधा शरीर जीवित रहता है तब तक अन्य कोई सम्पत्ति कैसे पा सकता है? भले ही सकुल्य (सम्बन्धी), पिता, माता या अन्य सम्बन्धी जीवित हो, पुत्रहीन मृत व्यक्ति की पत्नी को उसके भाग का उत्तराधिकारी मिलता हैं। पति के पूर्व मरने वाली पत्नी पवित्र अग्नियों को साथ ले जाती हैं किन्तु यदि पत्नी के पूर्व पति मृत हो जाता है तो उसकी सम्पत्ति पतिव्रता पत्नी को मिलती है। पतिव्रता नारी की वन्दना करनी चाहिये, यही सनातन धर्म हैं।''

यद्यपि स्मृतिकार याज्ञवल्क्य के विधवाओं के उत्तराधिकार–सम्बन्धी प्रधान अधिकार को घोषित कर दिया था, तब भी कुछ स्मृतियों एवं आरम्भिक टीकाकारों ने उसे नहीं माना। नारद ने व्यवस्था दी है कि जब कई भाइयों में कोई सन्तानहीन मर जाय या सन्यासी हो जाय तो अन्य भाइयों को स्त्रीधन छोड़कर उसकी शेष सम्पत्ति बाँट लेनी चाहिये, किन्तु उस (मृत भाई) की पतिव्रता विधवाओं का उनके जीवन भर भरण–पोषण करना चाहिये, किन्तु यदि वे व्याभिचारिणी हों तो उन्हें जीविकावृत्ति से मुक्त कर देना चाहिये। नारद (दायभाग) ने कहा है कि पुत्रों के न रहने पर पुत्री, सकुल्य, बन्धु सजातीय एवं राज्य क्रम से उत्तराधिकार पाते हैं।[25]

अतः स्पष्ट है कि आदर्श पत्नी अपने स्वामी के सम्पत्ति के भागीदार थीं। वर्तमान समाज को भी नारी शक्ति के अधिकारों को मान्यता देनी चाहिये। जिससे समाज में समानता एवं प्रेम का विकास हो सके।

lUnHkZ %

1. बाशम ए0एल : 'अद्भुत भारत', अध्याय 5, पृ0सं0 97, प्रकाशन : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी अस्पताल मार्ग, आगरा–3, संशोधित हिन्दी संस्करण।

2. अध्यापनमध्ययन यजनं याजन तथा।
दानं प्रतिग्रह चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।1/88।। (मनुस्मृति)
कौण्डियायन शिवराज आचार्य : 'मनुस्मृति', अध्याय प्रथम, पृ0सं0 86
प्रकाशन : चौखम्बा विद्याभवन चौक, वाराणसी, संस्करण– 2013.
3. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेस्वप्रसक्तिस् च क्षत्रियस्य समासतः।। 1/89।। (मनुस्मृति)
4. पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।1/11।। (मनुस्मृति)
5. एकमेव तु शुदस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।।1/91।। (मनुस्मृति)
6. स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छेयोऽयत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। 2/31।। (भगवतगीता)
भगवतगीता : गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण उन्नीसवाँ।
7. गुप्त रामेश्वर प्रसाद : 'बाल्मीकि रामायण में राजनीतिक तत्त्व', अध्याय 5, पृ0सं0 279–80, प्रकाशन : ईस्टर्न बुक लिंकर्स 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर दिल्ली, संस्करण 1995.
8. बाशम ए0एल0 : अद्भुत भारत, पृ0सं0 97 (देखियें)
9. बाशम ए0एल0 : अद्भुत भारत पृ0सं0 115 (देखियें)
10. गुप्त प्रसाद रामेश्वर : वाल्मीकि रामायण में राजनीतिक तत्व, अध्याय 3, पृ0सं0 94, प्रकाशन : ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर दिल्ली, संस्करण 1995.
11. वाशम ए0एल0 : अद्भुत भारत अध्याय 5, पृ0सं0 116 (देखियें)
12. वाशम ए0एल0 : अद्भुत भारत अध्याय 5, पृ0सं0 117–120 (देखियें)
13. चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताऽहितान् ।
अष्टाविमान् समासेन स्त्रीविवाहान् निबोधत।।3/2011।। (मनुस्मृति)
14. वाशम ए0एल0 : 'अद्भुत भारत', अध्याय 5, पृ0सं0 120 (देखियें)
15. काणे वामन पाडुरंग : 'धर्मशास्ष का इतिहास' (द्वितीय भाग), अध्याय 27, पृ0सं0 837–39, प्रकाशन : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, संस्करण 1992.
16. ऊर्ध्व पितुश च मातुश् च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास् ते हि जीवतोः।। 9/104।। (मनुस्मृति)
17. काणे वामन पाडुरंग : 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पृ0सं0 850–52 (देखियें)
18. काणे वामन पाडुरंग : 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पृ0सं0 847–51 (देखियें)
19. काणे वामन पाडुरंग : 'धर्मशास्त्र का इतिहास', भाग द्वितीय, अध्याय– 28, (देखियें)
20. मनसापि न मन्तव्या दत्ताद्याः स्वसुता इति।
ते दतकत्वमिच्छन्ति दृष्ट्वा यद् धनिकं नरम् ।।2/31।। (शुक्रनीति)
मिश्र जगदीशचन्द्र : 'शुक्रनीति', प्रकाशन : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 1998.
21. माता पिता वा दद्यातां यमद्भि : पुत्त्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स क्षेयो दत्त्रिमः सुतः।। 9/168।। (मनुस्मृति)
22. काणे वामन पाडुरंग : वही, पृ0सं0 892 (देखियें)
23. गोत्ररिक्थे जनयितुर न हरेद् दत्त्रिम! क्वचित् ।
गोत्ररिक्थाऽनुगः पिण्डो व्यपैत्ति ददतः स्वधा ।।9/142।। (मनुस्मृति)
24. काणे वामन पाडुरंग : वही, पृ0सं0 892–94 (देखियें)
25. ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्त्री भवति मानवः।
पितृणामनृणश् चैव स तस्मात् सर्वमर्हति।। 9/ /106।। (मनुस्मृति)

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

ukV;'kkL=s okfpdkfHku;foe'k%

pØikf.kik[ky%*

विविधवेदादिभिरानन्दस्यैतदतीव सरसोपादायकं भावाभिव्यक्त्यभिव्यंजकं नानाभिनयेनामण्डितश्चेद–माचार्यभरतेन प्रणीतं नाट्यशास्त्रं काव्यशास्त्रीयपरिप्रेक्षे आदौ गण्यते। भारतीयवांगमयपरम्परायां नाट्यशास्त्रस्य स्थानं विशिष्टतममेव वरीवर्तते। काव्यस्य शास्त्रीयपरिवेशे नाट्यशास्त्रं भूमिरिव भूमिकामावहाते। भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे नाट्यस्य महत्त्वं प्रतिपादितं यत् नाट्ये सम्पूर्णं ज्ञानं समग्रजनानां कृते पंचमः नाट्यवेद इति वर्तते। नाट्यशास्त्रस्य प्रथमेऽध्याये यथा–

u rTKkua u rfPNYia u lk fo|k u lk dykA
ukSlk ;ksxks u rRdeZ ukV;s·fLeu ;é n'; rsAA[1]

तथा च नाट्यस्य पंचमवेदत्वम्–

lo'kkL=FkZlEiéa loZf'kYiizorZdeA
ukV;k[;a iapea osna lsfrgkla djkE;ge~ AA[2]

अनेन प्रकारेण नाट्यशास्त्रस्य नाट्योत्पत्त्याख्ये प्रथमेऽध्याये भरतमुनिना नाट्यस्य महत्वमनेकप्रकारेण सहृदयानां सम्मुखे उपस्थापितम्। षड्त्रिंशदधयायेषु सप्तत्रिंशदधयायेषु वा नाट्यशास्त्रस्य सम्पूर्णविषयः विभाजितोऽस्ति। तेषु सर्वेष्वधयायेषु नाट्यस्यासमग्रविधनं मुनिना प्रस्तुतम्।

नाट्ये अभिनयस्य विशिष्टमवदानं भवति। यतो हि अभिनयेन वाक्यार्थः परिपुष्यति। अभिनयशब्दः व्याकरणानुसारेण अभि उपसर्गपूर्वकात् नी प्रापणे धतोः अच् प्रत्ययेन'' सिध्यति। तथा यस्यार्थः भवति प्रयोगमाध्यमेन अभिनेतव्यार्थस्य सम्प्रेषणमिति। अस्मिन् विषये भरतमुनिना नाट्यशास्त्रस्य सप्तमे अष्टमे च अध्याये निगदितम्–

vfHkiwoZLrq .kh´~/kkrqjkfHkeq[;kFkZfu.kZ;sA
;Lekr~ inkFkZku;fr rLeknfHku;% Le`r%AA [3]

नाट्यस्य पंचांगेषु भरतमुनिना अभिनयस्य अंगत्वं षष्ठाध्यायस्य श्लोकेऽस्मिन् विहितमस्ति–

jlk Hkkok áfHku;k /keZ o`fÙkizo`Ùk;%A
flf)% LojkLrFkkrks|a xkua jax'p l³xg%AA[4]

भरतमुनिना अभिनयविषयमवलम्ब्य नाट्यशास्त्रे मुहुर्मुहुः अध्यायेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति तथा अभिनयस्य मुख्यरूपेण भागद्वयं द्वाविंशत्यधयाये पंचविंशत्यधयाये च सामान्याभिनय–चित्रभिनयरूपेण च सम्मुखीकृतम्। वाचिकांगिकाहार्यसात्विकाभिनयाः सामान्याभिनयान्तगतत्वेन विद्वङ्गिरामन्यते।

नाट्यस्यास्वादोद्बोधर्थं रसास्वादकैः आस्वादवेलायां चतुर्विधभिनयमाध्यमेन दुःखोपशमनार्थं व्यवहारपरिज्ञानार्थं सद्यपरनिर्वृत्यर्थञ्च सुखोपायेन विगलितवेद्यान्तत्त्वेनास्वाद्यते सः रसः। एतस्मादेव प्रसिद्धैषा उक्तिरस्ति यत्–

dkO;s"kq ukVda jE;e~ bfrA

यतो हि लोकस्य सम्पूर्णं वृत्तं नाट्यवस्तुनि प्राचुर्येण तथा अगूढत्वेन वर्णितं भवति। नाट्यस्य सम्पूर्णं सर्वांगिकं च सारस्यमभिनयेनैव प्रतिष्ठितो भवति। आचार्यभरतेन षष्ठाध्याये अभिनयस्य विषयः बीजरूपेण प्रतिपादितम्। तथा च मुनिना प्रथमाध्याये नाट्योत्पत्तिविषये उक्तं यत्–

*शोधच्छात्राः, व्याकरणविभागः, श्री ला0ब0शा0रा0सं0वि0, दिल्ली

txkg ikB~;eXosnkr~ lkeH;ks xhreso pA
;tqosZnknfHku;ku~ jlkuFkoZ.kknfiAA[5]

नाट्यस्य अनुकीर्तनविषयेऽपि प्रथमेऽध्याये कथितमस्ति–

ukdkUrrk·= Hkorks nsokuka pkuqHkkoueA
=SyksD;L;kL; lokZL; ukV~;a HkkokuqdhrZueAA[6]

मुनिना नाट्यं भावानुकीर्तनम् इति तथा नाट्यं लोकवृत्तानुकरणम्य अनुकीर्तनमनुकरणञ्च शब्दयोः नाट्यस्य आश्रयं प्रदत्तम्। नाट्यस्य अनुकीर्तनशब्दोऽपि अभिनयस्यैव द्योतकत्वं द्योतयति तथा अनुकरणशब्दोऽपि तस्यैव परिचायकः परिलक्ष्यते तथा च अनुकीर्तनमपि चतुर्विधभिनयेन सुप्रतियोजिकः भवति। अतः अभिनयः नाट्यस्य विशिष्टमेकमंग वर्तते यं विना नाट्यस्य सरणं कथमपि न भवितुमर्हति। भरतमुनिना नाट्यशास्त्रस्य षष्ठाध्याये अभिनयस्य चत्वारः प्रकाराः अनेन प्रकारेण वर्णिताः सन्ति। सघ्ग्रहकारिकायां यथा–

jlk Hkkok áfHku;k[7] इति।

व्यभिचारिभावानां वर्णनानन्तरमभिनयस्य चत्वारो प्रकाराः–

vkfxdks okfpd'pSo ágk;Z lkfÙodLrFkkA
pRokjks·fHku;k árs foKs;k ukV~;laJ;kAA[8]

अभिनयेष्वार्धिकाभिनयः गात्रविक्षेपादिमाध्यमेन वाक्यार्थं परिपोषयति। भरतमुनिना अंगिकाभिनयः भेदप्रभेदाः वर्णिताः सन्ति। परञ्च मुख्यरूपेण त्रायः– शरीरजः, मुखजः, चेष्टाकृतश्च इति सन्ति। एतेषु शरीरजाभिनयः शाखांगोपांगैरादिभिरभिनीयते। उपांगमात्रोण मुखजाभिनयः उपांगाभिनयोप्युच्यते तत् यथा विविधचेष्टादिभिरभिनीयते यत् चेष्टाकृदभिनय उच्यते सः। भरतमुनिना अष्टमेऽध्याये अभिनयस्य प्रयोगः एवं प्रकारेण निर्दिष्टम्–

foHkko;fr ;Leknr~ ukukFkkZu~ fg iz;ksxr%A
'kk[kkxksikxla;qDrLrLeknfHku;% Le`r%AA[9]

नाट्यमभिनये प्रतिष्ठितं भवति इत्यपि मुनिना तत्रैव अष्टमकारिकायां नाट्यं ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् अत्र हि अस्मिन् नाम अभिनये प्रतिष्ठितम् इति। अतः नाट्यमभिनयेन परिपोषयति। अभिनयोऽपि चतुर्विधः परञ्च शारीरस्य स्वकीयं महत्त्वं वाचिकस्य स्वकीयं महत्त्वं तथा अन्ययोः द्वयोः स्वकीयं नाट्ये अवदानं भवति।

वाचिकाभिनयेषु वाचिकाभिनयस्य स्वोत्तराभिनयार्थं विशिष्टमवदानं भवति। यतो हि वाचिकाभिनयस्य परिपुष्ट्यर्थम् अंगिकादयाः अभिनयाः भवन्ति। अस्मादेव कारणात् भरतमुनिना आंगिकाभिनयस्य वर्णानानन्तरं चतुर्दशतमेऽध्याये वागभिनयस्य विषये युक्त्युक्तत्वात्, अनेन प्रकारेण वागाभिनयस्य वैशिष्ट्यमभिहितम्–

okfp ;RuLrq dÙkO;ks ukV~;L;S"kk ruq% Le`rkA
vaxusiF;lÙokfu okD;kFk± O;´t;fUr fgAA[10]

नाट्यशास्त्रे भरतमुनिना चतुर्दशतमेध्याये वाचिकविषयमवलव्यैतदतीव सूक्ष्मरूपेण तथा सुयुक्त्युक्तत्वेन वाचिकाभिनयस्याधरमुररीकृत्यांगीकृतमस्ति। मुनिना अध्यायस्यारम्भे एव वागेव सर्वस्य कारणमिति विहितं तथा पाणिनीयव्याकरणानुसारेणैव वर्णानामुच्चारणं कथं भवेदिति प्रतिपादितम्। वाचिकाभिनयः केन केन प्रकारेण भवतीति अनया कारिकयावबोध्यते।

वागेव सर्वस्य कारणमित्यपि मुनेः वचनमेव यथा–

ok³e;kuhg 'kkL=kf.k okf³u"Bkfu rFkSo pA
rLek}kp% ija ukfLr okX~ fg lokZL; dkj.keAA[11]

वाचिकाभिनये केषामुपयोगित्वं तथा कैः वाचिकाभिनयोभिनीयते इत्यपि तत्रैव –

vkxeukek[;krkfi lxlekl rf)r%;qDr%A
lfU/kopufoHkDR;qixgfu;qDrks okfpdkfHku;%AA[12]

वाचिकाभिनस्याविर्भावः ट्टग्वेदादस्तीति नाट्योत्पत्त्याख्येऽध्याये नाट्यस्य सम्पूर्णं विषयं कुतः गृहीतम् इति अनेन प्रकारेण प्रथितम्–

txkg ikB;eXonkr lkeH;k xhreo pA
;tonknfHku;ku jl% vkFkol.kLLer%AA

वाचिकाभिनयान्तरगत एतेषु यद् आदौ कथितं पाठ्यं तदेव वाचिकाभिनस्याधरः। अतः अस्यैव पाठ्यस्य द्वौ भेदौ भवतः। यथा–

f}fo/k fg Le'r ikB; lLd'r ikd'r rFkkA
r;kfoHkkx o{;kfe ;Fkkonuiio'k%AA[13]

भरतमुनिना पाठ्यस्य द्वौ संस्कृतपाठ्यं प्राकृतपाठ्यञ्च भवतः इति स्पष्टीकृतम्। संस्कृतपाठ्यस्य सम्पूर्णं विवेचनं चतुर्दशाध्याये आद्यन्तं वर्णितम्। प्रायेण यादृशं वर्णनं नाट्यशास्त्रे आचार्येण व्याख्यातं तादृशं विशदं सुयुक्त्युक्तं तस्योत्तरशास्त्रकारैः नोपस्थापितम्। संस्कृतपाठ्यस्याधरस्तु भरतेन पाणिनीयशिक्षादिग्रन्थाभि–र्वर्धितः तथा उच्चारणमेव वाचिकाभिनयस्याद्याऽपेक्षा भवतीति स्पष्टायते।

lLd'r ikB;kncks/kue&

भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे संस्कृतपाठ्यस्य सम्पूर्णं विषयं व्याकरणानुसारेण चतुर्दशेऽध्याये व्याख्यातम्। संस्कृतपाठ्यमुररीकृत्यैतदतीव समीचीनं तथा वर्णानामुच्चारणमङ्गीकृत्याचार्येण स्वरव्यञ्जनानां प्रयत्नोच्चारणस्थानोदात्तानुदात्तस्वरितादिविषये सुयुक्त्युक्तत्वेनाभिव्यक्तम्। प्रायेणैतत् सर्वं पाणिनीयव्याकरण–शास्त्रस्य शिक्षायास्तथा विषयं मुनिना वाचिकाभिनयस्य सम्पूर्णं व्याख्यानमुपस्थापितम्।

वाचिकाभिनयमतिरिच्यान्याभिनयेष्वानुरञ्जकत्वमर्थस्य विवृतत्वं कथावस्तुनः अवबोधत्वं नाभिज्ञायते। अतः संस्कृतपाठ्यस्य के के विषयाः भवन्तीति विषये मुनिना अनेन प्रकारेण निगदितम्–

0;tukfu Lojk'po lU/k;k·Fk foHkDr;%A
ukek[;krki lxk'p fuikrkLrf) rkLrFkkAA
,rj³x% lekl'p ukuk/kr lekJ;eA
foK; lLd'r ikB; i;kx´p fuck/krAA[14]

संस्कृतपाठ्यस्य एते विषयाः पृथक्–पृथक् रूपेण वेदस्याङ्गद्वयेनानुभूयते। यतो हि सप्त–कारिकायाः संस्कृतं पाठ्यं विज्ञेयम् इत्यनेन शिक्षाशास्त्रस्य नाम नारदीया शिक्षा, कात्यायनीया शिक्षा, पाणिनीया शिक्षेत्यादीनां विषयः वर्तते। यतो हि शिक्षाग्रन्थेषु सर्वत्रैव शब्दस्य प्रथमं बुद्धिविषयत्वात् तस्यैव शब्दस्यारम्भः वर्णानां मेलनेन भवति। अतः शब्दस्य भूमिरिव वर्णाः भवन्तीति अभिनवभाषानुसारेण, तथा च कार्यकारण इति न्यायशास्त्रानुसारेणैतदांगीकर्तुं शक्यते शास्त्रावेत्तारः।

पाणिनीयशिक्षायाः सम्पूर्णं यदपि विषयमस्ति तत् सर्वं वाचिकाभिनये आदौ अपेक्ष्यते। वर्णानां शुद्धोच्चारणेन न केवलं श्रोतृणामर्थावधरणे साह्यं भवति अपितु नटस्याप्युच्चारणवशात् प्राणायामादीनामप्यावश्यकता न भवति यतो हि अल्पप्राणत्वेनोच्चार्यमाणवर्णानामल्पप्राणत्वेनोच्चारणं महाप्राणत्वेनोच्चार्यमाणानां वर्णानां महाप्राणत्वेनोच्चारणादीनां माध्यमेन वर्णानां शुद्धोच्चारणेन यत्नोऽपि योगशास्त्रोऽनुलोमविलोमादिनामिव सहोदरं शुद्धवर्णोच्चारणमपि विशिष्टतामाधत्ते। शुद्धोच्चारितवर्णाः उच्चारणसमये अन्तिमावस्थायामर्थं प्रददति।

वाचिके अभिनये शब्दस्यैवादौ अवगतिः इत्यनुभूयते। यतो हि शब्दाः एव उच्चारणानन्तरमर्थं परिपोषयन्ति तदनन्तरं तत्रार्थावगतिर्जायते। कथं शब्दः बुद्धौ सर्वं विश्वं नाम शब्दविश्वमर्थविश्वञ्च अवधारयतीति आदौ चिन्तनीयम्। अतः सर्वप्रथमं बुद्धिस्थशब्दः अक्रमेण तिष्ठति, ततः परं क्रमानन्तरं वा तस्यार्थोपस्थितिः इति वाचि शब्दस्य स्थितिः।

वाचिकाभिनये शब्दस्य वैशिष्ट्यत्वाद् लिपिमाध्यमेन भाषायाः नियन्त्रणं न भवति। भाषणमुच्चारणानन्तरं लिप्यनुरोधेन चक्षुषः विषयमायाति, परञ्च तन्न वाचिकाभिनयस्य विषयं वाचिकाभिनयः उच्चारणेनैव भवति। अनेनैतद् स्पष्टायते यत् वाचिकाभिनये आदौ उच्चारणस्यैव न केवलं ज्ञानमपेक्षितम् उत उच्चारणाभ्यासोऽपि अत्यावश्यकं भवति। वर्णानां सम्यगुच्चारणानन्तरमेव शब्दः स्पष्टरूपेण श्रोतृणां हृदि भावान्नुच्छलति तथा तादृशमेव सन्धेः, विभक्तेः, नामाख्यातोपसर्गानाम्, निपातानाम्, तद्धितानाम्, धत्वादीनां संयोगेन सम्यगुच्चारणेन संस्कृतपाठ्यस्य उभौ पक्षौ सरस्येते। शब्दः कः इति विषये भरतमुनिना अनेन प्रकारेण कारिका उपस्थापिता–

,fHk% 0; tuoxZukek[;krk i lxZfuikr%A
rf)r lfU/foHkfDrfHkjf/kf"Br% 'kCn% bR;Dr%AA[15]

भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे वाचिकाभिनयस्य संस्कृतपाठ्यमवलम्ब्य येऽपि विषयाः भवन्ति तान् सर्वान् चतुर्दशेऽध्याये सुयुक्तित्वेनोपस्थापितम्। तेषां समसनमनेन प्रकारेण सौकुमार्येण भवितुं शक्यते—

वर्णानामुच्चारणादारभ्य शब्दः कथं शब्दायते इति प्रागुक्तम्, परञ्च मुन्यनुसारेण वर्णानामुच्चारणविषय—मुररीकृत्य चतुर्दशस्वराः, त्रयस्त्रिंशत् व्यंजनवर्णाः, अघोषसघोषादयः, अष्टौ स्थानानि, के विवृताः, के च संवृताः, के च अन्तःस्थाः, विसर्जनीयाः, जि"वास्थानीयाः तथा शब्दविषयप्रयोगे तेषां पुनः कथनम्। वर्णानां सवर्णसंज्ञाकरणम्, स्वराणां ह्रस्वदीर्घावधरणं स्वरव्यंजनाख्यातोपसर्गादीनां काव्यस्य निबन्धनमिति मुनिना अष्टमकारिकाया आरभ्य पंचविंशतिकारिकां यावत् सलक्षणं प्रतिपादितम्। नामाख्यातोपसर्गास्तु मुनिना प्रयोगसिद्धिरूपेण उपस्थापिताः। तद्यथा—

vFk i/ku uke L;knk[;kr r fØ;kdreA
|kr;UR;i lxkLr fo'k"k Hkko l J;eAA[16]

सप्त नामशब्दाः षड्भिः कारकैः निबद्धाः तथा आख्यातार्थस्य विशेषतां यः द्योत्यत्युपसर्गात् पृथक् निपातः इति। आख्यातविषये मुनिना विशिष्टैका कारिका विहिता तद्यथा—

vk[;kr ikB;d r K; ukukFkkJ;fo'k"keA
opu ukelekr i#"kfoHkDr rnk[;kreAA[17]

उपसर्गविषये तु ते धत्वर्थानुत्सृजन्तीति व्याकरणसम्मतमेव मतमनुभूयते मुनेः। प्रत्ययाः अर्थस्योपोद्घाताः भावन्ति। तेषु तद्धिताः लोके प्रकृतिप्रत्ययस्य च संयोगविभागास्तथा सत्त्वकथनेन कथनमाध्यमेन सार्थकार्थान् पूरयन्ति तस्मात्ते तद्धिताः इत्युच्यन्ते। वाचिकाभिनये विभक्तेः कथं साहठ्यमिति तु सम्यक्तया मुनेः अनया कारिकया स्पष्टायते—

,dL; cguk ok /krkfy³xL; ok inkuk okA
foHk tUR;Fk ;Lekr foHkDr;Lru rk% ikDrk%AA[18]

अत्रा स्वादयः लिंगसम्बन्धिनः तथा लिंगादयः धतुसम्बन्धीनः विभक्तयः मुनिना नियोजिता। का नाम सन्धिः इति विषयमुद्दिश्याचार्यस्यैषा कारिका वाचिकाभिनये सन्धिमाध्यमेन कथं वाक्यार्थः परिपुश्यत इति एतदभिव्यज्यते—

fof'k"VkLr Lojk ;= ;= 0;tu okfi ;kxr%A
lU/kh;r ink ;LekÙkLekR lfU/k% idhfrr%AA
o.kinØefl)% ind;kxkPp o.k;kxkPpA
lU/kh;r p ;LekÙkLekr lfU/k% lEefí"V%AA[19]

अत्रा विशिष्टस्वरव्यंजनानां सन्धनं वर्णपदयोगेन च वर्णपदयोः सन्धनमिति सिद्धठ्यते। तथा किं नाम पदमिति विषये मुनिना उक्तं यत्— विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयम्। अत्र विभक्तिः नाम व्याकरणे यथा सुबन्तपदानि तिर्धैन्तपदानि च। एवं प्रकारेण आचार्यभरतेन संस्कृतपाठ्यस्य मुख्यांगानि तथा तेषां लक्षाणानि वाचिकाभिनयमुद्दिश्योपस्थापितम्।

वाचिकाभिनयस्य एतानि व्याकरणसम्मतानि सूत्राण्येव पाठ्यसम्मतानि निर्दिष्टानि सन्ति। संस्कृतपाठ्यस्य छन्ददृष्ट्यापि महत्त्वं भवतीति नाट्यशास्त्रे मुनिना सविस्तरेण उपस्थापितं तथा कोटिसंख्यकानि छन्दांसि वैदिकलौकिकानि च प्रतिपादितानि सन्ति। कविः वर्णनानुकूलं छन्दांस्यपि प्रयोजयति। छन्दःप्रयोगेनापि कविः लोकधर्मितां नाट्यधर्मितां वा प्रतिपादयति। तदनुकूलं छन्दःप्रयोगं वाचिकानुगुणेन कृत्वा वर्ण्यार्थस्याभिव्यक्तिमुपस्थापयति। मुनिना छन्दःपदवर्णयोः विभूषितत्वेन चतुर्षु पदेषु निबद्धं छन्दः वृत्तो वा कथ्यते। तद्यथा—

,o ukukFk l;Dr% ino.kfoHkf"kr%A
prfHkLr Hko|Dr NUnkoÙkkfHk/kuorAA[20]

छन्दशब्दयोश्च वैशिष्ट्यं परस्पराश्रयाश्रयी इति भावविषयमुद्घोष्य मुनिना अनेन प्रकारेण निर्दिश्यते। कथं तयोः नाट्यस्य द्योतकत्वमिति विषये मुनिना वर्णितम्—

NUnk ghuk u 'kCnk·fLr uPNUn''kCnofTtreA
rLekÙkkHk; l;kxk ukV;L;k |krd% Ler%AA[21]

चतुर्दशाध्याये आदौ मुनिना गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्पघ्क्त्यादीनां वैदिकच्छन्दसां स्वरूपमुपस्थापितं तथा ततः परं मालिन्यतिजगत्यनुष्टुप्स्रगध्रादीनां छन्दसां पंचदशाध्याये सलक्षणप्रयोगः निर्दिष्टोऽस्ति।

वाचिकाभिनयस्य वाणीद्वारा अनुकार्यस्य विभावानुभावादीनां नटेन तदनुकूलानुकरणमेव वाचिकाभिनयमित्युच्यते।

okfpdkfHku;k okpk ;FkkHkkoeufØ;kA[22]

तस्यैवार्थस्यावबोधय वर्णानामुच्चारणशुद्धिः आगमाख्यातोपसर्गादिना शब्दस्यार्थावगतिः तदर्थानुगुणेन वृत्तादीनां प्रयोगः लोकव्यवहारानुगता भाषा, पात्रादीनां दिव्यादिव्यत्वम्, अनुकार्यानुकूलानुकर्ता तथा तद्वयवहारानुव्यवहरन् पात्राणां पाठ्यं तथा स्थित्यनुसारं काक्वाद्यानुसारीणि वागेव संहृत्य वाचिकाभिनयस्य प्रत्याहारं प्रसारयति इति संक्षेपः।

lUnHkZ%

1. ना.शा. 1.116
2. ना.शा. 1.16
3. ना.शा. 8.7
4. ना.शा. 6.10
5. ना.शा. 1.15
6. ना.शा. 1.108
7. ना.शा. 6.10
8. ना.शा. 6.24
9. ना.शा. 8.7
10. ना.शा. 14.2
11. ना.शा. 14.3
12. ना.शा. 14.4
13. ना.शा. 14.5
14. ना.शा. 14.6–7
15. ना.शा. 14.24
16. ना.शा. 14.26
17. ना.शा. 14.31
18. ना.शा. 14.36
19. ना.शा. 14.37–38
20. ना.शा. 14.41
21. ना.शा. 14.44
22. ना.शा. 14.46

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

f'kf{kr e/;oxZ dh ijc/nrk] foo'krk] dqaBk dk ekufld] lkekftd fp=.k % foik=

vuqt dqekj 'kqDy*

'विपात्र' गजानन माधव मुक्तिबोध की समर्थ कृति मानी जानी है। इस कृति के माध्यम से मुक्तिबोध पढ़े–लिखे और मध्यवर्ग के बाहरी तथा बनावटी दिखावे को उजागर करते हैं। मानव–मानव के बीच दूरियाँ क्यों बढ़ रही हैं। इस विषय पर गहन विश्लेषण करते हैं तथा पाते हैं कि इस के मूल में वह पूँजी आधारित व्यवस्था है। व्यक्ति इस व्यवस्था के अनुरूप अपने को ढाल लेता है। फिर इस व्यवस्था के नियम कायदे को अपना लेता है। उसी के अनुरूप आचरण करता है।

उपन्यास के प्रारम्भ एक बगीचे से होता है जिसमें आम, इलायची, बादाम, हींग आदि के पेड़–पौधे हैं। बगीचे मे लगे पेड़–पौधों के नाम बताने का उद्‌देश्य इस 'विद्या केन्द्र' तथा उसके डायरेक्टर साहब के शौक मिज़ाज तथा वहाँ फैली सुन्दरता के द्वारा वैभव का वर्णन करना रहा होगा!

उपान्यास के सभी पात्र 'विद्या केन्द्र' के अध्यापक हैं। 'विद्या केन्द्र' के डायरेक्टर साहब का अकेलापन, उनके हांकने की प्रवृति समूचे मध्यवर्ग की प्रवृति को दर्शाता है। यह अकेलापन उनके खुद के द्वारा उत्पन्न किया गया है। क्योंकि वह अपने से नीचे के किसी व्यक्ति से मिलना–जुलना पसंद नहीं करते।

''बॉस के दरबार में अनेक बुद्धिजीवी समर्पित स्थिति में जिए जा रहे हैं। विद्याकेन्द्र का जो एक सामूहिक व्यक्तित्व है, उसमें पारस्परिक सम्बन्धों की 'मनहूस हकीकत' बार–बार उभर उठती है, मध्य–वर्ग से उपजे बुद्धिजीवियों के मनो–समाजिक जगत के प्रतिफलन के लिये 'विपात्र' का संस्थागत परिवेश नितान्त समीचीन है।''[1]

मैं (पात्र) तथा जगत सिंह अन्य साथी अध्यापकों की हाँ में हाँ मिलाने की प्रवृति की आलोचना करते हैं। इन लोगों की इस तरह की चापलूसी में कोई रूचि नहीं है बल्कि इस तरह की बातें सुनते–सुनते तंग आ चुके हैं। लेकिन –

''दरवारी ढाँचे की मांग है कि एक अनिवार्य कर्तव्य के रूप में अपना साथ दिया जाए, अर्थात् अपना समय, अपना बोध, अपना व्यक्तित्व अपना सब कुछ गिरवी रखो।''[2]

यदि कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में असफल हो गया हो अर्थात् पद प्रतिष्ठा व कीर्ति न प्राप्त कर सका तो यही पढ़े–लिखें लोग उस व्यक्ति को तिरस्करणीय और दयनीय समझते हैं। तथा यहीं पढ़े–लिखे लोग जो अपने जीवन में ऊँचा उद्‌देश्य रखते हैं, ऊँची–ऊँची बातें करते हैं। लेकिन स्वयं किस तरह ऊँचे पायदान पर चढ़े इसकी तरकीब निकालते रहते हैं चापलूसी का कोई मौका नहीं छोड़ते हैं।

''वस्तुतः विपात्र की वैचारिक संरचना भारत के वर्तमान सांस्कृतिक संकट को व्यवस्थापकीय प्रभुत्व और शिक्षित मध्य वर्ग की प्रबुद्धता, विवशता तथा पुंस्त्वहीनता के मनो–सामाजिक परिप्रेक्ष्य में एक ऐसा अर्थ खोजने की समस्या पर आधारित है। जो जीवन को सही तरह से जीने के योग्य बना सके। मानवीय संवेदना को सही दिशा दे सकें।''[3]

राव साहब स्वभाव से मेहनती व चाटुकार हैं। वहीं दूसरी तरफ जगतसिंह अंग्रेजी साहित्य का ज्ञाता, चिंतन करने वाला, एकांत प्रिय स्वप्नदर्शी हैं। वह अक्सर हॉवर्ड व कैम्ब्रिज की बातें करता था। राव साहब की नजरों में वह मूर्ख था। क्योंकि वह बहुत पढ़ने–लिखने के बावजूद अभी तक कुछ ठोस

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ. हरी सिंह गौर वि. वि. सागर (म.प्र.)

उपलब्धि हासिल नहीं कर पाता है। वह अपेक्षित मान सम्मान नहीं प्राप्त कर पाता है। जीवन में अपेक्षित मुकाम हासिल न कर पाने के कारण व्यक्ति की जो दुर्दशा होती है वह उसकी कमजोरी है और असफल व्यक्ति को समाज हमेशा हेय दृष्टि से देखता है।

डायरेक्टर साहब की स्त्री बहुत जल्द मर गयी थी। वह दो बच्चों के पिता थे। लेकिन वह अकेलापन महसूस करते थे। उनके सामने यही समस्या रहती थी कि समय कैसे व्यतीत करें ? इसलिए 'विद्या केन्द्र' के कर्मचारियों के साथ बैठकर समय काटते थे। इसलिए वह लोगों की सहायता करते थे। उन्हें लोगों का जीवन निर्माण करने में आनन्द आता था। लेकिन उनकी अधिकार प्रियता लोगों को पसन्द न थी। लोग अपने आपको उनके ढाँचे में फिट नहीं करना चाह रहे थे। फिर भी उनके अहसान से दब कर उनके साथ समय काटते। वे अक्सर चाय पार्टी के बहाने दरबार लगाया करते। जो लोग किसी कारण बस न आ पाते उन्हें अजीब डर लगा रहता कि कहीं कुछ अनिष्ट न हो जाए। वे सब उस विद्या केन्द्र में आशंकित जीवन व्यतीत कर रहे थे। मैं पात्र कहता है '' लोगों को इस विद्या केन्द्र से कोई विद्यानुराग नहीं था। जो व्यक्ति इधर–उधर किताबे टटोलते या अपने विषय में रमने लगता, तो लोग बुरा मान जाते।''[4] अर्थात कोई भी पढ़ने–लिखने की बातचीत न करके अन्य सभी तरह की बातचीत करना चाहते थे। यहां तक पी.एच.डी. की पढ़ाई को केवल उच्च पद प्राप्त करने की सीढ़ी समझते थे।

जब समाज में सब कुछ पैसा को ही समझा जाने लगा तो ज्ञान की महत्ता कम हो गयी। क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति का वह मान–सम्मान नहीं है जो धनी व्यक्ति का है।

धनी लोग कम धनी या गरीब लोगों से बहुत फासला रखते हैं। डायरेक्टर साहब 'विद्या केन्द्र' के किसी अध्यापक तथा कर्मचारी को गरीब व गन्दी बस्तियों से गुजरने को भी बहुत बुरा मानते थे। उनका मानना था कि ये वेश्याओं के अड्डे हैं। वहाँ के किसी होटल में चाय पीना तक उन्हें मंजूर नही था।

किस तरह मध्य वर्ग गरीब लोगों को देखते है ? तथा उनकी नजर में वह कितने गिरे हुए नीच लोग हैं जबकि ऐसा होने के पीछे उनकी स्वयं की शोषण की नीति है। विद्या केन्द्र के सभी कर्मचारी बिना मन के डायरेक्टर साहब के सामने हाँ–हाँ करते रहते हैं। जबकि यह करते– करते वह ऊब चुके हैं। अपनी स्वतंत्रता छिन जाने से अन्दर ही अन्दर हताश व उदास है। मजबूरी में खुश होने का ढ़ोग करते हैं।

भनावत कहता है ''कहा जाता है कि हममें व्यक्ति स्वातंत्र्य'' है। लेकिन यह मान्यता झूठ है। हमें खरीदने और बेचने की, खरीदे जाने की और बेचे जाने की आजादी है। हमने अपना व्यक्ति स्वातंत्र्य बेच दिया है।''[5]

कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से कोई काम नही कर पाता है, वह मजबूरी में कोई नौकरी बेमन से करता है तो उसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य कहाँ है ? लेकिन पेट–पालने की मजबूरी है इसलिए यह स्वतंत्रता बेचनी ही पड़ती है। सरकारी या गैर सरकारी संस्थान हो सब जगह अलग–अलग तरीके से पूंछ हिलानी पड़ती है।

चाहे वहां भ्रष्टाचार तथा कदाचार कितना भी क्यों न हो, भले ही उनकी आत्मा धिक्कारे लेकिन बाल–बच्चों का मुँह देखकर अपने स्वभाव के विपरीत व्यक्ति को आचरण करना पड़ता है। भनावत की सत्रहवीं नौकरी है तो मैं (पात्र) की पन्द्रहवीं नौकरी है। मैं (पात्र) कहता है–''दुतकारना आसान है। मेरी भी पन्द्रहवीं नौकरी है। लेकिन पेट पालना बहुत मुश्किल है।''[6] प्रत्येक व्यक्ति इस दमघोटू माहौल में नौकरी करके जीवन यापन कर रहा है। मुक्तिबोध भी व्यक्ति में स्वप्न देखने की प्रवृत्ति को बताते हैं। मैं कहता हूँ कि ''मेरे मित्र तुमने रात को बहुत अच्छा इरादा किया था और बहुत अच्छा स्वप्न देखा था। लेकिन सुबह होते ही क्या हुआ ? तुम ख्याली धुन्ध में खोये रहते हो''।[7]

यह मनुष्य की प्रवृत्ति है कि हमेशा अपने साथ अच्छा घटित होते देखना चाहता है। वह स्वभावतः अच्छा सोचता है लेकिन यथार्थ में अच्छा नहीं कर पाता है क्योंकि परिस्थिति प्रत्येक का प्रत्येक समय साथ नहीं देती है। प्रत्येक आदमी चाहता है कि लोग उसे पहचानें, उसे महत्व दें। लेकिन प्रत्येक को अभिमान है कि वह अद्वितीय, श्रेष्ठ है। फलस्वरूप कोई किसी को पहचान नही पाता ''और मुक्ति अकेले में अकेले की नहीं हो सकती।''[8]

आगे मुक्तिबोध पढ़े–लिखे लोगों की विशेष जीवन प्रणाली का वर्णन करते है। ''बाकी के जो पढ़े–लिखे लोग हैं, वे इस फिक्र में हैं कि शार्क स्किन का पेण्ट और खद्दर की धोती कहीं खराब तो नहीं हो गयी है। शिक्षित संस्कृत लोग एक विशेष जीवन–प्रणाली के उपासक है।''[9]

इनकी शिक्षा का उद्देश्य, पद, प्रतिष्ठा व प्रभाव को प्राप्त करना हो गया है। खूबसूरत तथा चमकदार जिन्दगी जीने को मिले और हर तरफ तारीफ करने वाले लोग मिलें, यही प्रधान इच्छा हो गयी है। ऐसे शिक्षित लोग जनसाधरण के प्रति ओछी नजर रखते हैं। इसलिए इन दोनों के बीच फासले बने रहते हैं।

इन शिक्षित जन की नजर में मूर्ख वह है जो कुछ नही कर पाता, जो अपने पेट को काटकर, बाल बच्चों को तरसा–तरसाकर जीवन यापन करता है। यही शिक्षित जन अपनी कमियों को ढ़ाकने के लिए जयन्तियाँ मनाते हैं।

ये लोग हमेशा मौका देखकर बात करते हैं। मैं (पात्र) कहता है कि ''इनमें और हमारे बीच फासले बने रहने चाहिए। मैं (पात्र) ऐसे लोगों के साथ समय नहीं व्यतीत करना चाहता। क्योंकि हाथ भले ही मिल जाए लेकिन दिल कभी नहीं मिलेंगें। ऐसे लोग तो एक ओर व्यक्ति स्वतंत्रता का नारा लगाते हैं ताकि दूसरी ओर ऐसी व्यवस्था बनाये रखना चाहते हैं जिसमें खरीदने व बेचने की स्वतंत्रता बरकरार रहे।''[10] आखिरकार जगत सिंह व मैं जैसे पात्र इस व्यवस्था का मौन विरोध करके भी क्या कर सकते हैं ? स्वयं कुंठित होकर वे क्या परिवर्तन कर सकते हैं? पूरे उपान्यास में मैं (पात्र) स्वयं बाते ही बातें करता हैं जैसा कि उसने बताया भी इसके अलावा वह चौदह बार नौकरी छोड़ चुका है। लेकिन नौकरी छोड़कर व्यक्ति स्वातंत्र्य खोजने की चाह पूरी नहीं हुयी है। सभी नौकरी में यही स्थिति है।

मुक्तिबोध इन सब का कारण उस पूँजीवादी व्यवस्था को मानते है जिसमें मुनाफा कमाने की, व्यापार की निजी पूँजी से आदमी को गुलाम बनाने की स्वतंत्रता है। ''यह व्यवस्था अपने देश में भी अनिवार्य प्राकृतिक नियम की भाँति चल रही हैं''[11]

प्रश्न उठता है कि जब अनिवार्य है तो हम क्या कर सकते हैं और प्राकृतिक नियम है तो फिर हम प्राकृतिक नियमानुसार परिवर्तन की प्रतीक्षा करें।

मैं (पात्र) कहता है कि इस सब के मूल में एक समस्या है समाज में व्यक्तिगत प्रभाव जमाने के लिए धन का लोभ हैं। यही प्रधान उद्देश्य है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह मान–सम्मान अर्जित करना चाहता है। हाँलाकि मान अर्जित करने की चीज़ नही है, वह कर्मों के फलस्वरूप स्वयं प्राप्त हो जाता है। इसलिए आने निजी हित से ऊपर उठकर सोच नहीं पाता हैं क्योंकि 'अच्छी जिन्दगी' जीना चाहता है।

मैं (पात्र) की सहानुभूति उस गरीब जनता से है, जिसे भीड़ कहा जाता है। ''पहले उसे गरीब रखो, शिक्षा तथा आर्थिक साधनों से वंचित रखो, फिर उसे भीड़ कहो, तत्पश्चात उससे घृणा करो। और जो इसका विरोध करे उसे कम्युनिस्ट कहो।''[12]

मैं कहता है ''अंधेरें में रहकर अंधेरे में मर जाना ठीक समझता हूँ, लेकिन फटीचरों से घृणा नहीं करना चाहता।''[13]

लेकिन केवल सहानुभूति करने से समस्या का समाधान निकलता नहीं दिख रहा है। पहले कई जगह नौकरी छोड़कर भी कोई हल नहीं निकला। यानि कुछ लोगों के नौकरी छोड़ने या विरोध करने से कुछ नही होगा। इसके लिए गरीब लोगों को संगठित व शिक्षित करना होगा।

लेखक की चिन्ता है कि मनुष्य के बीच दूरी कैसे मिटे? ''क्या मनुष्य के बीच जो फासले हैं वे किसी लीला भूमि से अर्थात् किसी परस्पर सम्बन्ध को क्रियावान करते हुए पाटे नहीं जा सकते ! क्या मनुष्यता हमेशा ही भेदग्रस्त और विषमता ग्रस्त रहेगी?

किसी भी समस्या का हल शिक्षा द्वारा किया जा सकता है। लेकिन जो शिक्षा दी जा रही है क्या वह भेदग्रस्त मनुष्यता का भला कर सकती है? समझदार लोगों को इस पर विचार करना चाहिए। पूँजीवादी व्यवस्था हो या कोई भी व्यवस्था वह अपने ध्येय के अनुसार ही जनता को शिक्षित करना चाहती है। इसलिए वह अपने ध्येय के अनुसार ही पाठ्यक्रम निर्माण करती है। फिर प्रश्न उठता है कि पहले व्यवस्था

में परिवर्तन करो। लेकिन व्यवस्था बदलने के लिए जनसमूह की अवश्यकता होती हैं जो समझदार हो। लेकिन यह समझ भी तो शिक्षा से ही आती है। जनता को शिक्षित करने का अपना तरीका खोजना होगा?

इस समाज में जगत सिंह जैसे विद्वान हैं जो विदेशी साहित्यकार के उपान्यास पढ़कर उनके पात्रों में खोये रहते हैं लेकिन जिन्दगी उन पात्रों के व्यवहार से नहीं बदलती बल्कि उनकों रचने वाले साहित्यकार की तरह संघर्ष करने से बनती है।

जब तक जीवन से संवेदनाएं या प्रेरणाएं प्राप्त नहीं होती तब तक जिन्दगी में जान नहीं आती। सम्पूर्णतः आत्मनिर्भर व्यक्ति सम्पूर्ण शून्य होता है।''[14] और कला का ध्येय व स्वभाव यह नहीं है।

भूख–प्यास दुःख–सुख को जगह देने का प्रयास होना चाहिए। शून्यता की साधना नहीं करना चाहिए। अकेलापन, सूनापन से भगाने के लिए दरबार लगाने की आवश्यकता नहीं है, जो डायरेक्टर साहब प्रायः करते हैं।

''विपात्र कहानी में मुक्तिबोध संपूर्ण बुद्धिजीवी वर्ग को एक नपुंसक के रूप में देखते हैं। विपा़त्र कहानी के बुद्धिजीवी पात्र जो इतिहास दर्शन, राजनीति समाजशास्त्र और दुनिया भर के विषयों पर हवाई बातें करते रहते हैं। वस्तुतः घोर चापलूसी ईर्ष्या–दग्ध, समझौता परस्त इंसान है।''[15]

पूरे उपन्यास का मूल मकसद पूंजीवादी व्यवस्था के फलस्वरूप मनुष्य के व्यवहार का विश्लेषण करना है। इस व्यवस्था ने किसी प्रकार मनुष्य–मनुष्य के बीच खाई पैदा की? और इस व्यवस्था से कुछ लोग दुःखी होकर भी छुटकारा नहीं पाना चाहते हैं तथा इसी के अनुरूप अपने को ढाल रहे हैं।

यह कृति भले ही कुछ पात्रों को लेकर रची गयी है लेकिन समाज के सभी वर्ग जाति के लोगों के चरित्र का पर्दाफाश करती है।

LkUnHk %

1. मुक्तिबोध का गद्य साहित्य, वर्मा मोतीराम पृ. 59, विद्यार्थी प्रकाशन, दिल्ली।
2. वहीं, पृ. 60
3. वहीं, पृ. 58
4. विपात्र, मुक्तिबोध गजानन माधव, पृ. 27, भारती ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. वहीं, पृ. 35
6. वहीं, पृ. 39
7. वहीं, पृ. 55
8. वहीं, पृ. 57
9. वहीं, पृ. 70
10. वहीं, पृ. 72
11. वहीं, पृ. 72
12. वहीं, पृ. 82
13. वहीं, पृ. 85
14. वहीं, पृ. 93
15. मुक्तिबोध विचारक, कवि और कथाकार, सिंह सुरेन्द्र, पृ. 159, नेशनल पब्लिसिंग हाऊस दिल्ली।

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

vK; d dFkk&lkfgR; dk Hkk"kk lkUn;

vouh'k dekj feJ*

बहुमुखी प्रतिभा के धनी अज्ञेय ने कवि और समीक्षक के रूप में जितनी ख्याति पायी, उतनी चर्चा उनके कथाकार व्यक्तित्व की नहीं हुई। हिन्दी कथा साहित्य में उन्हीं कथाकारों को बहुचर्चा मिली, जो इस विधा के प्रति समर्पित थे। आरम्भ से ही अज्ञेय किसी विधा के प्रति नहीं सर्जनात्मकता के प्रति समर्पित थे। और अपने मन के चित्रों को संम्प्रेषणीय बनाने की गुरूतर समस्या से जूझ रहे थे। इसीलिए कवि, समीक्षक, विचारक, निबन्धकार और कथाकार के विविध रूपों में उन्होंने अपनी बात कहने और अपने को संप्रेषित करने की कोशिश की।

स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य न केवल वस्तु के स्तर पर पारम्परिक कथा साहित्य से इतर व भिन्न है, बल्कि संरचना के स्तर पर भी यह उससे अलग, विशिष्ट व भिन्न है। स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों और उपन्यासों में स्वीकृत संसार औद्योगिक और पूँजीवादी प्रभावों से उत्पन्न जटिलता से युक्त समाज है। तीसरे दशक के कथाकारों ने जिस समाज से अपनी कथाओं का चुनाव किया, वह समाज प्रायः मध्यवर्गीय समाज था, मध्यवर्गीय जीवन की संवेदनाओ को अभिव्यक्त करना चुनौती पूर्ण कार्य था इसलिए इस दशक के कथा साहित्य में संरचना के स्तर पर रचनाकारों की भाषिक एवं शिल्प दृष्टि काफी सजग रही।

डॉ0 नामवर सिंह इस विषय में कहते हैं–''नया कथाकार एक जीते जागते आदमी, एक नये जीवित अनुभव को तराश कर कहानी का आकार दे रहा है।''[1]

भाषा एवं शिल्प की सार्थकता भी यथार्थ जीवन के यथातथ्य अंकन में स्वीकार की गई है। स्वातन्त्र्योत्तर कथा भाषा के संदर्भ में राजेन्द्र यादव लिखते हैं–''अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच भाषा निश्चय ही एक तीसरी जीवित और स्वतंत्र सत्ता है। वह हमें औरों से मिली है, औरों से जोडती है।''[2] भोगे हुए जीवन–यथार्थ की प्रामाणिकता इस दशक के कथा–साहित्य की निजी पहचान है। यह लेखकीय तटस्थता और ईमानदारी कथा–तथ्य में संप्रेषणीयता लाती है। उसे देशकाल और परिस्थितियों के सीमित यथार्थ से परे एक वृहत्तर आयाम देती है। यही कारण है कि इस युग के रचनाकारों ने समकालीन जीवन के अनुभवों के वर्णनों मं जब उपलब्ध भाषिक साधनों को अपर्याप्त पाया तो अनेकानेक नवीन शिल्पगत परिवर्तन उपस्थित हुए।

प्रेमचन्द्र के बाद हिन्दी कथा–साहित्य में भाषा एवं शिल्प सम्बन्धी नवीन प्रयोग सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने किये, किन्तु भाषा एवं शिल्प को वर्णन के प्राथमिक स्तर, से ऊपर उठाकर उच्च स्तर पर व्यवस्थित करने का श्रेय अज्ञेय को ही प्राप्त है। अज्ञेय की भाषिक सौन्दर्य के सम्बन्ध में डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं–''अज्ञेय के भाषिक और भाषेतर प्रयोग सर्वथा अभिव्यजंना से परिपूर्ण हैं। वे स्वच्छन्द तथा आग्रहमुक्त यानी आजाद लेखक हैं। वे उन्हीं शब्दों को सार्थक मानते हैं, जो उस कथन की पुष्टि हेतु सहायक सिद्ध हो। अज्ञेय चूँकि आजाद लेखक हैं इसीलिए वह किसी शास्त्र से न डरते हैं और न तो किसी व्यवस्था के प्रति अकरण सम्मान प्रकट करते हैं। वह उपर्युक्त तथा सशक्त एवं प्रभावी प्रयोगों के माध्यम से अपने भावों को स्वर देने में असंदिग्ध विश्वास का परिचय देते हैं। शब्द मर्मी होने की वजह से वह अर्थ की खोज करते हैं। और यही उनकी सर्जनात्मकता की सबसे विशाल कसौटी है।''[3]

अज्ञेय हिन्दी साहित्य एवं गद्य–शैली के आधुनिक निर्माताओं में आते हैं। ये हिन्दी गद्य की नई शैली के सूत्रधार कहे जा सकते हैं। अज्ञेय की भाषा में ताजगी एवं शिल्पगत वैभव है। डॉ0 देवराज

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

उपाध्याय इस विषय में लिखते हैं–''अज्ञेय के कथा साहित्य में हमारी भाषा अनोखी सादगी, स्वाभागिकता स्वच्छता, क्रांति और परिपूर्णता लिए हुए दिखाई पड़ती है। उसका प्रत्येक शब्द मानों हाल ही में टकसाल से ढ़लकर नई चमक तथा व्यंजना लेकर आया है।''[4]

हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी कथाकारों में अज्ञेय महत्वपूर्ण हैं। मनोविश्लेषणवादी कथाकार के रूप में अज्ञेय ने चिन्तन और रचना का समन्वय करते समय नितान्त स्वच्छन्द और ललित भाषा–विन्यास का सहारा लिया है। इनकी शैली प्राजंल, प्रवाहपूर्ण और स्वतः स्फूर्त है, जिसमें विषय के निर्वाह की क्षमता, अभिव्यक्ति की मौलिकता और भाषा की सहजता के दर्शन होते हैं। परिस्थिति सापेक्ष अर्न्तद्वन्द्व और बौद्धिक उत्तेजना प्रसूत चिन्तन–अनुचिन्तन की प्रक्रिया के साथ भावनाओं एवं संवेगों के उतार–चढ़ाव का जैसा क्रमिक विस्तार अज्ञेय की भाषा में दिखाई देता है। वैसा कहीं और नहीं मिलता।

डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार–''अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या में भाषा को अनिवार्य तत्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नही, अनुभव ही है। उन्होंने भाषा और अनुभव के अद्वैत को स्थापित करने का प्रयास किया।''[5]

अज्ञेय भाषा के सहज रूप को महत्व देते हैं। इस कारण कुछ विद्वान इनकी भाषा को दो रूपों में विभाजित करते हैं–संस्कृत निष्ठ भाषा और सामान्य बोलचाल की भाषा। संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी और देशज शब्दों के मिले–जुले योग से इनकी भाषा अत्यन्त स्वाभाविक हो गई है, क्योंकि इन्होंने इन भाषाओं के उन्हीं शब्दों को चुना है, जो लोक व्यवहार में घुल मिल गये हैं–''मैं इतनी आसानी से युग–युगान्तर के मसले पर फतवा दे गया।''[6] मसला, फतवा आदि शब्द नये नहीं हैं, लेकिन 'युग–युगान्तर' के साथ 'मसला' और 'फतवा' का प्रयोग हिन्दी गद्यभाषा के लिए सर्वथा नवीन है। उर्दू, देशज, संस्कृत आदि भाषाओं की अपेक्षा अज्ञेय की कथा भाषा पर सर्वाधिक प्रभाव अंग्रेजी भाषा का है। इनकी भाषा पर अंग्रेजी का इतना प्रभाव है, कि शब्द ही नहीं बीच–बीच में वाक्य तक अंग्रेजी के प्रयोग किये गये है। अज्ञेय का शायद ही ऐसा कोई पात्र होगा जो अंग्रेजी का प्रयोग न करता हो। कहीं–कहीं अज्ञेय ने अंग्रेजी कविताओं तक का प्रयोग किया है। इस प्रकार की भाषा के प्रयोग का मुख्य कारण भाषा को जनसाधारण के समीप लाना है। यह बोल–चाल की भाषा का वह स्वरूप है, जो आज के बौद्धिक वर्ग के सुशिक्षित व्यक्तियों की भाषा का होता है। अज्ञेय के कथा साहित्य में भारतीय जीवन के विविध रूपों का कलात्मक वर्णन मिलता है। कथ्य की विविधता के साथ ही इनकी गद्य–शैली में भी पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है। अज्ञेय की कहानियों व उपन्यासों में घटनाओं का कम, मनः स्थितियों का चित्रण अधिक होता है। मनोवैज्ञानिक अन्तर्दशाओं, के चित्रण में इन्होंने पत्र शैली, डायरी शैली, प्रत्यावलोकन–शैली, वर्णनात्मक विश्लेषणात्मक, निबन्ध, प्रतीक आदि विभिन्न गद्य शैलियों का प्रयोग किया है।

vKs; dk dFkk lkfgR;&

चाहे उपन्यास हो या कहानी सर्वत्र भाषा का सहज विकास दिखाई देता है। नवीन प्रयोगों से सजी इनकी पात्रानुकूल तथा परिस्थिति एवं वातावरण के अनुकूल है। उपन्यास की तरह ही इनकी कहानियों में भी वैयक्तिक धरातल पर आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने का प्रयास है। वे वैयाक्तिक सत्य के स्तर पर जीवन की विषमताओं और मूल्यों को अभिव्यक्त करने का यत्न करते हैं। अज्ञेय ने आधुनिकता की चुनौतियों को समष्टिगत तथा व्यष्टिगत सत्य के धरातल पर स्वीकारा और रचना प्रक्रिया की दृष्टि से इसे संश्लिष्ट अभिव्यक्ति भी दी है।

अज्ञेय की सारी रचना प्रक्रिया संभव हुई है उस भाषा की बदौलत जिसके लिए वे विख्यात हैं। भाषा ही, माध्यम होने के कारण, अपने शब्द–विधान द्वारा उन मानसिक बिम्बों को प्रत्यक्षीकृत करती है जो लेखक की संवेदना एवं सोच के तहत एक संगठित रूप तो लेते हैं, किन्तु बिना भाषा के जिनका कोई वजूद नहीं होता। मानसिक बिम्बों के संयोजन तथा उन्हें रूपाकर देने के कारण भाषा ही वह ठोस माध्यम है जिसके माध्यम से लेखक की मानसिकता को जाना जा सकता है। इसी सबब से रूप विज्ञान तथा शैली–विज्ञान जैसे आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तनों के रचना की समीक्षा का सर्वाधिक वस्तुनिष्ठ अध्ययन बनाने की पहल हुई है।

अज्ञेय सदैव नवीनता के पक्षधर रहे हैं, अतः उन्होंने भाषा के पारम्पारिक रूप में कई नए परिवर्तन किये। भाषा पर नया मुलम्मा चढ़ाने के लिए उन्होंने जहाँ नवीन शब्दों जैसे–विद्रोहेच्छा, एतादृश, मनस्तत्वविद्, अंशातचित्तता आदि का सृजन किया, वही भाषा को अर्थ–सम्प्रेषणीय तथा सहज बनाने के लिए नई सूक्तियों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी निर्माण किया। इनकी कुछ सूक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

''भूखा मानव भूखे कुत्ते से भी कमजोर होता है।''[7]

''मनुष्य जब पतन की ओर अग्रसर होता है। तो कितनी जल्दी कितनी दूर पहुँच जाता है।''[8]

''प्रेम की शक्ति नागिन के उस सिर की तरह है, जो उसे एक बार देखे लेता है, वह फिर जड़ हो जाता है।''[9]

इस प्रकार के सूक्तिपरक वाक्यों को प्रयोग से अज्ञेय थोड़े शब्दो में ही बहुत कुछ कह देते हैं। अज्ञेय की मान्यता है कि–''कोई भाषा अपने से पुरानी होने की दुहाई नहीं देती। नई हो सकने का सामर्थ्य ही अधिक महत्व पाएगा। न बदलना गुण नहीं माना जाएगा, बदल सकना गुण होगा।''[10] इसीलिए अज्ञेय ने अपनी भाषा का नया संस्कार किया है। और उसे अभिव्यक्ति के अनुरूप बनाया है।

भाषा की सर्जनात्मक शक्ति पर इस तरह का चिन्तनात्मक वार्तालाप चरित्रों के उस गंभीर सोच को प्रकट करता है।, जिसकी अभिव्यक्ति भाषा की अर्थक्षमता के चरम उपयोग के बिना नहीं हो सकती थी। अज्ञेय के चरित्र अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा की अर्थाभिव्यक्ति क्षमता का ऐसा ही उपयोग करते हैं। जटिल जीवन–यथार्थ की अत्यांतिक अभिव्यक्ति के पीछे यदि भाषा एक माध्यम है तो उसके प्रस्तुतिकरण की पृष्ठभूमि में शैली एक विधि या प्रणाली। पात्रों के गहन व सूक्ष्म व्यक्तित्व के उद्घाटन तथा पात्रों की अनुभूति, मनोभाव और विचार–प्रवाह के सजीव चित्रण के प्रयास में अज्ञेय की भाषा में कुछ अद्भुत गुणों का समावेश हो गया है। मानव मन के प्रच्छन्न वृत्तों और छायामयी कल्पनाओं के शब्द–चित्र प्रस्तुत करने हेतु अज्ञेय ने अनेक मनोविश्लेषणात्मक शैलियों का प्रयोग किया है।

'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय ने पात्रों के अचेतन मन की दमित इच्छाओं के अध्ययन हेतु स्वप्न–विश्लेषण पद्धति का पर्याप्त उपयोग हुआ है। यह एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति है, जिसका उपयोग कथाकार ने अन्तस्थ मनोवृत्तियों के सहज अंकन हेतु किया है। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी अपने इतिहास में लिखते हैं कि–''शेखर मूलतः विद्रोह का आख्यान है।.....'शेखर : एक जीवनी' के लेखक की जिज्ञासा और चिंतना का प्रधान क्षेत्र मानवीय व्यक्तित्व है, यह संकेत किया जा चुका है। स्वयं शेखर के शब्दों में इस व्यक्तित्व की 'सम्पूर्ति–अपूर्ति की कहानी' कहना रचना का मुख्य उद्देश्य है। और सम्पूर्ति–आपूर्ति भी समग्रतः नहीं है, उन दोनों के बीच की कोई स्थिति है।''[11]

'नदी के द्वीप' का प्रारम्भ ही भुवन के प्रत्यावलोकन से होता है, जहाँ भुवन पिछले कुछ घण्टों की दृश्यावली के पन्ने उलटते–उलटते, चन्द्रमाधव और रेखा के साथ बिताये गत सप्ताह के जीवन का स्मरण करता है। रेखा जहाँ अपने पति हेमेन्द्र के सम्बन्ध विच्छेद के क्षणों से मानसिक साक्षात्कार करती है, वहाँ इस पूर्वदीप्ति या प्रत्यावलोकन प्रणाली का उपयोग हुआ है। 'अपने–अपने अजनबी' में भी सेल्मा और योके जहाँ अपने अतीत जीवन का स्मरण करती हैं, वहाँ हमें इस शैली के दर्शन होते हैं। डॉ0 बच्चन सिंह लिखते हैं कि–''सेल्मा और योके को एक ऐसी परिस्थिति में डाल दिया गया है। कि स्वतंत्रता की समस्या अपने आप उभर आती है। यह दर्शन मूलतः भारतीय है पर मेटाफिजिकल होने ही वजह से इसमें सब कुछ बौद्धिक स्तर पर घटित होता है। स्वयं जीवन जीने के स्तर पर नहीं।''[12]

अपने तीनों उपन्यासों में कथाकार पात्रों के परस्पर संबंधों और परिस्थितियों का विश्लेषण करता है। इस विश्लेषण शैली में भावाकुलता से भिन्न बौद्धिक चिन्तन की विवृत्ति पायी जाती है। अज्ञेय के पात्र प्रायः सुशिक्षित होते हैं। उनका बौद्धिक स्तर भी विकसित होता है। फलस्वरूप उनमें तर्क–वितर्क और बौद्धिक विश्लेषण चलता रहता है। अज्ञेय जब भी अपने पात्रों के दार्शनिक चिन्तन, तर्क–वितर्क तथा मनः स्थितियों का चित्रण करते हैं तो उनकी भाषा विश्लेषणात्मक हो जाती है। अज्ञेय ने अपने कथा–साहित्य में इस शैली का सुन्दर प्रयोग किया है। अज्ञेय के विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग उनकी कहानियों 'अमर वल्लरी', 'रमन्ते तत्र देवता', 'मेजर चौधरी की वापसी', 'होलोबीन की बत्तखें', 'रोज़, शान्ति हँसी थी',

'अकलंक', और 'वे दूसरे', में बिम्बों और शैली द्वारा मानव मन की उलझी गुत्थियों को खोलने और सुलझाने का प्रयास किया गया है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय के समूचे कथा–साहित्य के रचना–विधान का आधार रही है अज्ञेय के सोच की आन्तरिक लय। अज्ञेय की शैली एक सोचते हुए व्यक्ति का आलाप है। अज्ञेय की गद्य शैली में अलंकरण भी है, रोमानीपन भी है और प्रकृति तथा ऋतुओं के विकास को मानवीय सुख–दुःख के साथ जोड़ने का प्रयास भी है। अज्ञेय की भाषा निरन्तर विकासमान और परिनिष्ठित गद्यभाषा है। उन्होंने विशेष रूप से तत्सम तद्भव शब्दों का प्रयोग नहीं किया और न किसी अन्य भाषा के शब्दों को प्रमुखता दी। सभी भाषाओं के शब्द मिलकर अज्ञेय की अभिव्यक्ति को सप्राण बनाते हैं। वैविध्यपूर्ण शब्द चयन उनकी भाषा को सुगढ़ता प्रदान करता है। चूँकि अज्ञेय कवि भी हैं, इसीलिए इनकी शैली मे काव्यात्मकता स्पष्ट झलकती है। संक्षेप में कहा जा सकता है, कि अज्ञेय का काव्य गद्यात्मक है और गद्य काव्यात्मक है। यह अन्तर्विरोध इनकी भाषा एवं शैली को विशिष्ट विलक्षण और अद्वितीय बनाती है। अज्ञेय की भाषा संरचना एवं शैली में गहरी अन्तर्संगति है, जो उनकी सर्जनात्मकता में अभिवृद्धि करती है।

lUnHkZ %

1. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, पृ0 18
2. यादव, राजेन्द्र, कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ0 112
3. चतुर्वेदी, डॉ0 रामस्वरूप, हिन्दी नवलेखन, पृ0 50
4. उपाध्याय, डॉ0 देवराज, आधुनिक समीक्षा, पृ0 138
5. चतुर्वेदी, डॉ0 रामस्वरूप, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या पृ0 56
6. अज्ञेय, त्रिशंकु, पृ0 23
7. अज्ञेय, कड़ियाँ और अन्य कहानियाँ, पृ0 10
8. वहीं, (द्रोही), पृ0 101
9. वहीं (कोठरी की बात), पृ0 143
10. अज्ञेय, लिखि कागद कोरे, पृ0 57
11. चतुर्वेदी, डॉ0 रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ0 212
12. सिंह, डॉ0 बच्चन, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 327

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

dk;Zjr v/;kid f'k{kdk dh lsokdkyhu f'k{kk esa uokpkfjd o okLrfod izf'k{k.k dh vko';drk dk v/;;u

c`ts'k dqekj*

शिक्षा मानव विकास का मूल साधन है, शिक्षा ही मानव को प्रबुद्ध मानव के रूप में विकसित करती है, जिसमें अध्यापक का महत्वपूर्ण योगदान होता है, इसलिए अध्यापक शिक्षा से अभिप्राय अध्यापकों के प्रशिक्षण व्यवस्था से है, एक सक्षम, आत्मनिर्भर, अनुशासित चरित्रवान आदि गुणों से युक्त विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है। उसकी उच्च कोटि की शिक्षा व्यवस्था जो न केवल पाठ्यक्रम से पूरी की जा सकती है, बल्कि उसके लिए एक सक्षम अध्यापक की आवश्यकता होती है, इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु अध्यापकों के विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे छात्रों का सर्वांगीण विकास किया जा सके एवं समाज में अध्यापक की निर्णायक भूमिका होती है। शिक्षा की गुणवत्ता और राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के योगदान के लिए उत्तरदायी कारकों में से अध्यापक निःसन्देह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

i"BHkwfe %

सेवाकालीन अध्यापक शिक्षा में नवाचारिक एवं वास्तविक प्रशिक्षण के विषय पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में विभिन्न आयोगों व समितियों ने अपना सुझाव दिया है।

विभिन्न स्तरों पर अध्यापक शिक्षको के महत्व को ध्यान में रखते हुए, शिक्षा आयोग (1966) ने लिखा है ''शिक्षा में गुणात्मक सुधार के लिए यह अनिवार्य है कि अध्यापकों के वृत्तिक शिक्षण का एक समुचित कार्यक्रम हो।''

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने सेवापूर्व और सेवाकालीन शिक्षक शिक्षा को एक सतत्–प्रक्रिया के रूप में जोड़ दिया इसनें हर जिले में जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थान (डाइट) की कल्पना की। 250 शिक्षा महाविद्यालयों का दर्जा बढ़ा कर उन्हें शिक्षक शिक्षा महाविद्यालय (सी0टी0ई0) बना देने को कहा साथ ही इसने 50 उच्च शिक्षा अध्ययन (आई0ए0एस0ई0) संस्थान स्थापित करने को कहा और राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद को मजबूत किये जाने की बात की। आचार्य राममूर्ति समीक्षा समिति (1990) ने संस्तुति की कि रिफ्रेशर कोर्स आदि शिक्षकों की विशेष आवश्यकताओं से जोड़ दिये जाये एवं मूल्यांकन और उसके बाद फॉलोअप की गतिविधियाँ भी इस योजना का हिस्सा बनें।

अतः विभिन्न स्तरों पर सेवाकालीन अध्यापक शिक्षा की आवश्यकता प्रतीत होती है।

1. प्राथमिक विद्यालय के अध्यापकों को सेवाकालीन प्रशिक्षण पर प्रायः बहुत कम ध्यान दिया जाता है, कुछ राज्यों मे तो प्राथमिक विद्यालय के अध्यापकों की उपेक्षा की जाती है, एक तो प्राथमिक विद्यालय के अध्यापकों की शैक्षिक योग्यता वैसे ही कम होती है, फिर इस स्तर पर विद्यालयों में काम करने वाले अध्यापकों में प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या बहुत कम है। ऊपर से सेवाकालीन शिक्षा की व्यवस्था कम है, इसलिए राज्य शिक्षा संस्थाओं का यह कर्त्तव्य है, कि प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक के लिए ग्रीष्मकालीन शिक्षा, अल्पकालीन पाठ्यक्रम गोष्ठियाँ, पत्राचार पाठ्यक्रमों का आयोजन करे, ताकि अध्यापक शिक्षा जगत की नवीनतम उपलब्धियों से परिचित हो सकें।

2. माध्यमिक विद्यालय के अध्यापकों को सेवाकालीन प्रशिक्षण अवश्य दिया जाना चाहिए। क्योंकि उनका किशोरों को पढ़ाने का विशेष उत्तरदायित्व है, इस प्रशिक्षण के लिए यह भी आवश्यक है, कि प्रत्येक

*शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

अध्यापक अपनी पाँच वर्ष की सेवा अवधि में कम से कम दो या तीन माह की सेवाकलीन शिक्षा अवश्य प्राप्त करें। पिछले कुछ वर्षों से राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एंव प्रशिक्षण परिषद दिल्ली के सहयोग से सेवाकालीन शिक्षा हेतु कुछ विषयों पर ग्रीष्म संस्थानों पर आयोजन किया जाने लगा है।

कोठारी आयोग (1964–66) के अनुसार सेमीनार, अथवा ग्रीष्मकालीन संस्थानों का लाभ तब तक नहीं होता जब तक इन कार्यक्रमों में अनुसरण कार्यक्रम (फालोअप प्रोग्राम) को क्रमिक रूप से जोड़ा न जाय। यदि शिक्षा विभाग और माध्यमिक शिक्षा बोर्डों के कार्यों में उचित समन्वय होता तो पिछले कुछ वर्षों के प्रयास का परिणाम और भी अधिक अच्छा होता। जिससे अध्यापकों को अपने ज्ञान को अद्यतन करने में सहायक होती।

3. उच्च शिक्षा के अध्यापकों को किसी प्रकार का व्यवसायिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता और वास्तविकता यह है, कि इनके लिए विशेष रूप से यह आवश्यक है कि उन्हें शिक्षण कला का परिचय दिया जाय जिससे उन्हें शिक्षा के उद्देश्यों विभिन्न शिक्षण विधियों मनोवैज्ञानिक तथ्यों और अपने विषय का विषद ज्ञान प्राप्त हो सके। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा विश्वविद्यालय के सहयोग से कुछ कार्यक्रम प्रारम्भ भी किये गये। ऐसे कार्यक्रम कालीकट कोयम्बटूर, मुम्बई आदि स्थानों पर चलाये गये।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने सन् 1986–87 में विभिन्न विश्वविद्यालयों में एकेडमिक स्टाफ कॉलेज खोलकर उच्च शिक्षा में कार्यरत शिक्षकों के ज्ञान को अद्यतन करने, शिक्षण विधियों एवं शोध विधियों की जानकारी देने तथा अन्य प्रकार से उनका व्यावसायिक विकास करने की दृष्टि से ओरिएन्टेशन कोर्स, रिफ्रेशर कोर्स, सेमीनार आदि के माध्यम से अद्यतन ज्ञान का विकास करने का प्रयास किया है, जिससे अध्यापक अपने छात्रों का सर्वांगीण विकास कर सकते हैं।

इस संदर्भ में राधाकृष्णन (1948–49) ने कहा कि उच्च शिक्षा स्तर पर जो अध्यापक अपने क्षेत्र के नवीनतम विकास से परिचित न हो, और अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन स्वतन्त्र तथा रूचिकर पूर्ण ढंग से नहीं कर पाता हो, वह शायद ही कभी युवा वर्ग को अच्छा करने के लिए प्रेरित कर पाता है, जो कि उच्च शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रभावी अध्यापक बनने के लिए अध्यापक में उपर्युक्त विशेषताओं का होना आवश्यक है, अतः विभिन्न स्तरों पर प्रशिक्षण कार्यक्रमों में ऐसे पाठ्यक्रमों का निर्माण किया जाय जिनसे हमारे अध्यापक ज्ञान को अद्यतन शिक्षण में उपयोग एवं अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में योगदान दे सकें।

विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त परिणाम–

अध्यापक शिक्षकों की सेवाकालीन शिक्षा की आवश्यकता से सम्बन्धित भारत में हुए अध्ययनः–

¼1½-Hkkjrh; Lkkrk l iklr ifj.kke%& विभिन्न स्तरों पर कार्यरत अध्यापक शिक्षकों की सेवाकालीन शिक्षा की आवश्यकता के सम्बन्ध में भारत मे हुए अध्ययन का कुछ वर्णन निम्नलिखित है–

राज्य शिक्षा संस्थानों के निदेशकों का 1964 में हुए सम्मेलन में गुणात्मक सुधार के लिए प्राथमिक स्तर पर सेवारत प्रशिक्षण के निम्न कार्य सुझाये गयेः–

1. जो शिक्षक प्रशिक्षक या परिवेक्षक पहली बार नियुक्त हुए है, उनके लिए अधिष्ठापन प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।
2. शिक्षक प्रशिक्षकों व परिवेक्षकों के लिए सेवारत प्रशिक्षण का आयोजन इस प्रकार करना कि प्रत्येक पांच वर्ष की अवधि में तीन माह का प्रशिक्षण प्राप्त हो जाय।
3. शिक्षा विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों के लिए संगोष्ठी का आयेाजन करना।
4. स्वायत्तशासी संस्थाओं के शिक्षा प्रशासकों के लिए संगोष्ठी और सम्मेलन की व्यवस्था करना।
5. प्राथमिक विद्यालयों की समुन्नति हेतु सेवा प्रसार केन्द्र की स्थापना करना।
6. शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों के लिए सेवा प्रसार कार्य करना।
7. विद्यालयी शिक्षा में स्वयं शोधकार्य करना या अन्य संस्थाओं के साथ मिलकर शोधकार्य को बढ़ावा देना।
8. शिक्षा विभाग को शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम को उन्नत करने में सहायता करना विशेषकर शिक्षक प्रशिक्षण मण्डल की स्थापना व कार्य का संचालन करना।

9. शैक्षिक साहित्य का सृजन जैसे पत्रिका निकालना।
10. शिक्षा विभाग द्वारा समय समय पर मूल्यांकन करना।

वर्मा (1968) ने राजस्थान राज्य के प्रशिक्षण संस्थान के 546 प्रशिक्षणार्थियों पर अध्ययन किया उनका उद्देश्य प्रशिक्षण का प्रशिक्षणार्थियों के अभिवृत्ति पर प्रभाव का अध्ययन करना था।

त्रिपाठी एम.के. (1973) ने वाराणसी के 20 माध्यमिक विद्यालयों संगठनात्मक वातावरण एवं कार्यरत अध्यापकों का अध्ययन किया। अध्ययन के लिए उन्होंने अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि विभिन्न स्तर पर कार्यरत अध्यापकों में भिन्न–भिन्न प्रशिक्षण की जरूरत थी।

बुच (1976) ने अपनी रिपोर्ट के द्वारा यह सुझाव दिया कि नये नियुक्त प्रवक्ताओं को शिक्षण विधि मे दक्ष करने के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण को अनिवार्य रूप से दिया जाना चाहिए।

सोहनी तथा अन्य (1977) ने अपने अध्ययन में कार्यरत अध्यापक शिक्षा के प्रभाव को महिला शिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता पर देखा। उन्होंने न्यादर्श के रूप में उन्होंन एन0डी0टी0 महिला शिक्षा महाविद्यालय पूना की गुजराती व गृह विज्ञान विषय को छोड़कर अन्य विषय के छात्राध्यापकों को सम्मिलित किया शिक्षण प्रभावशीलता को 21 घटको वाले उपकरण के संदर्भ में शिक्षिकाओं की 1456 पाठय योजनाओं का अवलोकन किया गया। अध्ययन के निष्कर्ष में उन्होंने पाया कि परीक्षण के मानकीकृत ग्रेड एंव छात्राध्यापकों को प्राप्त ग्रेड में सार्थक सह सम्बन्ध पाया गया प्रशिक्षुओं की शिक्षण प्रभावशीलता मानक सीमा तक पहुंच गयी थी। शिक्षण प्रभावशीलता के सामान्य तत्व जैसे कक्षा को प्रेरित करने की शक्ति प्रभावीय भाषण योग्यता, श्यामपट प्रयोग की योग्यता एंव व्यक्तित्व परिपक्वता का अवलोकन सार्थक पाया गया। कुमार और लाल (1980) ने सेवारत शिक्षकों के प्रशिक्षण में सूक्ष्म शिक्षण के प्रभाव का अध्ययन किया अध्ययन के फलस्वरूप निष्कर्ष में पाया गया कि–

सूक्ष्म शिक्षण के प्रयोग से शिक्षणरत् शिक्षकों के प्रश्न पूछने की दक्षता, पृष्ठ पोषण देना उदाहरण के साथ व्याख्यान देना श्रव्य दृश्य सामाग्री के साथ पढ़ाना तथा छात्रों के साथ प्रतिभागिता में वृद्धि पायी गयी। शिक्षकों के इस मूल्यांकन मे सूक्ष्म शिक्षण सहायक है। कम अनुभव वाले शिक्षक अधिक अनुभवी शिक्षकों की अपेक्षा माइक्रोटीचिंग से अधिक लाभान्वित होते हैं।

शर्मा (1983) ने राजस्थान के प्राथमिक स्तर के सेवापूर्व प्रशिक्षण कार्यक्रम की प्रभावोत्पादकता का अध्ययन किया। अपने अध्ययन हेतु उन्होंने न्यादर्श के रूप मे राजस्थान के विभिन्न स्थानों से 500 प्राथमिक शिक्षकों को लिया जिसमें 363 प्रशिक्षित शिक्षक थे। और 137 अप्रशिक्षित शिक्षक थें। अध्ययन के निष्कर्ष मे उन्होंने पाया कि प्रशिक्षित शिक्षक, अप्रशिक्षित शिक्षकों से सहयोगात्मक अभिवृत्ति और नैतिक चरित्र के दृष्टिकोण से आपस में सार्थक अन्तर रखते हैं, प्रशिक्षित शिक्षक, अप्रशिक्षित शिक्षकों की तुलना मे सहजता से व्यवहार प्रदर्शित करते हैं।

सिद्दकी (2006) ने उच्च शिक्षा स्तरीय शिक्षकों की प्रशिक्षण आवश्यकता तथा सार्थकता पर अपने शोध पत्र में पाया कि उच्च शिक्षा स्तरीय शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। क्योंकि प्रशिक्षण से प्रभावी शिक्षण तकनीक का विकास होता है। इसलिए कुछ अल्पकालिक शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम को भी चलाया जाना चाहिए।

गुप्ता मधु (2008) ने प्राथमिक विद्यालय में कार्यरत शिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता पर प्रशिक्षण के प्रभाव का अध्ययन करना था प्रस्तुत शोध संदर्भ में उन्होंने न्यादर्श के रूप में इटावा के पांच विकास खण्डों की यादृच्छिक विधि से चयन किया चयनित विकास खण्डों में स्थित प्राथमिक विद्यालयों में से यादृच्छिक विधि द्वारा 108 प्राथमिक विद्यालय का चयन तथा उनमें अध्यापन कार्य कर रहे 200 शिक्षकों को प्रतिदर्शन हेतु चुना एवं निष्कर्ष स्वरूप पाया कि शिक्षण प्रभावशीलता में प्रशिक्षण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विशिष्ट बी.टी.सी शिक्षकों को केवल 6 माह का अल्प अवधि का प्रशिक्षण दिया जाता है। अतः बी.टी.सी वाले शिक्षकों को शिक्षण कार्य हेतु प्रयुक्त होने वाली शिक्षण विधियों प्रविधियों तथा बाल मनोविज्ञान का ज्ञान अच्छी तरह से प्राप्त हो जाता है। और वे अपने कार्य को अधिक दक्ष एंव प्रभावी बना पाते हैं जिससे उनकी उपलब्धि स्तर पर भी सार्थक प्रभाव पड़ता है।

¼2½- fon'kh L=krk l iklr iek.k& हेनरी बोबर्स (1953) ने स्टेनफोर्ड शालाओं में कार्यरत शिक्षको की शिक्षण अभिक्षमता के मापन हेतु एक मानकीकृत शिक्षण अभिक्षमता परीक्षण का निर्माण किया।

कोपस (1972) ने कार्यरत् प्राथमिक शिक्षकों पर किये गये शोध में पाया कि प्रभावशाली शिक्षकों का कक्षा एवं विद्यालय में समायोजन श्रेष्ठ रहता है। जो शिक्षक प्रभावशाली शिक्षकों की श्रेणी में आते हैं वे शिक्षक कक्षा में छात्रों को प्रोत्साहित करते हुए और साथ ही सृजनात्मक शिक्षण उपागमों की सहायता से पढ़ाते हैं।

एलन (1982) ने सेवाकालीन प्राथमिक शिक्षकों की कक्षागत शिक्षण पर प्रशिक्षण के प्रभाव को अपने अध्ययन में देखा कि ''प्रशिक्षण शिक्षकों की कक्षा शिक्षण प्रभावशीलता को न्यूनतम लागत पर विकसित कर देता है, प्रशिक्षण द्वारा शिक्षकों में उत्तरदायित्व पूर्ण भावना एवं दक्षता स्तर में सुधार हो जाता है। प्रशिक्षण द्वारा शिक्षकों के अनुदेशन मे तारतम्यता आ जाती है और छात्रों के समक्ष विषय वस्तु को उत्तम तरीके से सम्पादित करने में एवं गहरायी से आत्मसातीकरण करने में सफल हो जाते हैं।

साईफर (1984) ने भी माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के कार्य का अध्ययन किया तथा पाया कि उन शिक्षकों का कार्य व्यवहार सकारात्मक रूप से विद्यालय वातावरण से सम्बन्धित था।

ओगो सुक्बू (1985) ने आवश्यक सेवारत प्रशिक्षण का गणित शिक्षण प्रक्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया। अध्ययन का उद्देश्य आवश्यक सेवारत प्रशिक्षण का गणित पढ़ाने वाले शिक्षकों की शिक्षण प्रक्रिया में पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना था। अध्ययन हेतु उन्होंने नाइजीरिया के बेन्डेल स्टेट के 144 प्राथमिक शिक्षकों को न्यादर्श हेतु चुना अध्ययन के निष्कर्ष में उन्होंने पाया कि आवश्यक सेवारत् प्रशिक्षण का गणित शिक्षण प्रक्रिया के साथ सार्थक सम्बन्ध पाया गया।

हडिडी (1993) ने जॉरडन में चलने वाले सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण की प्रभावशीलता के अध्ययन में पाया कि प्रभावी प्रशिक्षण के लिए आवश्यक तत्वों को प्रशिक्षण में सम्मिलित नहीं किया गया।

सेंडरवर्ग तथा क्लार्क (1999) ने सेवारत विद्यालयीन शिक्षकों की शिक्षण अभिक्षमता का अध्ययन किया। शोध कार्य का उद्देश्य शिक्षकों की शिक्षण अभिक्षमता को प्रभावित करने वाले कारकों का पता लगाना था। उन्हेंाने अपने अध्ययन में पाया कि जिन शिक्षकों में प्रचुर मात्रा में उत्साह आजीवन अभिप्रेरित समाजसेवी भाव रखने वाले तथा संवेदनशील होते हैं। उनमें शिक्षण अभिक्षमता उच्च होती है।

रेड्डी (1999) ने सेवारत प्राथमिक शिक्षकों की शिक्षण दक्षता एवं अभिवृत्ति पर 'डाइट' द्वारा प्रदत्त प्रशिक्षण के प्रभाव का अध्ययन किया। न्यादर्श के रूप में उन्होंने करीन नगर 'डाइट' को सन् 1992, 1993 तथा 1994 के सेवाकालीन शिक्षकों को सम्मिलित किया। उपकरण के लिए उन्होंने 'स्वनिर्मित' प्रश्नावली एंव साक्षात्कार विधि को प्रयोग में लाया प्रदत्तों के विश्लेषण के आधार पर उन्हेांने पाया कि 'डाइट' द्वारा प्रदत्त प्रशिक्षण शिक्षकों के लिए हितकारी लाभदायी होता है।

ग्रेगरी ए0 गिल्फिन (2011) ने सेवारत शिक्षक वेतन और शिक्षण अभिक्षता का अध्ययन किया। इस शोध कार्य का उद्देश्य सेवारत शिक्षकों के वेतन तथा उनकी शिक्षण अभिक्षमता का अध्ययन किया। इस शोध कार्य का उद्देश्य सेवारत शिक्षकों के वेतन तथा उनकी शिक्षण अभिक्षमता के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन करना था। इस कार्य हेतु पब्लिक हाईस्कूल के सेवा कालीन कला, विज्ञान एवं गणितसंकाय के शिक्षकों का चयन न्यादर्श के रूप में किया गया, निष्कर्ष में पाया गया कि शिक्षण अभिक्षमता एंव शिक्षण वेतन के मध्य धनात्मक सहसम्बन्ध है।

'kh"kd 'kCnk dh 0;k[;k&

v/;kid f'k{kk&– अध्यापक शिक्षा से अभिप्राय अध्यापकों के प्रशिक्षण व्यवस्था से है। जिससे भावी और वर्तमान अध्यापकों का सर्वांगीण विकास हो सके। यह कार्यक्रम भावी तथा सेवारत् अध्यापकों के व्यक्तिगत सामाजिक नैतिक व्यावसायिक तथा सांस्कृतिक विकास करके उन्हें अध्यापक के विभिन्न उत्तरदायित्वों को सफलता पूर्वक व प्रभाव शाली ढंग से पूरा करने के योग्य बनाता है।

अतः अध्यापक शिक्षा की अवधारणा अतिव्यापक है, अध्यापक शिक्षा के अन्तर्गत न केवल शिक्षण कला में निपुण बनाया जाता है, बल्कि अध्यापकों को शिक्षण प्रक्रिया की विभिन्न विधाओं से सम्बन्धित अन्तर्दृष्टि विकसित करने योग्य बनाया जाता है।

lokdkyhu v/;kid f'k{kk& सेवाकालीन अध्यापक शिक्षा के अर्न्तगत सेवारत अध्यापाकों के लिए प्रशिक्षण या पुनश्चर्या कार्यक्रमों को संचालित एंव व्यवस्थित करते हुए उनकी कार्य क्षमता और कुशलता में वृद्धि हेतु प्रयत्न किया जाता है। वर्ष 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में अध्यापक शिक्षा को भी शिक्षा के समान एक जीवन व्यापी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया कि अध्यापकों का उद्यमगत विकास सेवापूर्व कालीन अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम के माध्यम से प्रारम्भ होता है, और उनका निरन्तर नवीनीकरण सेवाकालीन कार्यक्रमों के माध्यम से होता है, साथ ही कौशलगत दक्षताओं में उन्नयन भी किया जाता है।

सेवाकालीन अध्यापक शिक्षा को परिभाषित करते हुए–'n ;ukbVsM LVsV fMikVZesV vkQ gsYFk ,tqds'ku ,.M osQ;j* (1965) ने वर्णन करते हुए कहा–''सेवाकालीन प्रशिक्षण विद्यालयी व्यवस्था में एक ऐसी प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को विद्यालयी वातावरण में स्वंय में समायोजित करने तथा अपने व्यवसाय में स्वंय की दक्षताओं में वृद्धि करनी है।''

ब्राउन एंव केडर्स (1977)–'सेवाकालीन अध्यापक शिक्षा संगठन में अनुकूलनशील तरीके में अनौपचारिक और करने में आनन्ददायक होना चाहिए।'

एम.वी. वुच (1968)–'सेवारत अध्यापक शिक्षा एक क्रियाबद्ध योजना है, जिसका उद्‌देश्य शिक्षक और शैक्षिक सेवा कर्मचारियों का निरंतर विकास है।''

सोहन (1983) सेवाकालीन अध्यापक शिक्षा अध्यापक को अपनी शक्ति को पुनः केन्द्रण का अवसर देता है। ताकि वे स्वयं का मूल्यांकन कर सकें, क्योंकि स्वमूल्यांकन प्रभावी अध्यापक के विकास के लिए आवश्यक है।

uokpkfjd o okLrfod izf'k{k.k dh vko';drk& सेवाकालीन अध्यापक शिक्षा की प्रगति में नवाचार एक आधारशीला के रूप में कार्य करता हैं। जिससे विभिन्न स्तरों पर कार्यरत अध्यापक शिक्षकों को प्रशिक्षण देकर शिक्षा व्यवस्था में सुधार लाया जा सके। किसी भी राष्ट्र में परिवर्तन पुरूत्थान तथा विकास के लिए यह आवश्यक है, कि मानव संसाधन का विकास किया जाये, मानव संसाधन का विकास शिक्षा के समुचित प्रचार एवं प्रसार से ही सम्भव हो सकता है। तो तत्काल उसका सम्बन्ध नवाचार से हो जाता है। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप शिक्षण प्रणाली में शिक्षण मशीनों वेब टू, आई.सी.टी., कम्प्यूटर, दक्षता, स्मार्ट शिक्षण विधि, समिश्रित तकनीकी, (ब्लेडेड टेक्नोलाजी) आदि के माध्यम से सेवाकालीन अध्यापक शिक्षकों मे नवाचारिक प्रशिक्षण की अति आवश्यकता है। जिससे उनसे संबंधित विभिन्न आवश्यकताएं पूरी की जा सकती है।

नवाचार एंव वास्तविक प्रशिक्षण को स्पष्ट करते हुए एम0वी0 माइल्स (1994) ने लिखा है ''एक नवाचार जान बूझकर किया जाने वाला नवीन विशिष्ट परिवर्तन है। जिसे किसी प्रणाली के उद्‌देश्यों को प्राप्त करने के लिए अधिक प्रभावशाली माना जाता है।''

ई0एम0 रोजर्स (1978) ने लिख है ''नवाचार एक ऐसा विचार है, जिसमे व्यक्ति नवीनता का अनुभव करता है।''

नवाचार एवं वास्तविक प्रशिक्षण के द्वारा प्रभावशाली शिक्षक छात्रों के बड़े से बड़े समूह को शिक्षित कर सकता है, इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए 'राष्ट्रीय शिक्षा अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (NCTE) ने शैक्षिक तकनीकी विभाग की स्थापना की है, जिससे उनकी शैक्षिक एवं अन्य आवश्यकताएं पूर्ण की जा सकें।

v/;;u ds mnns';&

(1). अध्यापक शिक्षकों के व्यक्तिगत दक्षता से सम्बन्धित प्रशिक्षण आवश्यकता का अध्ययन करना।

(2). अध्यापक शिक्षकों के कक्षा शिक्षण से सम्बन्धित प्रशिक्षण की आवश्यकता का अध्ययन करना।

(3). अध्यापक शिक्षकों के शोध अध्ययन दक्षता के संदर्भ में प्रशिक्षण की आवश्यकता का अध्ययन करना।

(4.) अध्यापक शिक्षकों के सेवाकलीन शिक्षा में नवाचारिक व वास्तविक प्रशिक्षण की आवश्यकता का अध्ययन करना।

(5) अन्य प्रशिक्षण दक्षता के संदर्भ में अध्यापक शिक्षकों की प्रशिक्षण आवश्यकता का अध्ययन करना।

v/;;u dk e[; fu"d"kZ& विभिन्न स्तरों पर कार्यरत् अध्यापक शिक्षकों की सेवाकालीन शिक्षा की नवाचारिक प्रशिक्षण की अति आवश्यकता है। इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने में निम्न बिन्दुओं का उपयोग किया जाना आवश्यक है।

सेवाकालीन अध्यापक शिक्षकों की व्यक्तिगत दक्षता का विकास शैक्षिक तकनीकी उपकरणों के माध्यम से प्रभावशाली एवं दृढ़ उत्तेजना पूर्ण बनाया जा सकता है।

सेवाकालीन अध्यापक शिक्षकों की कक्षा शिक्षण को प्रभावशाली एवं रूचिकर बनाने में वेबटू, आई.सी.टी, ब्लेंडेड टेक्नोलाजी, की अति आवश्यकता है।

अध्यापक शिक्षकों की सेवा के दौरान शोध कार्य में पूर्ण दक्षता के विकास में समिश्रित तकनीकी एवं नवाचारिक उपकरणों द्वारा शोध कार्य को प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

सेवारत अध्यापक शिक्षकों की नवाचारिक प्रशिक्षण के द्वारा स्मार्ट कक्षा अध्ययन एंव उत्तम शिक्षण विधि के माध्यम से कक्षा को प्रभावशाली (सर्वोपरि) बनाया जा सकता है।

नवाचारिक तकनीकी प्रशिक्षण से कार्यरत अध्यापक शिक्षकों को विभिन्न प्रकार की आवश्यताओं शिक्षण कार्य, विषय में रूचि, एंव व्यक्तिगत विकास व स्मार्ट अध्यापक का दर्जा दिया जा सकता है।

उक्त बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है कि सेवाकालीन अध्यापकों को नवाचारिक प्रशिक्षण के द्वारा उनकी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है, जैसा कि शिक्षा के सर्वागीण विकास में आधुनिक समय में नवाचार की अतिमहत्व पूर्ण आवश्यकता प्रतीत होती है।

'kf{kd fufgrkFk%& वर्तमान समय में सेवाकालीन अध्यापक शिक्षकों को नवाचारिक प्रशिक्षण से शिक्षण कार्य में प्रभावशालीनता तीव्र गति से उन्नति कि जा सकती है इस तकनीकी से अध्यापकों को अपने विषय विशेषज्ञता में निपुर्णता एवं सौम्यता देखने को मिल सकती है। आधुनिक शैक्षिक प्रगति में, वेबटू, गूगल सी. इ.ओ., आई.सी.टी., ब्लेंडेड टेक्नोलॉजी, इत्यादि के द्वारा नवाचारिक प्रशिक्षण लेकर सेवाकालीन अध्यापक शिक्षक अपने शैक्षिक क्रियाकलापों द्वारा छात्रों का सर्वांगीण विकास एवं उन्हें उचित मार्गदर्शन में उचित सलाह एवं विकास कर सकते है। जिससे शिक्षा में नवाचारिकता का उद्गम हो सकता है।

Hkkoh 'kk/k gsrq lq>ko%&

(1). शिक्षा के विकास तथा अन्य क्षेत्रों पर भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

(2). सभी विषयों पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है।

(3). ग्रामीण तथा शहरी अध्यापक शिक्षकों के समूह पर भी इसका अध्ययन किया जा सकता है।

(4). विभिन्न स्तर के अध्यापक शिक्षक नवाचारिक प्रशिक्षण द्वारा अपने ज्ञान का उद्यमगत विकास कर सकते हैं।

(5). नवाचारिक तकनीकी के द्वारा शिक्षण कार्य को सभी स्तरों पर रूचिकर एवं प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

(6). आई.सी.टी. ब्लेडेड टेक्नोलाजी तथा वेब टू, इत्यादि नवाचारिक उपकरण से अध्यापक अपने अन्य क्षेत्रों तथा भावी शोध मे गुणवत्ता लाने में भी प्रयोग कर सकते हैं।

lUnHkZ %

1. वुच (1954) द टीचर प्यूपिल रिलेशनसिप न्यूयार्कः प्रेन्टिस हाल।
2. हॉसन आर0बी0 (1960) हूज ए गुड टीचर–प्रॉबलम एण्ड प्रोग्रेस इन टीचर एवैलूएशन कैलिफोर्नियाः टीचर एशोसिएशन।
3. नेशनल पॉलिसी ऑन एजूकेशन (1986) मिनिस्ट्रल ऑफ हयूमन रिर्सोसेस डेवलपमेण्ट गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।
4. हडिडी एम. (1993) इफेक्टिवनेस ऑफ इन सर्विस ट्रेनिंग प्रोग्राम्स प्रोवाइडेड फॉर स्पेशल एजूकेशन टीचर एन जार्डन डिरास्ट वाल्यूम (20) पृ0 170–194।
5. बेनेकल बी.ए (1996): फोस्कास्टिंग नीड्स एण्ड रिर्सोस पोटेन्सियल्स फार इन सर्विस एजूकेशन।
6. एन.सी.टी.ई (2001):अध्यापक शिक्षा में नीतिगत परिदृश्य नवीन शाहदारा द्वारा मुद्रितः नई दिल्ली।

7. यादव एम.एम (2003) एन.सी.टी.ई नई दिल्ली पब्लिशर बाई नेम्बर सिक्योरिटी एन.सी.टी.ई.।
8. एन.सी.एफ (2005) (राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा) पृ0 126–129।
9. सिद्दीकी एस. (2006) नीड एण्ड सिगनिफिकेन्स ऑफ टीचर्स ट्रेनिंग एन हायर एजूकेशन पेपर प्रेजेन्टेड इन नेशनल सेमीनार ऑन प्रोफेशनल प्रिपरेशन ऑफ टीचर्स एक्ट अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अप्रैल–8.9।
10. सिंह रीना (2010) शिक्षण प्रभावशीलता में उच्च शिक्षा स्तर पर कार्यरत अध्यापक की प्रशिक्षण आवश्यकताओं का अध्ययनः अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, इ.वि.वि. शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद।

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

fganh vkSj mnwZ ds vkjafHkd miU;kl

fprjatu dqekj*

हिंदी आलोचना आज तक उपन्यास की उत्पत्ति के संबंध में एक राय नहीं बना पाई है। आज भी हमारे लिए द्वंद्व की स्थिति है कि हम उपन्यास को उपनिवेशवाद और भारतीय समाज की टकराहट से पैदा हुई विधा के रूप में देखें या इसे यूरोपीय पूंजीवाद और मध्यवर्ग की चंद सकारात्मक उपलब्धियों में से एक मान लें। या फिर पारंपरिक भारतीय आख्यान पद्धति से इसका संबंध जोड़ें? ''भारतीय उपन्यासों की जन्म गाथा आज भी 'जितनी मुँह उतनी बातें' वाली कहावत को चरितार्थ करती है। उसकी स्थिति उस प्रौढ़ व परिपक्व इंसान जैसी हो चली है, जो अपने जन्म की रहस्य कथा को सुलझाने के लिए विद्वानों और महन्तों के चक्कर लगा रहा है।''[1]

यह अकारण नहीं है कि नामवर सिंह ने अपने लेख ''अंग्रेजी ढंग का उपन्यास' में 'परीक्षागुरू' को 19वीं सदी के बांग्ला उपन्यासों की तुलना में काफी औसत और बेकार बताया है। उन्होंने किसी उपन्यास की सिर्फ इस आधार पर सराहना करना, क्योंकि वह अंग्रेजी ढंग का नॉवेल है, इस प्रवृति की निंदा भी की है। वे लिखते हैं ''कैसी विडंबना है कि उन्नसवीं शताब्दी में जब अंग्रेजी ओरिएंटलिस्ट कादम्बरी, कथा सरित सागर, पंचतंत्र जैसी भारतीय कथाओं के पीछे पागल थे, तब स्वयं भारतीय लेखक 'अंग्रेजी ढंग का 'नॉवेल' लिखने के लिए व्याकुल थे।''[2] नामवर सिंह ने अंग्रेजी ढंग के नॉवेलों को भारतीय उपन्यास के स्वाभाविक विकास में बाधक भी बताया है और जातीय स्मृतियों की रक्षा के लिहाज से उपन्यास या नॉवेल की जगह मराठी में प्रचलित शब्द 'कादम्बरी' को अपनाने की भी वकालत की है। पर सवाल यह है कि बंकिमचंद्र के जिन 'दुर्गेशनन्दिनी (1864), कपालकुंडला (1866) या मृणालिनी (1869) जैसे रोमांसधर्मी उपन्यासों को भारतीय उपन्यासों की मौलिक विकास प्रक्रिया से जोड़ा गया है, क्या उसमें यर्थाथधर्मिता का भी निर्वाह हो सकता था? भारतीय राष्ट्र और जीवन की निरंतर जटिल हो रही स्थितियों को क्या रोमांसधर्मिता प्रधान कथानक के बल पर व्यक्त किया जा सकता था?

वस्तुतः उपन्यास केवल यथार्थ की खोज और उसकी गति की पहचान का आख्यान ही नहीं है, वह नवीन सम्भावनाओं की तलाश का आख्यान भी है। उसमें वर्तमान की सीमाओं के पार जाने की आकांक्षा के कारण एक बेहतर सम्भाविक संसार की रचना की कोशिश भी होती है। इस दृष्टि से देखने पर हिंदी–उर्दू के आरंभिक उपन्यासों के संदर्भ में कुछेक महत्वपूर्ण प्रश्न भी उठते हैं– क्या हिंदी–उर्दू के आरंभिक उपन्यासकार सिर्फ यथार्थ के छवि–चित्र दे रहे थे, उपदेश दे रहे थे या उनके पास भविष्य के समाज का भी कोई नक्शा था। वस्तुतः भारत में उपन्यास का उदय तब हुआ जब वह पराधीन था। भारत की विभिन्न भाषाओं में आरंभ में अंग्रेजी के रहस्य रोमांस, जासूसी और सतही यथार्थवादी उपन्यासों की भरमार थी। ''बांग्ला, हिंदी, गुजराती व मराठी में रोनाल्ड्स के उपन्यास 'लंदन रहस्य' के अनुवादों की धूम मची हुई थी।''[3] काशीनाथ विश्वनाथ राजवाड़े ने उपन्यास पर सन् 1902 में लिखे अपने प्रसिद्ध निबंध में लिखा है कि ''भारतीय यथार्थवादी उपन्यासों का मूल स्रोत ही विदेशी नहीं है बल्कि नमूने के तौर पर जिन उपन्यासों को चुना गया, वे भी वहां के सामान्य स्तर के उपन्यास ही रहे हैं। अंग्रेजी के उपन्यासकारों में हीन स्तर के रोनाल्ड्स के घटिया उपन्यासों का आस्वादन करने वाले माई के लाल अपने यहां अधिक हैं। बहुत हुआ तो कुछ लेखकों ने रोनाल्ड्स से परे छलांग लगाई और मुश्किल से पहुंचे तो

*शोध छात्र, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

हेनरीवुड, लार्ड रीटन जैसे सामान्य लेखकों तक ही।''[4] ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि आरंभिक दौर के भारतीय उपन्यासों का स्तर बहुत उंचा न हो। फिर भी इस सन्दर्भ में एक सकारात्मक पहलू यह है कि भारतीय उपन्यास धीरे–धीरे ही सही आधुनिक मूल्यों से अपना सम्बंध स्थापित कर रहे थे। जिन पारम्परिक मूल्यों के बंधनों से उपन्यास जकड़े हुए थे वे बन्धन धीरे–धीरे ढीले हो रहे थे। भारतीय उपन्यासों की इस प्रवृत्ति के सन्दर्भ में हम निर्मल वर्मा के चर्चित लेख 'उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म' में उठाए गए सवालों से दो–चार हो सकते हैं। निर्मल वर्मा का यह प्रश्न बड़ा मानीखेज है कि 'आखिर क्यों उपन्यास का नायक और आम मनुष्य अधूरा होकर भी हमें अपना सा लगता है और दैवीय पूर्णता से भरा महाकाव्यात्मक मनुष्य हमें प्रिय होते हुए भी दूर देश का लगता है।'

हिन्दी उपन्यासों का आरम्भ 1870 ई॰ के आस–पास हुआ। उस समय ''हिन्दी में पाठक नहीं के बराबर थे। पुरुषों की साक्षरता दर 11.4'' और स्त्रियों की 0.5'' थी। इसके अलावा स्कूली और कॉलेजी शिक्षा में हिन्दी का स्थान नगण्य था। उस समय का पढ़ा–लिखा आदमी अंग्रेजी और उर्दू का जानकार समझा जाता था, हिन्दी का नहीं। हिन्दी गँवारों की भाषा समझी जाती थी। कचहरियों और सरकारी संस्थाओं में अंग्रेजी और उर्दू का एकाधिकार था, अतः हिन्दी पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। अधिकतर पढ़े–लिखे लोग नागरी अक्षरों तक की जानकारी नहीं रखते थे। हिन्दी जानने वालों, बोलने वालों का अभाव था।''[5] यह हिन्दी का कृष्ण पक्ष था, शुक्ल पक्ष यह था कि बावजूद इन चीजों के बिहार से लेकर पंजाब तक हिन्दी अपने विविध रूपों में जनता की मातृभाषा और व्यवहार भाषा थी। देवकीनंदन खत्री की विशेषता इसी कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उन्होंने इस विशाल क्षेत्र से भारी संख्या में हिन्दी में 'श्रोताओं' और 'वक्ताओं' को 'पाठकों' में बदल दिया। खत्री जी ने अकारण ही ऐसी कथाओं का निर्माण नहीं किया जिसमें अपढ़ से लेकर खूब पढ़े–लिखे व्यक्तियों तक की समान रूप से रूचि थी। वस्तुतः आरंभिक हिन्दी उपन्यासकारों के सामने दोतरफा चुनौती थी। एक तो उन्हें ऐसी सरल भाषा में कथाएँ लिखनी थी जिसे समझने के लिए किसी विशेष स्कूली ज्ञान की जरूरत न हो, दूसरे उन्हें तात्कालीन पारम्परिक समाज के अहं को भी संतुष्ट करना था। ताकि लोग उपन्यास की किसी बात को पढ़कर नाक–भौं न सिकोड़े। जो लोग आरंभिक हिन्दी उपन्यासों में आधुनिकता के अभाव की चर्चा करते हैं, उन्हें ये ध्यान रखना चाहिए तात्कालीन परिस्थितियों में ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

कई हिन्दी उपन्यासकारों के लिए उपन्यास उनके जातीय अहं की तुष्टि का भी माध्यम बना। ऐतिहासिक रोमांस की परम्परा के उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास तो गौण है ही, कहीं–कहीं उन्होंने इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं को भी बिल्कुल उलट दिया है। उदाहरणार्थः ''इतिहास ग्रन्थों के अनुसार राजपूत राजाओं ने अपनी कन्याओं का विवाह मुसलमान बादशाहों से किया था। गोस्वामी जी ने इस तथ्य का प्रत्याख्यान किया है। 'हीराबाई वा बेहयाई का बारेका (1904)' में गोस्वामी जी ने सिद्ध किया है कि कमला देवी के नाम पर हीराबाई नाम की मुसलमान युवती अल्लाउद्दीन के पास भेज दी गई और उसका विवाह उससे हो गया।''[6] हम समझ सकते हैं कि तात्कालीन समाज में जातीय अहं की तुष्टि का जो सामान्य भाव था, आरंभिक उपन्यासकार उस दबाव से मुक्त नहीं हो पा रहे थे। इसी दबाव के कारण उपन्यास जैसी यथार्थवादी विधा में भी वे आख्यान का तत्व मिला रहे थे। हालांकि मामला इतना निराशाजनक और अंधकारमय भी नहीं है। यही किशोरीलाल गोस्वामी अपने उपन्यास 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी (1889)' में देवदासी प्रथा और वेश्यागमन की तथा 'चंपला वा नव्य समाज चित्र (1903)' उपन्यास में ज्योतिष सम्बंधी अंधविश्वासों की कटु आलोचना कर रहे थे। यानी एक ही उपन्यासकार एक ही समय में पारम्परिक और आधुनिक दोनों दृष्टियों के साथ चल रहा था। आधुनिकता और यथार्थ के सन्दर्भ में जिस उपन्यासकार का जिक्र हम गंभीरता से कर सकते है– वह हैं भुवनेश्वर मिश्र। उन्होंने दो उपन्यासों की रचना की– 'घराउं घटना (1893)' और 'बलवन्त भूमिहार (1901)'। ''घराउ घटना' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जिसमें मध्यवर्ग के एक सामान्य गृहस्थ के दैनिक जीवन का यथार्थ और सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किया गया है।''[7] जबकि 'चन्द्रकांता' उपन्यास अपने कौतूहलपन और ऐयारी के किस्सों से पाठकों को 'लखलखा' सूंघा कर मदहोश कर रहा था, उसी समय

भुवनेश्वर मिश्र अपने उपन्यास 'बलवन्त भूमिहार' में कौतूहलोत्पादक घटनाओं से रहित कथा के माध्यम से उत्तरी बिहार के जमींदारों के पारिवारिक, सामाजिक तथ्य जमींदारी विषयक परिस्थितियों का यथार्थ और स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत कर रहे थे। दुर्भाग्यवश इन उपन्यासों पर हिन्दी आलोचकों की गंभीर दृष्टि नहीं पड़ी। हिन्दी उपन्यास को यथार्थ से जोड़ने में मेहता लज्जाराम शर्मा ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मेहता जी की भूमिका इस लिहाज से महत्वपूर्ण है कि उन्होंने अपने उपन्यासों को रोचक बनाने के लिए कहीं भी तिलस्मी, ऐयारी और अलौकिक कार्यों का सहारा नहीं लिया। यह दूसरी बात है कि लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरू' की तरह जगह–जगह उपदेश देने का मोह वे नहीं छोड़ पाए हैं।

हिन्दी की तुलना में उर्दू गद्य के विकास की परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल थी। ''फोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी के प्रोफेसर गिलक्राइस्ट उर्दू की ओर विशेष रूप से झुके हुए थे बाद में 1837 में उर्दू के अदालती भाषा हो जाने की वजह से हिन्दू भी रोजगार के लिए उर्दू पढ़ने लगे। 1801 ई॰ में मीर अम्मान कृत 'बागोबहार' फोर्ट विलियम कॉलेज के तत्वावधान में प्रकाशित हो चुकी थी और उर्दू गद्य कथा के विकास की दृष्टि से रजब अली बेग 'सरूर' कृत 'फसाना–ए–अजायब' जैसी महत्वपूर्ण कृति कई खण्डों में 1838–1842 तक प्रकाशित हुई। इस समय तक हिन्दी गद्य के पास अपना कहने के लिए कुछ भी नहीं था।'[8]

आरंभिक उर्दू उपन्यासों का सूत्र दास्तानगोई की परम्परा से जुड़ता है। इसके लक्षण नजीर अहमद (1856–1912) की रचनाओं में दिखायी पड़ते हैं। नजीर अहमद ने 'उपन्यास' के रूप में अपनी रचना नहीं लिखी। उन्होंने लड़के–लड़कियों को शिक्षा देने के उद्देश्य से कथा पुस्तकों की रचना की। जैसा कि हिन्दी में आरंभिक उपन्यासकार कर रहे थे। नजीर अहमद की पहली रचना 'मिरातउल उरूस' (वधू दर्पण) है जो 1869 में लिखी गई। इसे लिखते समय लेखक के मन में इसके प्रकाशन की बात भी नहीं आई थी, उपन्यास के रूप में लिखने की बात तो दूर रही। उर्दू के दूसरे महत्वपूर्ण रचनाकार रतननाथ सरशार की महत्वपूर्ण रचना 'फसाना–ए–आजाद' अपने शिल्प में किस्सागोई होने के कारण आरंभिक हिन्दी उपन्यासों के निकट ही है।

आरंभिक हिन्दी उपन्यासकार लाला श्रीनिवास दास जिस प्रकार अपने उपन्यास 'परीक्षागुरू' को 'नई चाल की पुस्तक' बता रहे थे वैसा ही कुछ दावा उर्दू उपन्यास में अब्दुल हलीम शरर (1860–1926) भी कर रहे थे। 'शरर' हिन्दी के किशोरीलाल गोस्वामी की तरह ही उर्दू के ऐतिहासिक रोमांस के कथाकार थे। उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में जोर देकर 'नई रोशनी' की वकालत की है। अगर हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकार किशोरी लाल गोस्वामी हिदू जाति के अहं को तुष्ट करने वाली कथा का निर्माण कर रहे थे, तो उर्दू में यही काम 'अब्दुल हलीम शरर' कर रहे थे। शरर के समस्त ऐतिहासिक रोमांस प्रधान उपन्यासों में इस्लाम के गौरवशाली अतीत का चित्रण हुआ है। ईसाई पात्र उनके उपन्यासों में लम्पटता का पर्याय है और गिरजाघर व्यभिचार व षड्यंत्र के अड्डे। देखने वाली बात यह है कि इसी काल में 'उमराव जान अदा' (1899) जैसा ठोस यथार्थवादी उपन्यास उर्दू में लिखा जा रहा था। कहना ना होगा कि हिन्दी और उर्दू के आरंभिक उपन्यास अलग–अलग भाषाओं में लिखे जाने के बावजूद एक ही प्रवृत्ति से संचालित हो रहे थे। इस संदर्भ में हम 'परीक्षा गुरू' और 'मिर्जा हादि रूसवा' के उपन्यास 'जात ए शरीफ' की भी तुलना कर सकते हैं। 'परीक्षा गुरू' के मदन मोहन की तरह ही 'जात–ए–शरीफ' का केन्द्रीय पात्र लखनउ के अभिजात्य वर्ग का सदस्य है जो अपनी गलत आदतों के कारण ही अंततः मदन मोहन की तरह बर्बादी के कगार पर पहुंच जाता है। वस्तुतः हिन्दी–उर्दू समाज भूगोल के स्तर पर एक ही है। ऐसे में इन दोनों भाषाओं में आरंभिक भाषाओं की प्रवृत्तियों का टकरा जाना सहज ही है। इस बात की पुष्टि के लिए आरंभिक पंजाबी उपन्यासों का भी उदाहरण दिया जा सकता है। यह अकारण नहीं है कि आरंभिक पंजाबी उपन्यासों पर हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों की स्पष्ट छाप है। पंजाबी उपन्यास 'दम्पत्ति प्यार' के लेखक ने उपन्यास की भूमिका में 'मेहता लज्जाराम शर्मा' के 'आदर्श दम्पत्ति' के आधार पर स्वतंत्र अनुवाद को स्वीकार किया है। 'सुखदेव कौर' पर भी 'परीक्षा गुरू' की स्पष्ट छाप है। अगर आरंभिक हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासों से प्रेरणा पा रहे थे, तो कई ऐसी भारतीय भाषायें भी थीं जो परस्पर एक–दूसरे को प्रभावित कर रही थीं। औपनिवेशिक शासन से त्रस्त भारतीय समाज के उपन्यासकारों की चिन्ताऐं एक जैसी होनी स्वभाविक भी थी।

SCOPE AND OBJECTIVE ¼{k= ,o mnn';½ %

'उपन्यास' शीर्षक के अंतर्गत हिन्दी–उर्दू के जिन कथा पुस्तकों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत जा रहा है वे सभी 'उपन्यास' की समस्त विशेषताओं से आज की तरह युक्त नहीं है। ''वास्तविकता यह है कि इन शताधिक कथापुस्तकों में से इनी– गिनी' पुस्तकें ही 'उपन्यास' संज्ञा की अधिकारिणी है। अधिकतर उपन्यासों में अनौपन्यासिक तत्वों की जैसे रूमानियत की, नीति की, उपदेश की प्रधानता है। फिर भी इन कथा पुस्तकों के लिए 'उपन्यास' पद का प्रयोग इस कारण किया गया है कि इनमें किसी न किसी अंश में, और किसी न किसी रूप में यथार्थ जीवन का चित्र अवश्य सामने आता है।''

सभी भारतीय भाषाओं के आरंभिक दौर के उपन्यास अपने सामाजिक लक्ष्यों, राष्ट्रवाद संबंधी चेतना, तथा पुराने पारम्परिक वर्गों के पतन तथा नये उभरते वर्ग की चिन्ताओं को जानने के लिए उपयोगी समझे जाते हैं। भारतीय भाषाओं के आरंभिक उपन्यास भी राष्ट्रीय नवजागरण व सामाजिक प्रगति की आकांक्षाओं के विविध रूपों को प्रतिबिम्बित करते हैं। भारत में जो दौर मध्य वर्ग और राष्ट्रीय चेतना के गठन का है, वही दौर उपन्यास विधा के विकास का भी है। प्रायः इसी कारण उपन्यास को राष्ट्रीय आख्यान के रूप में भी पढ़ा जाता है। यह अकारण नहीं है कि आरंभिक भारतीय भाषाओं का मूल स्वर मोटे तौर पर एक है। शिक्षा के प्रति आग्रह, समाज सुधार, नारी शिक्षा जैसे मुद्दे अधिकांश उपन्यासों के केन्द्र में है। मीनाक्षी मुखर्जी ने अपनी किताब 'रियलिज्म एंड रियलिटी' में इस समानता के पीछे देश भर में पौराणिक साहित्य की उपस्थिति, अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव तथा नगरीय व्यवस्था के विकास जैसे कारकों को महत्वपूर्ण बताया है। हिन्दी उर्दू समेत सभी भारतीय उपन्यासों की नियति एक विशेष किस्म के संकट से जुड़ी थी। यह एक ऐसा सकट था जिससे यूरोप के उपन्यासकार परिचित न थे और वह संकट था– गुलामी के रास्ते से आधुनिकता तक पहुंचने का संकट।

हम सब लम्बे समय से उपन्यास जैसी सशक्त विधा के जन्म की तारीख तय करने के प्रयास में ही लगे हुये हैं या फिर उसके बारे में कथात्मक परिचय वाली सूचियाँ बनाने में लगे रहते हैं। अधिक से अधिक हुआ तो उन्हें तात्कालीन सुधारवादी आंदोलनों के साहित्यिक रूपों में पढ़ने लग जाते हैं। पर सवाल आरंभिक उपन्यासों में व्यक्त मूल्यों, चिंताओं और सामाजिक जटिलताओं को खंगाल कर सामने लाने का भी है।

हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के आरंभिक उपन्यासों में स्त्री शिक्षा के लिए सहानुभूति तो थी पर वे स्त्री की वैयक्तिता को स्वीकारने के लिए तैयार न थे। स्त्री–पुरूष के बीच उन्मुक्त व स्वच्छंद प्रेम की दबी हुई लालसा तो थी, पर यूरोपीय उपन्यासों की तुलना में उन्हें उपन्यासों और कथाओं में व्यक्त करने में अनगिनत मर्यादागत संकोच थे। पुराने 'एपीक' व कथा–शैलियों से उपन्यास पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हो पा रहे थे, बल्कि उन्हीं के आधार पर कई पारंपरिक मर्यादाओं में रहने की नैतिकता का परिचय दे रहे थे। हम कह सकते हैं कि जब हिन्दी और उर्दू उपन्यास जन्म ले रहा था, तब उत्तर भारतीय शिक्षित समाज आधुनिकता से अपनी सहुलीयतों के हिसाब से रिश्ता कायम करने की चेष्टाएँ कर रहा था। ''वह जिन पश्चिम मूल्यों से परिचय को आधुनिकता के पथ पर चलने के अवसर के रूप में देख रहा था, उन्हीं मूल्यों से उसकी परंपराएँ गहरा द्वन्द्व कर रही थी।''

वस्तुतः आधुनिक मूल्यों व पारंपरिक समाज के रूढ़िवादी मूल्यों के बीच हिंदी–उर्दू के आरंभिक उपन्यासकार निंरतर डूब उतरा रहे थे। इस संदर्भ में हम हिन्दी–उर्दू के अलावा बांग्ला के आरंभिक उपन्यासकार बंकिमचन्द्र के संदर्भ में अंग्रेजी आलोचक मीनाक्षी मुखर्जी की इस धारणा से भी सहमत हो सकते हैं कि समाज की कट्टरता व बंधनों के कारण जिस उन्मुक्त प्रेम भावना व रोमांस को यथार्थवादी ढंग से उपन्यासकार व्यक्त नहीं कर पा रहा था, उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसने ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांटिक प्रेम की कथावस्तु को प्रमुखता प्रदान की।

भारतीय उपन्यास हो या हिन्दी–उर्दू के आरंभिक उपन्यास, सभी में अंग्रेजी उपन्यासों के भव्य व्यक्तिवाद की तुलना में आधुनिकता को सीमिति रूप में ही स्वीकार किया गया है। हिंदी के आरंभिक उपन्यास खास तौर से 'देवरानी जेठानी की कहानी' (पं. गोरीदत्त– 1870) और भाग्यवती (श्रद्धाराम फिल्लौरी–1877) को नजीर अहमद उर्दू उपन्यास 'मिरातुल उरूस' के साथ मिलाकर पढ़ा जाता। मोटे तौर

पर यह मान लिया गया है कि इन तीनों ही कृतियों का उद्देश्य स्त्री शिक्षा के महत्व की स्थापना करना है ताकि लोग घर की स्त्रियों की पारंपरिक अशिक्षा को दूर कर उन्हें शिक्षित बनाने पर ध्यान दें। पर बात इतनी सीधी और एकरेखीय नहीं है।

स्त्री शिक्षा का मुद्‌दा ऐसे शिक्षित पुरुष वर्ग के बीच से निकल कर आया था जो बंगाल से लेकर पंजाब तक नए स्कूल–कॉलेज, मदरसों या घर में अनौपचारिक पढ़ाई के जरिए शिक्षा का प्रसार करते हुए स्त्रियों के नए व्यक्तित्व की रूपरेखा खींच रहा था। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने अपने उपन्यास 'भाग्यवती' की भूमिका में ही लिखा है– ''बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिंदी भाषा में लिखूं जिसे पढ़ने से भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी–लिखी तो होती हैं परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको, देश–विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से बात–व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती है।'' यानी स्त्री को घर से बाहर निकलने की छूट देने के लिए सुधारक अब भी नहीं तैयार थे। वे बस इतना चाहते थे कि वह घर के बाहर के संसार से परिचित भर हो जाए। परिचित भी उन्हीं चीजों और सीमाओं तक हो जहां तक पुरूष चाहते हैं। ''इस दौर में भारतीय स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हुए लेखक उनको भारतीय संस्कृति की विशिष्टता के प्रतीक के रूप में ढालते हुए 'पश्चिमी मेमसाहबों' की आलोचना करते थे। पर वे यह नहीं समझ पाते थे कि खुद यूरोप में स्त्रियों की दशा इससे बहुत अलग नहीं थी। वहां भी स्त्री–पुरूष का सामाजिक कार्यों और व्यक्तित्व के आधार पर कड़ा लैंगिक विभाजन था। 19वीं सदी के यूरापे में स्त्री–पुरूष के रिश्तों पर विचार करते हुए उते फ्रेंवर्ट ने लिखा था– ''बुजुर्ग माहौल होने के बावजूद वहां स्त्री पर ही जिम्मेदारी थी कि वह मध्यवर्गीय मूल्यों की रक्षा करे और सौंदर्य, प्रेम व वफादारी जैसे समस्त प्राकृतिक गुणों से पुरूषों को आनंद पहुंचाए।''

ऐसी समानता हिन्दी, उर्दू और गुजराती उपन्यासों में आसानी से देखी जा सकती है। कई उपन्यासों में तो चरित्रों का दोहराव होने लगता है। 'मिरातुल अरूस' की 'असगरी और अकबरी', 'वामाशिक्षक' की बड़ी बहू और छोटी बहू तक। 'देवरानी जेठानी की कहानी' की देवरानी और जेठानी जैसे पात्रों की रचना एक ही उद्देश्य व शैली में की गई है। एक बुरी है तो दूसरी अच्छी। पढ़ी–लिखी घर के काम में होशियार है तो अनपढ़ घर के कामों में मूर्ख। पर स्त्री कितनी भी शिक्षित व गुणवान हो जाये, उपन्यासकार ने उसे घर की चारदीवारी में ही कैद रखा। 'सरस्वतीचन्द्र' जैसे गुजराती उपन्यास में भी प्रायः घर के बाहर स्त्री को शिक्षा प्राप्त करते हुये नहीं दिखाया गया है।

हिन्दी और उर्दू के आरंभिक गद्यकारों की तरह उड़िया के गद्यकार भी युवकों और युवतियों को शिक्षित करने के लिए गद्य कथा लिख रहे थे। 'फकीर मोहन सेनापति' (1843–1918) के पूर्व उड़ीया में गद्य न के बराबर था। स्कूलों में पढ़ाये जाने के लिए उड़ीया में पाठ्य–पुस्तकें तक न थी। महत्वपूर्ण तथ्य है कि अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'छमाण आठ गुंठ' (1897) से पहले फकीर मोहन सेनापति ''एक राजकुमार का इतिहास'' नामक एक गद्य कथा लिख चुके थे। हिन्दी, उर्दू और अन्य भारतीय भाषाओं के आरंभिक लेखकों के सामने गद्य का निर्माण करने व अपने पाठकों को शिक्षित करने के दोहरे दायित्व थे।

lUnHk %

1. भारतीय उपन्यास और आधुनिकता– वैभव सिंह, आधार प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ 9
2. वहीं, पृष्ठ 10
3. संकलित निबंध : मैनेजर पाण्डेय, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहला संस्करण, 2008, पृष्ठ 99
4. उपरोक्त, पृष्ठ 99
5. हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास (नवम् भाग) संपादक : सुधाकर सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2034, पृष्ठ 107
6. वहीं, पृष्ठ 115
7. वहीं, पृष्ठ 121
8. भारतीय उपन्यास की दिशाएँ, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012, पृष्ठ 19

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

vdiYkk iYkk'k % vk/kqfud L=h thou

fnui'k iky*

एक ऐसी दुनिया, जिसमें स्त्री–पुरूष के अधिकार समान हों, इसलिए 'स्त्री विमर्श' आजकल बहुत जोर–शोर से समाज के बौद्धिक वर्ग में चल रहा है। पुरूष समाज पहले स्त्री को घर से बाहर निकलने के लिए तो कहता है, लेकिन वह अपनी पुरूषवादी जकड़न से बिल्कुल बाहर नहीं निकलना चाहता है। वह घर, परिवार और दफ्तर में आज भी उसे सिर्फ भोगना ही चहता है, ऐसे ही समय में इन सवालों से दो–चार होती हैं आधुनिक लेखिका 'श्रीमती मेहरून्निसा परवेज़'। 'अकेला पलाश' इनका चौथा महत्वपूर्ण उपन्यास है, जो बेमेल विवाह से उपजी नारी–जीवन की कारूण्यपूर्ण गाथा है। इसमें केन्द्रीय पात्र 'तहमीना दुर्राज' नाम की स्त्री है, जो बचपन में ही अपने पिता के दोस्त 'जमशेद' के हवश का शिकार होती है और माँ द्वारा सिक्के की तरह प्रयोग की जाती है।

हिन्दी जगत् की प्रखर स्त्री चिंतक 'महादेवी वर्मा' का मानना है कि– ''समाज की दो आधार–शिलाएँ हैं, अर्थ का विभाजन और स्त्री–पुरूष का सम्बन्ध।''[1] इसी के इर्द–गिर्द चक्कर काटती है–तहमीना।उसका बचपन बड़े ही तंगहाली में गुजरता है। उसकी माँ और पिता हमेशा किसी न किसी बात को लेकर झगड़ते रहते थे, जिसे देखकर वह सहमीसी रहती थी। यही नहीं बाप उसका पियक्कड़ किस्म का औरतबाज व्यक्ति था, जो घर में हमेशा मार–पीट पर उतारू रहता था। इसी वाकया को याद करते हुए तहमीना कहती है– ''पिता की आँख जो हमेशा हवस के खुमार लाल और चढ़ी रहती, और माँ के शरीर पर पड़े नीले–नीले ओले के निशान जो उसे सिहरा जाते.....। वह स्कूल में रहती तो घर में हो रहे कांड से घबराहट होती, घर में होती तो अपने को बस रोता हुआ ही पाती।''[2] यही उसका बचपन था। माँ को हमेशा यह डर सताये रहती थी कि कहीं उसके बाप की बुरी नजर उसकी बेटी 'तहमीना' पर न पड़ जाये, इसलिए उसकी शादी लगभग उसके बाप के उम्र के व्यक्ति से करा देती है, जिसे 'तहमीना' बिल्कुल नहीं पसन्द करती थी, परन्तु माँ के दबाव में उसे यह शादी करनी पड़ती है। 'जमशेद' और 'तहमीना' के बीच उम्र का इतना बड़ा फासला होता है, जिसे 'तहमीना' सहन नहीं कर पाती और एकदिन बोल देती है– ''देखो, तुम मेरे शरीर के साथ जो खिलवाड़ करते हो, मेरे शरीर के इच्छाओं को जगा देते हो और उन इच्छाओं की मांग को तुम पूरा नहीं कर सकते, तब तुम मेरे पास आते क्यों हो? इससे तो अच्छा है तुम मेरे पास आया ही न करो''[3] इस तरह 'जमशेद' और 'तहमीना' समाज की नजर में पति–पत्नी तो थे, परन्तु वास्तविक जीवन में दोनों के बीच बहुत दूरियाँ थी, फिर भी 'जमशेद' तानाशाह पति की तरह 'तहमीना' को विपुल जैसे मुह बोले भाई को घर बुलाकर बात करने से मना करता है, जो कि उससे उम्र में ज्यादा छोटा है। शायद यही वजह है कि आगे चलकर वह, 'तुषार' की ओर झुक जाती है। 'सीमोन द बोउवार' कहती है कि ''स्त्री के प्रेम निहित रूमानियत और वायवीयता का लाभ उठाकर सामंती पति पत्नी को संतुष्ट करने में सर्वथा असमर्थ होने के बावजूद तानाशाह संरक्षक बन गया। अतः स्वाभाविक था कि स्त्री विवाहेत्तर प्रेम से जीवन में संतुष्टि खोजे।''[4] यहाँ 'तंहमीना' के लिए यह कथन सही साबित होता है। उसी दरम्यान तहमीना के जीवन में एक नया मोड़ आता है, जब वह ऑफिस के टाइपराइटर की चोरी के केस में एस.पी. 'तुषार पंकज' से मिलती है, जिससे धीरे–धीरे प्रगाढ़ सम्बन्ध बनता चला जाता है। 'तहमीना' इसे लेकर द्वन्द्व में रहती है। एक तरफ तुषार को जी–जान से चाहने लगती है तो दूसरी

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

तरफ जमशेद को पता न चल जाये इसका भय भी बना रहता है। वह पढ़ी–लिखी होने का बावजूद भी इस सामाजिक बन्धनों को नहीं नकार पाती है, बल्कि उसी के तहत घुट–घुट कर जीती है और दूसरों को उपेदश भी देती है। इसी सन्दर्भ में 'भारतीय हिन्दी उपन्यासों के आईनें में' 'नामदेव जी' लिखते है– ''शिक्षित मध्यवर्ग की एक सामान्य विशेषता रही है, वह अपनी अनेक आन्तरिक कमजोरियों के बावजूद बौद्धिक रूप से प्रखर होता है। उसकी बौद्धिक चेतना में राष्ट्र व समाज के प्रश्न मुख्य रूप से समाहित रहते हैं। वह अनेक अभावों में रहते हुए भी समाज को दिशा–निर्देश देता है।''[5] तहमीना भी जहाँ अपने रिश्ते को लेकर खुद इतना बेवश और लाचार है वही 'रजिया' और 'दुलारीबाई' के रिश्ते को लेकर उन्हें समझाते हुए सतर्क करती हैं–''छाया के लिए ऐसे पेड़ के नीचे पनाह लो जो तुम्हें वास्तव में छाया दे सके।''[6]

भारतीय समाज में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कई बदलाव आए। नए सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप भारतीय नारी पुराने परिवेश से अलग एक नए परिवेश में प्रवृत्त हुई, जिसमें एक नई व्यक्तिवादी दृष्टि का उदय हुआ और सापेक्षिक स्वतंत्रता मिली, लेकिन यह सामाजिक परिवर्तन व्यापक पैमाने पर क्रान्तिकारी परिवर्तन का परिणाम न होकर एक हद तक आरोपित रहा। इसी का परिणाम है कि 'तहमीना' जैसी पढ़ी–लिखी स्त्री अकेले और एकाकीपन का यंत्रणा झेलती है और उस नये परिवार या निकट आत्मीय सम्बन्धों से कट कर रहा जाती है, जो आगे चलकर सम्बन्धों के तलाश में वह खुद अपने–आप में नितांत अकेली पड़ जाती है। 'तुषार' के छोड़ देने के बाद 'तहमीना' का जीवन नितांत अकेलेपन का पर्याय बन जाता है, जिसे वह आजीवन भोगती है।

नौकरी करने पर नारी आर्थिक रूप से स्वावलंबी तो बनी साथ ही कई परेशानियाँ भी खड़ी हो गयी। मानसिक द्वंद्वों की असह्य यातना भी झेलनी पड़ी। तहमीना के ऑफिस से आते ही बेटा रिंकू की देखभाल करना, दूध पिलाना, सुलाना, जमशेद के लिए अच्छा खाना बनाना रोज का काम है। वह चाहे–जितना भी क्यों न थकी हो इसका कोई फर्क नहीं पड़ता। वह कहती है ''खाना बनाना तो अपनी किस्मत में लिखा लाये हैं, वह कहाँ छूटने वाला'' आगे वह प्रश्न भी करती है, ''क्या घर की रखवाली और खाना बनाने के लिए ही औरते हैं?''[7] एक ओर नारियाँ नौकरी करती हैं तो दूसरी ओर घर भी सम्भालती हैं, फलतः पारिवारिक भूमिका निभाने का दोहरा भार उठाती है तथा भार ढोने में असमर्थ होती नारी को, बिगड़ते पारिवारिक दांपत्य रिश्तों से उत्पन्न तनाव को अकेले झेलना पड़ता है। इस पूरे उपन्यास में स्त्री को ही सब अकेले सहना पड़ता है, पारिवारिक संत्रास न तुषार को झेलना पड़ता है और न ही अग्रवाल को। तुषार भले ही यह कहता है कि हमारे घर में दो जवान बहने हैं जिनकी शादी करनी है, बूढ़े पिता जी हैं उनकी भी देख–भाल मेरे ही जिम्मे है, पर वह कभी भी इन सब के लिए चिन्तित नहीं दिखता बजाय वह दिन भर अपने मित्र अजय के घर पर ही बैठा मिलता है। तहमीना की कजिन डॉ0 नाहिद बाजी की भी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। भले ही वह खुद डाक्टर है। उसे भी अपने मर्जी से अपनी ही शादी के लिए उसके अब्बा इज़ाज़त नहीं देते हैं। जब वह मिस्टर अग्रवाल से कोर्ट मैरिज़ करने के लिए घर से निकलती हुई कहती है ''मुझे मेरा सामान ले जाने दो अब्बा.....''[8] तो उसके अब्बा उसे अपना ही सामान नहीं ले जाने देना चाहते हैं, जबकि वे और गुस्से में आ कर कहते हैं–''तुम्हें जाना है ऐसे ही जाओ पर याद रखो अब तुम हमारे लिए मर चुकी हो''[9] यहाँ सारा का सारा दुःख 'नाहिद बाजी' को अकेले झेलना पड़ता है 'नाहिद' के जबरदस्ती चले आने पर 'मिस्टर अग्रवाल' बड़े ही शान्त लहजे में कह देता है– 'देखो नाहिद अगर तुम्हें दुःख हो रहा हो तो अभी भी लौट सकती हो''[10] जबकि अग्रवाल को यह पता है कि 'नाहिद' मेरे ही बच्चे की माँ बनने वाली है।

स्त्रियों की पीड़ा का अन्त यहीं नहीं हो जाता। 'नाहिद' जब ससुराल में होती है तो उसकी सास दिन–रात ताने देती रहती है। 'नाहिद' एक आम भारतीय परिवार की स्त्री की भांति बिना कुछ जवाब दिये सब सुनती और सहती है। अकेले जिंदगी काटने वाली नाहिद बाजी, स्वच्छन्द विचारों वाली ससुराल में आने के बाद से गुम–सुम सी हो गयी। वह बुझे हुए शब्दों में एक जगह कहती है ''तहमीना मैं धोखा खा गयी... सपने इतने जल्दी झूठे हो जाते हैं मैंने नहीं जाना था''[11]यह रह उस स्त्री की गाथा है जो छुटपन में चिड़ियों–सी पंख फैलाए इधर–उधर फुदकती रहती है, प्रेम में हसीन ख्वाबों में हिडोले–सी झूलती है,

वही शादी होने पर सबका सब उलट जाता है और रह जाती है बस मायूस–सी जिन्दगी जिसे ढ़ोने में चालीस–पैंतालीस के बाद ही बुढ़ी और थकी हारी–सी लगने लगती है।

इस उपन्यास की लगभग सभी स्त्री पात्र 'तहमीना दुर्राज', डॉ0 नाहिद बाजी, 'रजिया', दुलाईबाई, 'विमला', 'मीनाक्षी' आदि घर की देहरी पार करती है, सिर्फ पार ही नहीं करती, अपितु पुरूष के समानान्तर काम भी करती है और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर भी है परन्तु उन्हें उस सम्मान का हक नहीं है जो 'जमशेद' और 'तुषार' को प्राप्त है। इस सन्दर्भ में 'डॉ0 रोहनी अग्रवाल' का यह कथन महत्वपूर्ण लगता है– ''भारतीय नवजागरण की भांति राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन स्त्री की आवश्यकता को पहचाना है, उसकी दुर्दशा पर जोर–जोर रोते हुए सैद्धान्तिक तौर पर उसकी मनुष्यता को तत्परता पूर्वक स्वीकारने लगा है, किन्तु उसे 'मनुष्य' का दर्जा देने को तैयान नहीं।''[12] 'मनुष्यता' की यह दर्जा पढ़ा–लिखा एस. पी. मिस्टर तुषार भी नहीं दे पाता। 'तहमीना' के साथ अपनी शारीरिक भूख मिटा के उसे पारम्परिक बड़े बुजुर्गों की भांति दुनियादारी की पाठ पढ़ाने लगता है, वह कहता है– ''नारी की इज्जत काँच की तरह होती है''[13] उसे इस बात का ख्याल पहले नहीं था, पहले तब तहमीना मना करती हुई कहती है ''यह पाप होगा तुषार तुम मुझसे पाप करवाना चाहते हो?''[14] तब वह उसे लम्बी चौड़ी फिलॉसफी दे बैठता है, वह कहता है– ''पाप वगैरह कुछ नहीं है दुनियाँ में जो मन को अच्छा लगता है न वही पुण्य है ओर जो अच्छा नहीं लगता वह पाप है।''[15] सच तो यह है कि उसने कभी 'तहमीना' के इज्जत की बात सांची ही नहीं। शहर में जब उसके रिश्ते की चर्चाएँ चलने लगती हैं, तो वह अपनी बदनामी के डर से 'तहमीना' से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है और उससे हमेशा बचते रहता है।

'सीमोन द बोउवार' के अनुसार–''पुरूष प्रधान समाज में पुरूष को माफ करने की अपेक्षा औरत को दोष देना ज्यादा आसान है।''[16] संभवतः इसलिए पुरूष हमेशा से स्त्रियों को छलते आया है। वह स्त्रियों को इतने जल्दबाजी में नंगा कर देना चाहता है, उसके रूप–सौन्दर्य पर इतना जल्दी मुग्ध हो जाता है कि वही फिर उतनी ही तेजी से मुख भी मोड़ लेता है। यही काम 'तुषार' ने 'तहमीना' के साथ किया। उपन्यास की लगभग सभी स्त्री पात्र घर से बाहर काम करती है पर वे वहाँ भी पुरूषों की वासना–भरी नजरों से बच नहीं पाती हैं। एक तरफ 'रजिया' के साथ 'विनोद' खेल–खेल रहा है तो दूसरी तरफ 'दुलाई बायी' के सथ ग्राम सेवक। ऑफिस का बाबू भी इस कारनामें में पीछे नहीं, वह एक स्त्री के साथ रहा और उसके गर्भ में बच्चा आ जाने से उसे उल्टी–सीधी दवा देकर मार डालता है। 'विमला' जो एक लड़के के धोखे में आकर घर छोड़ देती है, अन्त में वह लड़का भी छोड़ देता है। घर वाले उसे दोबारा परविार में रखने से इन्कार कर देते हैं अन्तोगत्वा वह साधुओं के साथ आश्रम में शरण लेती है, किन्तु आश्रमों में अन्य स्त्रियों की दशा देखकर वह वहाँ से भी भाग जाती है। अन्त में स्वामी नामक व्यक्ति के सम्पर्क में आती है, जो 'विमला' का मानसिक शोषण करता है।। नीची जाति की सहायिका जब अपने मकान मालिक के चंगुल में नहीं फँसती तो उसे वह परेशान करता है और कमरा खाली करने के लिए मजबूर करता हैं। यही नहीं अस्पतालों में भी यही दशा है। डॉ. खान पहले डॉ. नाहिद बाजी के पीछे पड़ता है वहाँ दाल न गलने पर नयी–नयी आयी हुई नर्स के पीछे पड़ जाता है। एक दिन नाइट ड्यूटि में उसके साथ छेड़खानी भी कर देता है। लड़की के शोर मचाने पर आस–पास के कमरों के लोग इकट्ठा हो जाते हैं और अन्त में लड़की को चेतावनी देकर मामले को रफा–दफा करवाते हैं। यहाँ गलती डॉ. खान की होते हुए भी लड़की को कसूरवार मान लिया जाता है। स्त्री चाहे पढ़ी–लिखी हो या अनपढ़ हो पुरूषावादी समाज सिर्फ स्त्रियों को ही दबाना सीखा है।

महादेवी वर्मा मानती हैं कि नारी जीवन के दर्द का अथ तो है किन्तु इति नहीं है। वस्तुतः नारी हर जगह भेद–भाव की शिकार होती है, चाहे घर हो या बाहर। जब 'नाहिद बाजी' और 'तहमीना' अपने दुःख–दर्द को साझा करती हैं तो दोनों एक ही बिन्दु पर आकर ठहर जाती हैं। हर स्त्री जाति की पीड़ा एक समान है, चाहे वे कामकाजी हों अथवा घरेलू। सबकी एक ही गति है। नाहिद बाजी तहमीना से पूछती है–

''अच्छा बोलो तो, क्या यह शादी तुम्हारी अपनी पसंद से हुई थी?''

''न'', छोड़िये बाजी, पुरानी बातों के जख्म को कुरेदने से क्या फायदा, सब तकदीर का खेल है।''[17] ऐसे ही आज भी स्त्रियों का भूत, वर्तमान और भविष्य तकदीर के ही सहारे है।

'अकेला पलाश' उपन्यास का शीर्षक पलाश के फूल से प्रेरित है। वस्तुतः पलाश का फूल अकेलेपन की नियति का प्रतीकात्मक रूप से स्त्रियों की उस दशा की ओर संकेत करता है, जहाँ उनका सम्मान नहीं है, अधिकार नहीं है और घुटते हुए अकेले ही टूट जाती है, जैसे पलाश का फूल डाली तक ही सीमित रहकर सूख जाता है, जो अपने–आप में एक अकल्पनीय पीड़ा को समेटे हुए है। उपन्यास में स्त्री पात्र की स्थिति पलाश के फूल की भांति ही है, जिसे बदलना अति आवश्यक है वरना यह स्थिति स्वस्थ समाज के लिए महाकाल बन जाएगा।

lUnHkZ %

1. श्रृंखला की कड़ियाँ–महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, संस्करणः 2014, पृ0 134
2. अकेला पलाश–मेहरून्निसा परवेज़, वाणी प्रकाशन, संस्करणः 2002, पृ0 100
3. वहीं, पृ0 81
4. स्त्रीः उपेक्षिता–सं. प्रभा खेतान (द सेकेण्ड सेक्स–सीमोन द बाउवार), हिन्द पॉकेट बुक्स, संस्करणः 2002, पृ0 62
5. भारतीय मुसलमान : हिन्दी उपन्यासों के आईने में–नामदेव, अनामिका पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0, संस्करणः 2009, पृ0 130
6. अकेला पलाश, पृ0 10
7. वहीं, पृ0 129
8. वहीं, पृ0 109
9. वहीं, पृ0 109
10. वही पृ0 सं0 109
11. वहीं, पृ0 171
12. आलोचना (त्रैमासिक पत्रिका) जनवरी–मार्च 2013
13. अकेला पलाश, पृ0 206
14. वहीं, पृ0 137
15. वहीं, पृ0 138
16. स्त्रीः उपेक्षिता, पृ0 27
17. अकेला पलाश, पृ0 175

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

Ukkjh fLFkfr % ckS) lkfgR; ds fo'ks"k lanHkZ esa

T;ksfr eUnsys*

वैदिक–धर्म और संस्कृति ब्राह्मणशाही व्यवस्था, यज्ञयाग–कर्मकांड इत्यादि बातों का विरोध करके लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व तथागत बुद्ध ने मानवता पर आधारित 'बुद्धधम्म' की स्थापना की। बुद्ध के युग तक वैदिक समाजदर्शन और उनके समकालीन जितने भी विचारक थे, उन्होंने नारियों के बारे में कोई ध्यान नहीं दिया। जिस कारण समाज का यह अंग अत्यंत पिछड़ा और शोषित हो गया था। नारी समाज की दयनीय स्थिति ने बुद्ध का ध्यान आकर्षित किया। बुद्ध ने कभी भी नारी और पुरूषों में भेद नहीं किया। बुद्ध ने नारियों को संघ में प्रव्रज्या देकर महानतम कार्य किया। नारियाँ भी पुरूषों की भांति समान होती हैं और वे भी बुद्ध के निर्दिष्ट मार्ग का अनुशीलन करके निर्वाण की प्राप्ति कर सकती हैं। बुद्ध ने नारी की समानता, स्वतंत्रता, भातृत्वभाव और न्याय की बात कह कर उसके विषय में वैदिक मान्यताओं को चकनाचूर कर दिया था, जिसमें नारी केवल बच्चे पैदा करने की मशीन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं समझी गई थी और समाज में उसका सामाजिक स्तर पशुओं की भांति था।

भिक्षुणी बनने की अनुमति देकर तथागत ने नारियों को न केवल उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, प्रत्युत् यौन–भेद का हीनभाव समाप्त कर उन्हें स्वतंत्र प्रतिष्ठा प्रदान की। श्रीमती रीज डेविड्स के शब्दों में–''उस काल की नारी इस बात का गर्व तो अनुभव कर ही सकती थी कि कम से कम उसके अर्हन्त बन्धु, स्त्री–पुरूष का भेद किए बिना उसे एक चेतन प्राणी स्वीकार करते थे। इस प्रकार वह आत्मानन्द के मुक्त वातावरण में साँस लेती थी, और उस काल की नारी भी अपनी सम्यक् दृष्टि के कारण धर्म–साम्राज्य की समान रूप से भागीदार थी।''[1]

बुद्ध ने अपने धम्म में केवल गरीब लाचार नारियों को ही सहारा नहीं दिया, बल्कि समाज में परपुरूषों द्वारा ठगी हुई, सगे सम्बंधी और पतियों द्वारा प्रताड़ित और मरी हुई संतानों के वियोग में पागल सी हुई नारियाँ भी धम्म की छाया में आकर, अपने प्रयत्नों से दुःख मिटाकर अर्हत हो गई। दुर्बल नारियों में बुद्ध ने अनन्य आत्म विश्वास पैदा करके भिभुणी संघ के रूप में भारतीय समाज को दिखा दिया कि, नारी अबला नहीं होती, वह सबला ही होती है। सच्चे दिल से प्रयत्न किया तो धार्मिक प्रगति के आड़ में नारीत्व नहीं आता, यह स्पष्ट करते हुए सोमा भिक्षुणी कहती है–''जब चित्त अच्छी प्रकार समाधि में स्थित है, ज्ञान विद्यमान है, और प्रज्ञा द्वारा धर्म का सम्यक् दर्शन कर लिया है, तो नारीत्व इसमें हमारा क्या करेगा?'[2]

बौद्ध साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ 'थेरीगाथा' में बुद्धकालीन 73 भिक्षुणियों के विचार संग्रहित हैं यह पुरा ग्रन्थ 522 पद्यमय पालि गाथाओं में है, जिसमें उन भिक्षुणियों ने अपने पूर्व जीवन के बारे में और प्रवज्या ग्रहण करने के बाद मिले मानसिक संतोष के बारे में, अर्हतपद के सुख के बारे में खुलकर लिखा है। भिक्षुणी बनी हुई नारियाँ समाज के विभिन्न वर्गों से आयी थी। जैसे–महाप्रजापति गौतमी, सुमना, खेमा, सुमेधा, शैला राजवंश की नारियाँ थी। भद्रा, उपशमा, अभिरूनन्दा, सुन्दरीनन्दा, तिष्या, सिंहा, धिरा यह क्षत्रिय वंश की नारियाँ थीं। रोहिणी, सुन्दरी, मुक्ता नन्दा, सोमा, उत्तमा, चाला ,उपचाला, शिशुपचाला, मैत्रिका यह ब्राम्हण वंश की नारियाँ थी। धम्मदिन्ना सुजाता, पटाचारा, चित्रा, पूर्णा यह धनी वर्ग की नारियाँ थी। आम्रपालि, अड़ढकासी, अभयमाता, विमला ये गणिकाएँ थी, और कुछ निम्न वर्गीय दासी पुत्रियाँ भी थी।

*शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र 470003

बुद्ध ने जैसे कहा था कि–सागर में आने के बाद सभी नदियों का पानी एक जैसा हो जाता है वैसे ही भिक्षुणी संघ में आने के बाद सभी नारियों ने अपना उच्च–नीच सामाजिक स्तर पीछे छोड़ आयी।

बौद्ध काल में नारियों को शिक्षा प्राप्त करने का भी अधिकार था। उस समय महाप्रजापति गौतमी के उपदेश को सुनकर अनेक नारियाँ संघ में प्रव्रज्जित हो गई थी। इतना ही नहीं तो भिक्षुणी पटाचारा की पांच सौ शिष्याएँ भी थी। पटाचारा की शिष्याएँ होने के कारण इन्हें वर्गगत रूप से 'पंचसता पटाचारा अर्थात् पाँच सौ पटाचाराएँ'[3] भी कह कर पुकारा गया है।

भिक्षुणी सुक्का का जन्म राजगृह नगर के प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। राजगृह की होंने के कारण उस पर राजगृह के राजनैतिक, धार्मिक, वैचारिक वातावरण का प्रभाव था। उस समय राजगृह वैचारिक क्रान्ति का बहुत बड़ा केन्द्र था। महिलाएँ भी बुद्ध के कल्याणकारी विचारों से प्रभावित थी। एक दिन वह भिक्षुणी धम्मदिन्ना का उपदेश सुनने के लिए गई। उसने भिक्षुणी धम्मदिन्ना का उपदेश सुना और प्रव्रज्या गृहण की। वह धम्म प्रचार के कार्य में अत्यंत कुशल थी। एक दिन उसने राजगृह के भिक्षुणी–निवास में अत्यंत प्रभावशाली धम्मोपदेश दिया, जिससे श्रोतागण मंत्र– मुग्ध से हो गए। उपदेश के समाप्त होने पर उस निवास के करीब रहने वाले व्यक्तियों ने राजगृह में आकर सुक्का के धम्मोपदेश की महत्ता का वर्णन करते हुए नागरिकों को उद्बोधित किया–

fd e drk jktxg euLlk] e/k ihrk o vPNjA
; lDd u miklfUr] nlfUr c) lklu AA[4]

अर्थ– राजगृह निवासियों! सुक्का थेरी के द्वारा प्रचारित बुद्ध–वाणी को न सुन कर तुम यहाँ शराब पीकर मस्त हुए लोगों की तरह क्यों सोये पड़े हो? अरे! जाकर उस बुद्ध शासन का उपदेश करने वाली की उपासना क्यों नहीं करते? इससे ज्ञात होता है कि बौद्धकाल में नारियाँ शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी।

भिक्षुणी खेमा को संगीत, नृत्य तथा विविध कलाओं का ज्ञान था। उसका अधिकतर समय कला के सानिध्य में ही व्यतीत होता था। एक दिन भिक्षुणी खेमा वृक्ष के नीचे ध्यान साधना में लीन थी, तभी एक युवा पुरूष ने मार के रूप में आकर उसे लुभाने की चेष्ठा की। भिक्षुणी खेमा ने अपनी अद्भुत ज्ञान–साधना से उस पर विजय प्राप्त करते हुए कहती है–

lfŸklyiek dkek] [kU/kkl vf/kdVVukA
; ^Ro dkejfr* cfl] vjfr* nkfu lk eeAA[5]

अर्थ–देख! यह काम–तृष्णा नुकीले भाले के समान आहत करने वाली है। ये स्कन्ध–समूह तेज धार वाली छुरी के समान काटने वाले हैं। जिसे तू भोग का आनंद कहता है, वही मेरे लिए घृणा को उत्पन्न करने वाली चीज है। इस प्रकार खेमा उस युवक को अपने ज्ञान के द्वारा पराजित करती है। संयुक्त निकाय ग्रन्थ में कहा गया है कि एक बार कोसलराज प्रसेनजित को खेमा ने धम्मोपदेस दिया था। अतः भिक्षुणी खेमा भगवान बुद्ध की सबसे बड़ी प्रज्ञावती भिक्षुणी कहलायी।

कजंगला भिक्षुणी के राजगृह में बास के जंगल (वेणुवन) में विहार करते समय बहुत सारे लोगों के निवेदन करने पर उनको धम्मोपदेस दिया था। धम्मोपदेस सुनने के बाद उन लोगों के मुँह से उसके बारे में सुनने के बाद स्वयं बुद्ध ने उसका अनुमोदन करते हुए कहा कि–''गृहस्थों, कजंगलिका भिक्षुणी पंडिता है, वह महाप्रज्ञावान है। इस बारे में आप मुझसे भी पूछ लेते तो मैं भी वही बताता जो कजंगलिका ने कहा है।''[6]

भिक्षुणी नन्दुत्तरा पहले निर्ग्रन्थ साधुओं के संघ में प्रवेश किया और वाक–पटुता में अत्यन्त कुशलता प्राप्त की, लेकिन उसके मन में कुछ शंकायें थी। बाद में उसने ''महामोग्गलायन स्थवीर से शास्त्रार्थ किया और परास्त होकर बुद्ध मत की अनुयायी हो गई।''[7]

इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि उस समय नारियाँ शास्त्रीय संवाद भी करती थीं। इस तरह भिक्षुणियां अपने विचारों से दूसरों को प्रभावित करके बुद्ध के शासन को जन–जन तक पहुँचाने का भी कार्य करती थी। भिक्षुणी धम्मदिन्ना बुद्ध की धम्मप्रचारक भिक्षुणियों में प्रथम एवं अग्रणी मानी जाती थी।

''भिक्षुणी धम्मदिन्ना ने राजा बिम्बिसार की शंकाओं का बड़े ही बुद्धिवादी ढंग से समाधान किया था जिसकी प्रशंसा भगवान बुद्ध ने की थी।''[8] बौद्ध धम्म के प्रचार–प्रसार में भिक्षुणियों का बहुत ही योगदान था।

बौद्ध साहित्य में कहीं भी बाल–विवाह का उल्लेख नहीं मिलता। जातकों में जहाँ कहीं भी कोई विवाह–प्रकरण आता है, वह आयु प्राप्त तरुणों और तरुणियों के बीच ही सम्पन्न होता था। ''स्त्री पक्ष की ओर से भी सम्भवतः सोलह वर्ष की आयु विवाह के लिये सुयोग्य अवस्था मानी जाती थी।''[9] बौद्धकालीन समाज में सजातीय विवाह के साथ–साथ अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। ''अस्सी करोड़ धन के समालिक किरीटवक्ष सेठ अपनी रूपवती सौभाग्यवती तथा उत्तम लक्षणों से युक्त कन्या का विवाह 'शिव' नामक राजा से किया था। उसकी कन्या उम्मादन्ती सभी गुणों से सम्पन्न थी।''[10] इससे स्पष्ट होता है कि राजा क्षत्रिय और सेठ वैश्य था, किन्तु उम्मादन्ती के गुणों पर मुग्ध होकर ही शिव ने उससे वैवाहिक सम्बंध स्थापित किया। ऐसे लोग कुल एवं गोत्र का ध्यान नहीं रखते थे, क्योंकि वे गुणों के प्रेमी थे।

बौद्ध काल में नारी–पुरुष का सामाजिक स्तर एक समान ही था। तथा उन्हें सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। उनका सामाजिक जीवन कुशल एवं काफी उन्नत था बुद्ध से पूर्व भारत मे दास–प्रथा का जन्म हो चुका था। दासों को किसी भी प्रकार के मानवीय अधिकार नहीं होते थे। एक तरह से उनको मनुष्य नहीं समझा जाता था। अनाथपिण्डिक के परिवार पर बुद्ध का प्रभाव था। बुद्ध भोजनदान के लिए संघ के साथ अनाथपिण्डिक के घर जाते थे और उपदेश भी देते थे, जिसके कारण उनके घर–परिवार के सभी लोगों को बुद्धोपदेश सुनने का अवसर प्राप्त होता था। पुण्णिका का जन्म भी श्रावस्ती में ही हुआ था। वह सेठ अनाथपिण्डिक के घर की दासी की पुत्री थी। वह भी चोरी–छिपे बुद्ध का उपदेश सुनती थी। ''एक दिन उसने भगवान् बुद्ध के उपदेश को सुना और प्रथम फल (स्त्रोत–आपत्ति फल) में प्रतिष्ठित होकर पापमुक्ति के लिए गंगाा स्नान करने वाले ब्राह्मण को वास्तविक विशुद्धि के मार्ग को बताते हुए कहती है कि–

^^Lukuu&'kf) l iki&efDr gkrh g]
;g r> fdlu crk;k \
;g rk vKkuh] e[k d ifr min'k gA
;fn ty l gh 'kf) gkrh]
Rkc rk e<d] dN, ty d li
Ekxj vkj vU; typjk dk Lox&xeu fuf'pr g !**[11]

धर्म के नाम पर पाखण्ड का समर्थन करने वाले ब्राह्मणों को करारा जवाब देने का बल बुद्ध के कारण ही दासी पुत्री को प्राप्त हुआ था। ''फिर एक दिन पुण्णिका ने गंगा जल से शुद्धि मानने वाले (उदकशुद्धिक) एक ब्राह्मण को वास्तविक विशुद्धि के मार्ग (बुद्ध धम्म) में पहुँचा दिया।''[12] उससे अनाथपिण्डिक की इस दासी–पुत्री में बड़ी श्रद्धा हो गई। उसको ऐसा अनुभव हो गया कि इसमें तो ब्राह्मण से भी ज्यादा योग्यता है। अनाथपिण्डिक ने पुण्णिका को दासत्व से मुक्त कर दिया। बाद में अनाथपिण्डिक की अनुमति से वह भिक्खुणी संघ में प्रविष्ट हो गई।

इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध के समय में भी दासी प्रथा का प्रचलन था। तथा दासियों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। बुद्ध का उपदेश सुनकर संघ में प्रव्रजित होकर कई दासियों ने अर्हत पद को भी प्राप्त किया था।

बौद्ध साहित्य में गणिकाओं का भी स्थान महत्वपूर्ण था। ये संगीत, वादन एवं गायन में प्रवीण हुआ करती थी। इनका जीवन आनन्द एवं आमोद–प्रमोद के साथ व्यतीत होता था। भगवान बुद्ध अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब वैशाली की ओर आये तो वे अम्बपालि के उपवन में ठहरे थे। जब अम्बपालि को इस बात का पता चला कि भगवान बुद्ध उसके अम्बवन में विहार के लिए ठहरे हुए हैं, तो वह भगवान से मिलने पहुंची। भगवान के समीप जाकर अम्मपाली ने उनके चरणों की वन्दना की और दूसरे दिन भोजन के लिए आमन्त्रि किया। दूसरे दिन अम्बपाली ने अपने हाथ से बुद्ध को भोजन दान कर उनसे उपदेश

ग्रहण किया और अपना उपवन बुद्ध प्रमुख भिक्षु संघ को दान कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध ने गणिका अम्बपाली का कितना गौरव बढ़ाया तथा उसे उचित स्थान दिया। अम्बपाली अपने जीवन में पुरुष वर्चस्व के सामने कभी नहीं झुकी, यही उसकी विशेषता थी। इसी प्रकार से अभयमाता उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका थी, बाद में वह भिक्षुणी बन गई। ''उसी समय राजगृह में अत्यंत दर्शनीय परम रूपवती सालवती नाम की गणिका बनी।''[13] इन्हें राजदरबार में अत्यधिक सहायता एवं सम्मान मिलता था। राज्य की ओर से गणिकाओं का गणिकाभिषेक भी किया जाता था।

बौद्ध काल मे नारी पर्दे में नहीं रहती थीं। पर्दा में रहना समाज में उसके स्वतन्त्रता पर अंकुश माना जाता था। परन्तु पर्दा–प्रथा न होने के कारण हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि नारी उस समय स्वतन्त्र थी। ''पुत्र–वधू के रूप में कुछ कर्त्तव्य और अधिकार प्राप्त थे। यदि वह पर्दे में होती तो उसे कर्तव्य एवं अधिकार पूरा करने में बाधा होती।''[14] पुत्र वधू सास–श्वसुर के सम्मुख आवश्यकतानुसार विशिष्ट व्यक्तियों से वार्तालाप कर सकती थी, जैसा कि सुजाता कुलवधू भगवान् बुद्ध के समक्ष उपस्थित हुई थीं। बुद्ध ने उसे सात प्रकार की भार्याओं के बारे में उपदेश दिया था।

जातको में बहुत से प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें 'रानियाँ बिना पर्दे के स्वच्छन्दतापूर्वक मन्त्रियों एवं अधिकारियों के साथ वार्ता करती थीं।'[15] कभी–कभी पुत्रवधूएँ प्रतिरोध भी करती थीं। गोपा जब पति के साथ जा रही थी तो उससे कहा गया कि पर्दा कर लो। इस पर उसने विरोध करते हुये यह कहा–''उसका शरीर संयत है। इन्द्रियाँ सुरक्षित हैं। आचार रागरहित है और मन प्रसन्न है, तब कृत्रिम आवरण से क्या लाभ?''[16]

बौद्ध साहित्य में नारियों का पारिवारिक जीवन भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है, उनका जीवन सुखमय एवं आदर्शपूर्वक था। समाज में वह माता, पत्नी एवं कन्या आदि के रूप में प्रतिष्ठित थी। परिवार में माता का स्थान सम्मानजनक था। इनका ''पारिवारिक जीवन सुखमय था, क्योंकि इनकी इच्छाओं पर ही परिवार के कार्य सम्पादित होते थे।''[17] पारिवारिक जीवन में पुरुषों की अपेक्षा नारियों का स्थान महत्वपूर्ण था। श्रावस्ती में एक भिक्षु भगवान बुद्ध के पास जाकर कहते–''हे गौतम! मैं धर्मपूर्वक भिक्षाटन करता हूँ, इस तरह भिक्षाटन कर मैं अपनी माता का पालन–पोषण करता हूँ। ऐसा करता हुआ मैं उचित करता हूँ या नहीं?''[18] अवश्य तुम ऐसा करते हुए अच्छा ही कर रहे हो। जो धर्मपूर्वक भिक्षाटन करता हुआ माता या पिता का पालन–पोषण करता है, वह बहुत पुण्य कमाता है। ''संतान के लिए माता–पिता ही ब्रह्मा हैं, माता–पिता ही पूर्वाचार्य हैं, माता–पिता ही पूज्य हैं।''[19] बुद्ध कहते हैं कि पुरुष का जन्म माँ से ही होता है और इस दुनियाँ में माता से बढ़कर कोई और नहीं है।

तत्कालीन समाज में पत्नी का पारिवारिक जीवन भी महत्वपूर्ण था। बुद्ध गृहस्थ से अपेक्षा करते हैं कि–''वह अपनी पत्नी, बच्चे और सभी परिवार वालों का ख्याल रखे, उन्हें प्यार दे, परिवार की आवश्यकताओं की आपूर्ति करे। पति अपनी पत्नी के बारे में प्रमाणिक रहे, उसका सम्मान करे, अनादर न करे, घर की जिम्मेदारी उसे सौंपे और वस्त्र आभूषणों से उसे संतुष्ट रखे।'' पत्नी का सम्मान न करने वाले और उसके बारे में समानता का ख्याल न रखने वाले ज्यादातर परिवार दुःख झेलते है। बुद्ध का मत था कि परिवार की सुख–शान्ति ज्यातर पत्नी के व्यवहार पर ही निर्भर होती है।

शरत में सामान्य रूप से कन्या का जन्म पुरातन काल से दुर्भाग्य–सूचक माना जाता रहा है। भगवान बुद्ध की दृष्टि में पुत्र और पुत्री दोनों समान है। कन्या जन्म के प्रसंग में महाराजा प्रसेनजित को दिए गये उपदेश से हमें उनके क्रांतिकारी विचारों का पता लगा सकते हैं। श्रावस्ती में एक बार जब महाराज प्रसेनजित तथागत के पास जेतवन–विहार में उपस्थित थे, तो उसी समय रनिवास के एक दूत ने आकर समाचार दिया कि महारानी मल्लिका ने एक कन्या को जन्म दिया है। इस समाचार को सुनकर प्रसेनजित उदास हो गया कि उसको एक पुत्री उत्पन्न हुई है। उसे चिंतित एवं उदास देखकर शास्ता ने उन्हें सम्बोधन करते हुए कहा– ''इसमें उदास होने की क्या बात है, राजन्! कन्या एक पुत्र से षि बढ़कर सन्तान सिद्ध हो सकती है। क्योंकि वह भी बड़ी होकर बुद्धिमान, शीलवान् व घर–परिवार की सेवा करने वाली होती हैं। इसलिए तुम पुत्री का पालण–पोषण करो क्योंकि सभी दिशाओं को जीतने वाला

महाशूरवीर पुत्र उससे ही जन्म लेते हैं जो महान् कार्य करने वाला तथा विशाल साम्राज्य का स्वामी बन सकता है।''[20]

तथागत गौतम बुद्ध पहले महामानव थे जिन्होंने धर्म में पूजा उपासना से ऊपर नैतिकता को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने नारी को भोग्य एवं प्रजनन की मशीन से परे समाज में महत्वपूर्ण कार्य करने का अधिकार दिया। देखा जाय तो पुरुषों के समान ही नारी एक मनुष्य है और पुरुषों को जो अधिकार है वो नारियों को भी मिलना चाहिए यह विचार सर्वप्रथम भगवान बुद्ध ने प्रस्थापित किया।

नारी जाति का जितना गौरव बुद्ध ने बढ़ाया उतना शायद ही दुनियाँ के किसी भी धर्म संस्थापक ने बढ़ाया होगा। जो नारी पुरूष प्रधान समाज में किसी भी अधिकार की अधिकारिणी नहीं थी, उसको सभी प्रकार के अधिकारों की अधिकारिणी बनाना उसको ज्ञान प्राप्त करने की ज्ञान का उपदेश की और निर्वाण, परमशान्ति को प्राप्त करने की अधिकारिणी घोषित करना एक क्रान्तिकारी कदम था।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में नारियों की स्थिति सभी क्षेत्रों में यथा–शैक्षिणिक, सामाजिक, पारिवारिक एवं आर्थिक दृष्टि से उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी थी।

lUnHk %

1. हिन्दू नारी का उत्थान और पतन, डॉ. अम्बेडकर, पृ. 24
2. संयुक्त निकाय, सगातवग्ग, (भिक्षुणी संयुक्त), पृ.257
3. थेरीगाथा, डॉ. विमलकीर्ति, पृ. 139
4. वहीं, पृ. 90
5. वहीं, खेमाथेरी, पृ. 151–52
6. वहीं, पृ.110
7. वहीं, पृ. 23
8. बौद्ध धम्म का सार, पाँचवा परिच्छेद, के.टी.सराओ, पृ. 142–43
9. वहीं, पृ. 125
10. जातक भाग –5, पृ. 525
11. थेरीगाथा, डॉ. विमलकीर्ति, पृ. 21
12. थेरीगाथा, पुन्नीकाथेरी, डॉ. विमिलकीर्ति, पृ..201–202
13. मज्जिझनिकाय, पृ. 83
14. दीघनिकाय भाग–1, बुद्धचर्या, पृ. 198
15. जातक भाग–1 पृ. 428
16. बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज, डॉ. परमानंद सिंह, पृ. 125
17. महावग्ग, पृ. 289
18. संयुक्त निकाय, सगाातवग्गो, जयवन्त खण्डारे, डॉ वेद व्यास, पृ. 356
19. अंगुत्तर निकाय, तीसरा निपात, पृ. 134
20. वहीं, भाग–2, पृ. 83

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

L=h&efDr dk lUnHk vkj Hkkjrh; foe'kdkj

jkt'k dqekj ;kno*

कहने की आवश्यकता नहीं है कि एक मनुष्य के रूप में एक ही जाति का होते हुए भी केवल लिंग के आधार पर स्त्रियों को अपने पुरुष समकक्षी की तुलना में हजारों बन्धन स्वीकार कर चलना पड़ा है। पितृसत्ता द्वारा तय किए गए मानकों की अनिवार्यता में उन्हें अपने सहज व्यक्तित्व और ऊर्जा से वंचित रहना पड़ा है। इन वंचनाओं से केवल स्त्री जाति की ही नहीं, वरन् पूरे मानव जाति की क्षति हुई है और आगे भी इससे पूरी मानव जाति को संकट है। डॉ. मल्लिका सेनगुप्त का कथन है, ''पितृसत्तात्मक समाजों ने जितनी जिन्दगियों को आज तक तबाह किया है उसकी संख्या आणविक युद्ध में मरने वालों की संख्या से कई गुणा बढ़ी है, क्योकि इस व्यथित, दुख झेलते समूह की संख्या मनुष्य जाति की ठीक आधी है, इसलिए इस दुनिया का सबसे बड़ा संकट लिंग भेद है जिसकी चपेट में आकर सिर्फ आधी मानव जाति ही नहीं, बल्कि समूची मानवता को खतरा है।''[1] मानव समाज में एक पक्षीय नीतियों–अवधारणाओं और उससे हुई क्षति का इतिहास उतना ही दीर्घ है जितना दीर्घ स्त्री–परतन्त्रता का इतिहास। इस पूरे ऐतिहासिक कालखण्ड में बहुत ही कम या यह कहें कि 'न' के बराबर समाज चिन्तक हुए हैं जिन्होंने इस अपूरणीय सामाजिक क्षति को पहचानने का प्रयास किया। प्रायः विद्वानगण स्त्री–पुरुष के सहसम्बन्धों की तुलना रथ के दोनों चक्रों का दृष्टान्त देकर करते रहे हैं, किन्तु जीवनरथ का स्त्रीरूपी दूसरा चक्र सदियों से सड़क की मुख्य पटरी से उतरा हुआ, उबड़–खाबड़ मार्ग के कंकड़–पत्थरों से टकराता, धूल और कीचड़ में लिपटता हुआ अपने साथी चक्र द्वारा निर्दिष्ट और उसी की गति में घिसटता हुआ चलता रहा है, इस पर ध्यान देते हुए भी किसी ने ध्यान देने का प्रयास नहीं किया। सदियों तक वे रथ के इसी बाधित और खण्डित गति में उसकी सार्थकता ढूँढते रहें। अपने वर्ग के सुविधाभोगी और तानाशाह एक चक्र के मोह में पड़कर बहुसंख्य चिन्तक–विचारकों ने दूसरे चक्र की वस्तुस्थिति की उपेक्षा की और रथ की समग्र ऊर्जा को कभी भी समानरूप से प्रयुक्त ही न होने दिया। परिणामतः इतनी शताब्दियों अथवा लम्बे ऐतिहासिक कालखण्ड के बीत जाने और इतने व्यापक स्तर पर शोधों–आविष्कारों के बाद भी स्त्री–पुरुष का सहजीवनरूपी यह रथ अपनी सन्तुलित और सम्पूर्ण गतिशीलता से दूर छिटका हुआ है। इस असमान और अविकासी स्थिति से पार पाने के लिए विवेकपूर्ण न्याय–दृष्टि और दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ–साथ व्यापक और निष्पक्ष पड़ताल की आवश्यकता का अनुभव लगातार किया जा रहा है।

सन्तोष की बात यह है कि आज का परिदृश्य बहुत तीव्र गति से परिवर्तित होता जा रहा है। आधुनिक युग के समाज चिन्तक–समीक्षक स्त्री–पारतन्त्र्य से जुड़े आधारभूत प्रश्नों पर भरपूर दृष्टिपात कर रहे हैं। वे अब यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि एक ही समाज में एक सेक्स के लिए एक नियम और दूसरे के लिए दूसरा नियम होना चाहिए जैसा कि सीमोन द बोवुआर की भी मान्यता है।[2] आज के विमर्शकार मानने लगे हैं कि ''नारी–पुरुष के बीच प्राकृतिक विभाजन को छोड़कर बाकी सभी विभाजन कृत्रिम है।''[3] और, इस प्रकार के असमान विभाजन से उत्पन्न स्त्री असमानता पर मात्र खेद प्रकट कर लेने से समस्या का कोई हल नहीं निलने वाला। अतः इन विचारकों ने स्त्री असमानता के कुछ प्रमुख कारणभूत पक्षों पर खुलकर विचार किया है और एक अलग वैचारिकी निर्मित करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक वैचारिक प्रहार पारम्परिक और रूढ़ हो चुकी पुरुषवादी धार्मिक–सामाजिक व्यवस्था पर किया गया। बांग्ला साहित्य के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शरत्चन्द्र कहते हैं, ''जिस धर्म ने बुनियाद ही रखी है

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आदिम जननी हौवा के पाप पर, और जिस धर्म ने नारी को बैठा रखा है संसार के समस्त अधःपतन के मूल में, उस धर्म के सम्बन्ध में जिन लोगों के मन में यह विश्वास है कि सच्चा धर्म यही है, उन लोगों से यह भी हो नहीं सकता कि वे नारी जाति को श्रद्धा की दृष्टि से देखें। ऐसे लोगों की श्रद्धा केवल उतनी ही हो सकती है जितने में उनका स्वार्थ लगा हुआ है। इससे अधिक चाहे श्रद्धा कहो चाहे उनका न्यायोचित अधिकार कहो, वह न तो पुरुष ने उन्हें हजार बरस पहले दिया और न आज के हजार बरस बाद ही देगा।''[4] इन धार्मिक कही जाने वाली नीतियों और अपेक्षाओं के समानान्तर ही जो कि सर्वदा से पुरुषपरिचालित समाज के अनुकूल रही है, नारी का मूल्य स्थापित किये जाने की प्रवृत्ति रही है। इस एक पक्षीय नैतिकता और इसके निकर्ष पर कसे गए स्त्री आदर्शों पर व्यंग्यात्मक प्रहार करते हुए शरत्चन्द्र आगे कहते हैं, ''नारी का मूल्य क्या है ? अर्थात् वे कहाँ तक सेवापरायण, सहनशील, सती और दुख तथा कष्ट सहन करते हुए मौन रहती हैं ? अर्थात् उनके द्वारा पुरुषों को कहाँ तक सुख और सुभीता हो सकता है और कहाँ तक वे रूपसी हैं ? पुरुष की लालसा और प्रवृत्ति को वे कहाँ तक निबद्ध और तृप्त रख सकती हैं ? हम यह बात पृथ्वी का इतिहास खोलकर प्रमाणित कर सकते हैं कि स्त्रियों का मूल्य निश्चित करने के लिए इसके सिवा और कोई मार्ग है ही नहीं।''[5]

धर्मग्रन्थों से परिचालित समाज में स्त्री को पुरुष पर पूर्णतया आश्रित करने और अपनी इयत्ता को पुरुष स्वामी के व्यक्तित्व में पूर्णतया विलीन कर देने का अनुदेश देने वाली पारम्परिक अवधारणाओं पर प्रहार करती हुई हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा कहती हैं, ''स्त्री को अपने अस्तित्व को पुरुष की छाया बना देना चाहिए, अपने व्यक्तित्व को उसमें समाहित कर देना चाहिए, इस विचार का पहले कब आरम्भ हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह किसी आपत्तिमूलक विषवृक्ष का ही विषमय फल रहा होगा। जिस अशान्त वातावरण में पुरुष अपनी इच्छा और विश्वास के अनुसार स्त्री को चलाना चाहता था उसमें इस भ्रमात्मक धारणा को कि स्त्री स्वतन्त्र व्यक्तित्व से रहित पति की छायामात्र है, सिद्धान्त का रूप दे दिया गया। इस भावना ने इतने दिनों में कितना अपकार कर डाला है, यह इस जाति की युगान्तर तक भंग न होने वाली निद्रा और निश्चेष्टता देखकर ही जाना जा सकता है। उसके पास न अपनापन है और न वह अपनापन चाहती ही है।''[6] नारियों पर एक पक्षीय नीतियों को लागू करने में धर्म और समाज व्यवस्थाएँ विवाह संस्था को मुख्य कार्यकारिणी के रूप में प्रयुक्त करती रही हैं। साथ ही पौराणिक–मिथकीय कथाओं–चरित्रों द्वारा उन्हें यथार्थ जगत की वस्तुस्थिति से दूर रखकर एक काल्पनिक संसार के सम्मोहन में बाँधे रखने में अब तक सफल रही हैं। देवियों की अवधारणा के सामाजिक आधार को नारी के बन्धनयुक्त जीवन के लिए एक बड़ा कारण बताती हुई सरला माहेश्वरी लिखती हैं, ''जाहिर है कि पूजनीय के रूप में देवियों का बने रहना, शायद आज तक भारतीय नारी के मस्तिष्क में उसके अस्तित्व की मिथ्या चेतना पैदा करता है।''[7] स्त्री की यह मिथ्या चेतना उसके समूचे व्यक्तित्व पर इस प्रकार हावी रहती है कि वह शोषक सामाजिक–पारिवारिक तन्त्र को ही अपना हितू समझने लगती है और उस तन्त्र के बचाव में बहुधा अपनी एक पक्षीय आहुति को उचित मानने लगती है। भारतीय विमर्शकारों में इस प्रकार की एक तरफा मान्यताओं को लेकर क्षोभ है। सरला माहेश्वरी प्रश्न उठाते हुए लिखती हैं, ''क्यों इस वैवाहिक निष्ठा का पालन करने के लिए हमेशा औरतों को ही मारा जाता है? क्यों पति अथवा पुरुष पत्नी की मृत्यु पर मरकर अपना आत्मबलिदान नहीं करता है ?''[8]

वस्तुतः अब के स्त्री विमर्शकार स्त्रियों के लिए निर्धारित उन समस्त धार्मिक, नैतिक और मूल्यपरक अवधारणाओं–मान्यताओं के आगे प्रश्न चिह्न लगाने लगे हैं, जिन्हें भारतीय सांस्कृतिक व्यवस्था में बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। इन विमर्शकारों ने इन व्यवस्था पोषित अवधारणाओं की एक पक्षीय नीतिपरकता से आवरण हटाने का तर्कपूर्ण प्रयास किया है। यहाँ कुछ लेखक विमर्शकारों की महत्त्वपूर्ण उक्तियों पर दृष्टिपात् करना समीचीन होगा– अपने लेख 'उदारवादी नारीवाद' में मालती सुब्रह्मण्यम ने लिखा है, ''स्त्रियों पर आरोपित पतिव्रता, मृदुता एवं आज्ञाकारिता के गुण सामाजिक अनुकूलन की उपज होते हैं जो महिलाओं की प्राकृतिक विशिष्टताएँ होने के बजाय मुख्यतः उन्हें यौन वस्तुओं के रूप में गढ़े जाने का नतीजा होती है। उनकी कथित प्राकृतिक कमजोरियाँ, उनकी अतार्किकता और उनके स्वच्छन्द मन, वास्तव

में उनकी शिक्षा में कमी, चयन की आजादी का अभाव, पुरुषों पर उनकी निर्भरता तथा उनके दोषपूर्ण समाजीकरण की उपज होती है।''[9] कुछ ऐसा ही कथन राजेन्द्र यादव का भी है, ''नारी की महिमा का गुणगान सांस्कृतिक औदात्य की दोनों अलग–अलग जरूरतें हैं तथा एक–दूसरे की पूरक हैं। पता नहीं यह गुणगान प्रायश्चित है या बेवकूफ बनाने की साज़िश लफ्फाजी।''[10] 'स्त्री : संघर्ष और सृजन' में श्रीधरम ने लिखा है, ''पढ़कर विचार करना चाहिए कि कैसे स्त्रियों और शूद्रों को धर्म–षड्यन्त्र के द्वारा अंत्यज बनाया गया। पीढ़ी दर पीढ़ी शासन द्वारा उनमें गुलामी की मानसिकता का निर्माण किया गया। उन्हें बताया गया कि यही तुम्हारा धर्म है।''[11] अरविन्द जैन की पुस्तक 'औरत : अस्तित्व और अस्मिता' की भूमिका में प्रभा खेतान ने लिखा है, ''स्त्रीकरण एक अमानवीय व्यवस्था है, जिसके तहत पुरुषों ने अपने विचारों और अवधारणाओं के अनुसार स्त्री का निर्माण किया है। ऐसे निर्माण में स्वाभाविक है कि स्त्री की सहमति नहीं रही होगी। साहित्य जगत में तो लेखकों ने अपनी कल्पना के अनुसार स्त्रीस्वरूप का निर्धारण किया। स्त्री ने स्वयं अपने बारे में, अपनी भावना, अपना इतिहास, अपनी इच्छा–अनिच्छा के बारे में न कभी कहा और न ही उससे पूछा गया। पुरुष की सवंर्धित चेतना, आधिपत्य की भावना, स्त्री देह के प्रति पूँजीकरण की प्रवृत्ति ने न केवल साहित्य जगत में भी स्त्री की नुमाइंदगी का प्रयास किया, उसके अनुभवों की प्रमाणिकाता पर न केवल अपना मत–अमत जाहिर किया बल्कि अपने स्त्री–विरोधी दृष्टिकोण और एवं लेखकीय विद्वेष से एक ऐसा पाठक वर्ग भी तैयार किया, जो स्त्री की कमजोरियों पर चुहलबाजी से बाज नहीं आता। स्त्री–लेखिका या पाठिका से यह अपेक्षा थी कि वह इन फतवों को निष्क्रिय रूप से स्वीकारे।''[12] अन्यथा पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख 'धर्म, जाति व पितष्सत्ता में जकड़ी स्त्री' में रमणिका गुप्ता लिखती हैं, ''स्त्री असमानता का मूल स्रोत दरअसल धर्म ही है। ईसाई, इस्लाम, जैन, सिख, यहूदी, हिन्दू आदि लगभग सभी धर्मों ने स्त्री को दोयम दर्जे का जीव ही माना है।''[13] सुधा अरोड़ा धर्मग्रन्थों का भी कुछ ऐसा ही मानना है, ''आज तक किसी ग्रन्थ में किसी स्त्री की अतृप्ति का कोई सवाल कभी नहीं उठा, बल्कि उसे नियन्त्रित करने के उपाय ही सामने आए। ग्रन्थों में पुरुषों की आकांक्षा का जितना विशद वर्णन मिलता है, स्त्री की व्यथा या आकांक्षा को बड़ी मेहनत से ढूँढना पड़ेगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि स्त्री को ही नियन्त्रित होना है, पुरुष को नहीं।''[14] इस पुरुष प्रभावित धर्म और समाज व्यवस्था में पुरुषों की निरंकुश और अन्याय युक्त एवं वर्चस्ववादी दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हुए डॉ. राधाकृष्णन लिखते हैं, ''पुरुषों ने, जो स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रकट किए गए अधिकांश दृष्टिकोणों के लिए उत्तरदायी हैं, स्त्रियों के स्वभाव के विषय में और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की श्रेष्ठता के विषय में मनगढ़ंत कहानियाँ बना डाली हैं। उन्होंने अपनी सारी सूझ–बूझ नारी की रहस्यमयता और पवित्रता के साथ–साथ उनके सौन्दर्य और अस्थिरता के चित्रण में लगा दी है।''[15]

धर्म और समाज द्वारा निर्धारित पारम्परिक मानकों को चुनौती देते समय आधुनिक विमर्शकारों का ध्यान स्त्री के प्रति उत्पन्न की गई यौन असमानता पर भी गया है और वे बहुत ही सधे तर्कों से पुरुष प्रतिपादित एक पक्षीय यौन सम्बन्धी नीतियों का विरोध करते हैं। इस कड़ी में कुछ विद्वानों ने ब्रह्मचर्य तक को एक अनावश्यक बन्धन माना है और उसका मुखर विरोध भी किया है। ऐसा करते हुए उनका ध्यान बहुधा स्त्रियों की वस्तुस्थिति पर अधिक रहता है जिन पर इस व्यवस्था का भार पुरुषों की अपेक्षा कई गुणा अधिक और कठोरता से लागू होता है। राम मनोहर लोहिया जैसे विद्वानों ने इसका विरोध इस प्रकार किया है, ''ब्रह्मचर्य आम तौर पर एक कैद होती है। ऐसी कैद–आत्माओं से किसकी भेंट नहीं होती जिनका कौमार्य उन्हें बाँधे रहता है और जो उत्सुकता से अपने को मुक्त करने वाले का इन्तजार करती हैं। अब समय है कि युवक और युवतियाँ इस तरह के बचपने के खिलाफ विद्रोह करें।''[16] सामाजिक असमानता को मिटाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदमों में वर्ण के साथ लिंगभेद पर प्रहार करते हुए वे आगे लिखते हैं, ''आज वर्ण और योनि के इन दो कटघरों को तोड़ने से बड़ा कोई पुण्य नहीं।''[17] ऐसे विद्वान एक पतिव्रता स्त्री के स्थान पर द्रौपदी जैसी स्त्री को अपने सामाजिकों के लिए रोलमॉडल बनाना चाहते हैं जो आत्मविश्वास के साथ एकाधिक पतियों की स्त्री होने के समस्त लांक्षनाओं का तिरस्कार करती है। जिसमें पौरुष के समतुल्य नारी के ओज गुण विद्यमान दिखाई देते हैं। डॉ. लोहिया कहते हैं, ''भारतीय

नारी द्रौपदी जैसी हो, जिसने कि कभी भी किसी पुरुष से, दिमागी हार नहीं खायी। नारी को गठरी के समान नहीं बनाना है, परन्तु नारी इतनी शक्तिशाली होनी चाहिए कि वक्त पर पुरुष को गठरी बनाकर अपने साथ ले चले।''[18]

स्त्री–यौनिकता के सम्बन्ध में पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था की दोहरी नीति को लेकर बहुसंख्य स्त्री विमर्शकारों में असन्तोष है। समाज में प्रचलित नैतिकताएँ–मर्यादाएँ जो बहुधा स्त्री के सैक्सुअलिटी को ही नियन्त्रित करने पर अधिक आँख गड़ाए रहती हैं और जो समाज एवं परिवार में दोनों के सहजीवन को अस्थिर करने में प्रमुख कारण बनी हैं, पर प्रश्न चिह्न लगा कर ये विमर्शकार पूरी सांस्कृति अवधारणात्मक धारा को परिवर्तित करने का सकारात्मक प्रयास कर रहे हैं। यहाँ कुछ प्रमुख भारतीय विमर्शकारों की महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जो स्त्री यौनिकता और तद्जनित उद्भूत मर्यादावादी अथवा नैतिक मान्यताओं के प्रति बनी पारम्परिक वैचारिकी की तीखी आलोचना करती हुई दिखाई देती हैं। इन उक्तियों में पितृसत्तात्मक किलेबन्दी को तोड़ने के लिए व्यग्रता है :

''स्त्री की आजादी सेक्स बिम्बों से उसके बाहर निकलने में है।''[19]–शंभुनाथ

पोर्नोग्राफी पितृसत्ता के लिए भारी मुनाफे का व्यापार है, विश्वभर की स्त्रियों को मानसिक रूप से उत्पीड़ित–शोषित करके अपनी सत्ता बनाए बचाए रखने का षड्यन्त्र है।''[20]–अरविन्द जैन

''स्त्री के मानवीय सौन्दर्य की सहज अनदेखी हो रही है। उसे सिर्फ देह तक सीमित कर दिया गया है। स्त्री की देह का बाजार द्वारा यह उपनिवेशीकरण है।''[21]–लीलाधर मंडलोई

''यह पवित्रता, नैतिकता, शील, सैक्स के प्रश्न स्त्री के लिए ही क्यों, पुरुषों के लिए क्यों नहीं ? पुरुष भले ही कितनी स्त्रियों से अपने सम्बन्ध रखें, उनकी पवित्रता को भंग करें, सौ खून माफ, लेकिन स्त्री यदि ऐसा करे तो या हो जाये तो वह तत्काल कुल समुदाय की मर्यादा का सवाल हो जाता है।''[22] –राकेश कुमार

''वर्ग और वर्ण कोई हो, सैक्स या शील की मर्यादाएँ तोड़ेगी तो उसे उसकी जगह दिखा दी जाएगी। अपने को दलितों में शामिल किए जाने के अपमान से तिलमिलाने वाली प्रबुद्ध और समृद्ध महिला भी शील या सैक्स की मर्यादाएँ तोड़कर अपनी हैसियत जाँच सकती हैं। उसे दिए जाने वाले सामाजिक सम्मान, प्रतिष्ठा और पद हमारे द्वारा निर्धारित आर्थिक और नैतिक (सैक्स?) मर्यादाओं द्वारा तय होंगे।''[23]–राजेन्द्र यादव

''जो स्त्रियाँ मर्यादा का पालन करती हैं समाज उन्हें भली, अच्छी, सौम्य, गुणवान, चरित्रवान, शीलवान होने की उपाधि प्रदान करता है। इस भद्रता का अतिक्रमण करने वाली स्त्री को वेश्या कहकर गाली दी जाती है। पुरुष गण वेश्या को गाली जरूर देते हैं, लेकिन वेश्या के बिना उनका काम नहीं चलता। पुरुष वेश्या न कह दे इसलिए इच्छा होने पर भी वह चन्द्रनाथ पहाड़ पर नहीं जाती, चाहकर भी स्त्री नदी तट पर पेड़ की छाया में बैठकर दो–एक पंक्तियाँ नहीं गा सकती। ब्रह्मपुत्र के पानी में खुशी से तैर नहीं सकती, सुन्दरवन में पूर्णिमा की चाँदनी में नहीं जा सकती। वह अपने सभी अरमानों, सभी चाहतों और सपनों के घर को जलाकर पुरुष के घर को आलोकित करती है।''[24]–तसलीमा नसरीन

''लैंगिकता पर नियन्त्रण नारी के दमन का महत्त्वपूर्ण हथियार है। नारी को अपने पति की इच्छानुसार यौन सेवाएँ देनी होतीं हैं। पति के अलावा किसी और पुरुष के साथ यौन सम्बन्धों की इजाजत नारी को धर्म तथा नैतिक नियम नहीं देते। जबकि पुरुष पर ऐसी कोई वर्जनाएँ नहीं होती। लैंगिकता पर नियन्त्रण परिवार, समाज, संस्कृति, धार्मिक मान्यताएँ, स्त्रियों पर पहनावे सम्बन्धी, व्यवहार सम्बन्धी तथा घर से बाहर आवाजाही सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाते रहे हैं। नारी के यौनिक व्यवहार के साथ इज्जत या शर्म की भावना को जोड़ दिया जाता है। बलात्कार पितृसत्ता के हाथ में नारी के शोषण तथा दमन का एक मजबूत हथियार रहा है।''[25]–गोपा जोशी

''विवाह से जुड़े यौन–एकाधिकार स्त्री को सम्पत्ति या पूँजी की तरह देखता है अथवा वस्तु की तरह। पैसे, धर्म या विवाह की मज़बूरी से जुड़े यौन सम्बन्धों की नीयत पर पुनः सोचा जा रहा है। आज भी यद्यपि विवाहपूर्व सम्बन्ध पुरुष के लिए क्षम्य और स्त्री के लिए विवाह की अयोग्यता माने जाते रहे हैं परन्तु एक ओर यौन शुचिता के लिए स्त्री–पुरुष के लिए एक से मानदण्डों की मांग कर रही है तो दूसरी ओर यौन स्वतन्त्र्य के लिए पुरुष के दोहरे मानदण्डों का विरोध भी।''[26]–रेखा कस्तवार

स्पष्ट है कि आज के विचारक स्त्रियों के प्रति दोहरी सामाजिक नीतियों को अब और सहन किए जाने के पक्ष में नहीं हैं। इन विचारकों की औसत मान्यता है कि ये समस्त असमानताबोधक अवधारणाएँ समाज में इसलिए भी फलती–फूलती रहीं, क्योंकि अपने पूरे इतिहास में स्त्रियों को आर्थ, शिक्षा आदि मूलभूत अधिकारों से लगभग वंचित रहना पड़ा। कभी भी उनका अपना वैचारिक आधार नहीं बन पाया जो कुटिल और वर्चस्ववादी पुरुषप्रदत्त धार्मिक–सामाजिक मान्यताओं को चुनौती दे पाता। पहले अर्थ और फिर शिक्षा जैसी शक्ति से वंचित नारी पुरुष की समतुल्यता में कहीं भी टिक नहीं सकती थी। अतः आज के विद्वान स्त्री को शैक्षिक दिशा में समान अवसर दिए जाने के पक्ष में तो हैं ही, साथ ही इस दिशा में निर्बाध गति के लिए आर्थिक स्तर पर भी समान अधिकार दिए जाने के पक्ष में हैं। वे स्त्री के चहुमुखी पिछड़ेपन का प्रथम कारण इसी आर्थिक असमानता को मानते हैं। स्त्री–पारतन्त्र्य अथवा स्वातन्त्र्य के विषय में आर्थिक कारणों पर विचार करती हुई महादेवी वर्मा लिखती हैं, ''सम्पत्ति के स्वामित्व से वंचित असंख्य स्त्रियों को सुनहले भविष्यमय कीटाणुओं से भी तुच्छ माने जाते देख कौन सहृदय रो न देगा ? चरम दुरावस्था के सजीव निदर्शन हमारे यहाँ के सम्पन्न पुरुषों की विधवाओं और पैतृक धन रहते हुए भी दरिद्र पुत्रियों के जीवन हैं। स्त्री पुरुष के वैभव की प्रदर्शनी मात्र समझी जाती है और बालक के न रहने पर जैसे उसके खिलौने निर्दिष्ट स्थान से उठाकर फेंक दिए जाते हैं उसी प्रकार एक पुरुष के न होने पर स्त्री के जीवन का कोई उपयोग ही रह जाता है, न समाज या गृह में उसको कोई निश्चित स्थान ही मिल सकता है।''[27] अर्थ के महत्त्व को गम्भीरता से आँकते हुए महादेवी दावा करती हैं, ''यदि उन्हें अर्थ–सम्बन्धी वे सुविधाएँ प्राप्त हो सकें जो पुरुषों को मिलती आ रही हैं तो उनका जीवन उनके निष्ठुर कुटुंबियों के लिए भार बन सकेगा न वे गलित अंग के समान समाज से निकाल कर फेंकी जा सकेंगी। प्रत्युत् वे अपने शून्य क्षणों को देश के सामाजिक तथा राजनीतिक उत्कर्ष के प्रयत्नों से भर कर सुखी रह सकेंगी।''[28]

इसी प्रकार स्त्रियों की वस्तुस्थिति पर उनकी आर्थिक स्थिति की प्रमुख भागेदारी की ओर संकेत करती हुई कात्यायनी लिखती हैं, ''औरत का यौन–शोषण मात्र इसी आधार पर नहीं होता कि औरत औरत है। यह इसलिए सम्भव भी हो सका है कि उसकी सामाजिक हैसियत घर–बाहर–सर्वत्र दूसरे दर्जे के नागरिक की है और इस सामाजिक हैसियत का ताल्लुक उसके आर्थिक शोषण से है।''[29]

कहा जा सकता है समकालीन भारतीय विमर्शकार स्त्रियों के प्रति धर्म और समाज की पुरुष–प्रवर्तित अवधारणाओं, रूढ़ नैतिकता के प्रति आग्रहों और उसके दोहरे पैमानों से असन्तुष्ट हैं। उनकी न्याय–दृष्टि उस किसी भी व्यवस्था को मानने के लिए विवश नहीं है जो एक लिंग के लिए एक और दूसरे के लिए दूसरे मानदण्ड गढ़ती है। वे प्रकृति प्रदत्त नैसर्गिक विभेद को छोड़कर पुरुष–प्रधान समाज की अन्य सुविधा भोगी विभाजनों पर बड़ा–सा प्रश्नचिह्न लगाते हुए आगे बढ़ते हैं जिसमें स्त्री के व्यक्तित्व को मनमाना स्वरूप देने का प्रयास किया गया है। आज का भारतीय स्त्री विमर्शकार यह मानने लगा है कि अब तक जिसे धर्म और न्याय व्यवस्था माना जाता रहा है, वैश्विक पटल पर जिसे 'सभ्यता' की संज्ञा से अभिहित कर सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है, वह पितृसत्तात्मक समाज–सभ्यता वास्तव में अपने ही समदृष्टि के दावों, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की घोषणाओं को खोखल करती रही है। ये तथाकथित सभ्यताएँ कहीं उस जंगली जीवन से भी अधिक असन्तुलित और अमानवीय रही हैं जो निरे अपढ़ और पिछड़ी थीं। प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में कहें तो ''स्त्री के नैसर्गिक व्यक्तित्व का हनन हर सभ्यता का सबसे बड़ा खोखल है। अपने स्त्रीत्व के प्रति जागरूक और आग्रहशील स्त्री व्यक्तित्व की स्वीकृति ही स्वाभाविक स्थिति है, नैसर्गिक न्याय है।''[30] अतः आज के स्त्री विमर्शकार प्राथमिक प्रहार निवर्तमान पितृसत्तात्मक परिवार, समाज अथवा धर्म व्यवस्था पर कर रहे हैं जो स्त्रियों के मानसिक गुलामी का मूल हैं। आज स्त्री विमर्शकार परम्पराओं से चिपके रहने को निरा पिछड़ापन मानने लगे हैं जो ऐतिहासिक विकास के चलते अपने जड़ों से कट चुकी हैं। आज के विचारक ऐसी पाषाणीय और बोझिल परम्पराओं से मुक्त होने को भी स्त्री–मुक्ति की दिशा में अनिवार्य शर्त मानकर चल रहे हैं।

lUnHkZ %

1. सेनगुप्त, डॉ. मल्लिका; नारीवादी विमर्श; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; प्रथम संस्करण–2001; पृ. 15 पर उद्धृत ।
2. देखिए, स्त्री : उपेक्षिता, सीमोन द बोवुआर, संवाद प्रकाशन, दिल्ली; द्वितीय संस्करण–1992; पृ.305।
3. मिश्र, विनोद; वसुधा : स्त्री मुक्ति का सपना; अंक : 59–60, सम्पादक : प्रो. कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–2004; शीर्षक लेख 'नारी मुक्ति का सवाल मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में'; पृ. 187।
4. शरत्चन्द्र; शरत्साहित्य : नारी का मूल्य; हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई–4; संस्करण–पाँचवाँ; 1955; पृ.17।
5. उपर्युक्त; पृ. 2।
6. वर्मा, महादेवी; श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहाबाद, दूसरा पेपरबैक्स संस्करण–2012; पृ. 13।
7. माहेश्वरी, सरला; नारी प्रश्न; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1998; पृ. 84।
8. उपर्युक्त; पृ. 149।
9. सुब्रह्मण्यम, मालती; नारीवादी संघर्ष : राजनीति और मुद्दे; हिन्दी माध्यम कार्यान्वन निदेशाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण–2001; शीर्षक लेख 'उदारवादी नारीवाद'; पृ. 24।
10. यादव, राजेन्द्र; नारीवादी विमर्श; पृ. 118 पर उद्धृत।
11. श्रीधरम; स्त्री : संघर्ष और सृजन; अंतिका प्रकाशन; ग़ाज़ियाबाद, प्रथम संस्करण–2008; पृ. 14।
12. खेतान, प्रभा; औरत : अस्तित्व और अस्मिता; मूल लेखक–अरविन्द जैन; सारांश प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण–2000; शीर्षक लेख 'हमारी भूमिका' पृ. 10।
13. गुप्ता, रमणिका; अन्यथा, जून–2008; शीर्षक लेख 'धर्म, जाति व पितृसत्ता में जकड़ी स्त्री'; पृ. 199।
14. अरोड़ा, सुधा; शीर्षक लेख 'साहित्य के बाजार में पुरुष–विमर्श का नया झुनझुना'; vaatayan.blogspot.com
15. डॉ. राधाकृष्णन; धर्म और समाज; चौखम्बा विश्वभारती, चौक, वाराणसी, संस्करण–द्वितीय; पृ. 143।
16. लोहिया, डॉ. राममनोहर; लोहिया के विचार; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सातवाँ संस्करण–2013; पृ. 130।
17. उपर्युक्त; पृ. 131।
18. उपर्युक्त; पृ. 132।
19. शंभुनाथ; अश्लीलता का हमला; सम्पादक–राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–प्रथम–1998; शीर्षक लेख 'अश्लीलता, 'सौन्दर्य और उत्तर संस्कृति'; पृ. 108।
20. जैन, अरविन्द; वसुधा; स्त्री : मुक्ति का सपना; शीर्षक लेख 'अतिथि सम्पादकीय'; पृ. 18।
21. मंडलोई, लीलाधर; वसुधा; स्त्री : मुक्ति का सपना; शीर्षक लेख 'मीडिया और स्त्री देह : कुछ बातें' पृ. 29।
22. राकेश कुमार; नारीवादी विमर्श; पृ. 116–117।
23. यादव, राजेन्द्र; नारीवादी विमर्श; पृ. 117 पर उद्धृत।
24. नसरीन, तसलीमा; नारीवादी विमर्श; पृ. 120 पर उद्धृत।
25. जोशी, गोपा; भारत में स्त्री असमानता; हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण–2006; पृ. 25।
26. कस्तवार, रेखा; स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; दूसरा संस्करण–2016; पृ. 139।
27. वर्मा, महादेवी; महादेवी समग्र–खण्ड चार; सम्पादक–निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण–2007; पृ. 255–256।
28. उपर्युक्त; पृ. 256।
29. कात्यायनी; दुर्ग द्वार पर दस्तक; परिकल्पना प्रकाशन, गोमती नगर, लखनऊ, प्रथम संस्करण–1997; पृ. 37।
30. अग्रवाल, पुरुषोत्तम; स्त्री के लिए जगह; सम्पादक–राजकिशोर; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण–1994; शीर्षक लेख 'शूद्र पशु नारी'; पृ. 139।

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

Hkkjr esa cq) /kEe dk mnHko % ,d nk'kZfud foe'kZ

jes'k jkfgr*

प्राकृतिक नियमों की भांति समाजशास्त्रीय प्रक्रिया एवं उसके फलस्वरूप विकसित होने वाले नियम भी सत्य पर आधारित होते हैं। यह प्राकृतिक सत्य है कि मनुष्य का सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण उसके चिन्तन एवं विचारधारा को प्रभावित करता रहा है। अति संवेदनशील व्यक्ति उस वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होकर महानतम व्यक्तियों की श्रेणी में आ जाते हैं। यह बात सम्यक सम्बुद्ध के बारे में निरपेक्ष रूप से सत्य सिद्ध होती है।

भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करने पर सह निश्चत रूप से कहा जा सकता है कि, सम्यक सम्बुद्ध वास्तविक अर्थों में एक युगपुरूष एवं महामानव थे। ''बुद्ध पहले धर्म –नायक थे, जिन्होंने अपने धम्म के लिए किसी भी जाति, वर्ग, सम्प्रदाय और देश की सीमा नहीं रखी।''[1] जैसा कि हम अन्य धर्मों में पाते हैं, उनका धम्म समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय एवं समस्त मानव समाज के कल्याण के लिये था।

शरत में बुद्ध का आविर्भाव धम्म, दर्शन और इतिहास की दृष्टिकोण से अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है यद्यपि बुद्ध की शरत को अनेक चिरस्मरणीय देन हैं, लेकिन ''उन अनेक देशों में से, जो बुद्ध और बौद्ध धम्म ने हमारे देश के लिये दी हैं एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण यह है कि उनके आविर्भाव के साथ ही हमारे देश में वास्तविक रूप से ऐतिहासिक युग का आरम्भ होता है।''[2] ''हमारे देश का लेखबद्ध इतिहास वस्तुतः भगवान बुद्ध के उदय से ही शुरू होता है।''[3] ''यद्यपि भगवान बुद्ध के पूर्व भी सारे देश को एक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक इकाई बनाने के प्रयत्न हुए थे, परन्तु इस दिशा में जो प्रेरणा भगवान बुद्ध के प्रभाव से मिली, उसने इसके शीघ्र कार्यान्वित होने में सहायता दी।''[4]

धर्म और चिंतन के क्षेत्र में बुद्ध की महानतम उपलब्धि थी। इतना ही नहीं, यदि यह कहा जाए कि उन्होंने उस समय के चिंतन की धारा को विपरीत दिशा में प्रवाहित किया था, वैदिक वाङ्मय द्वारा प्रतिपादित आत्म–तत्त्व, ब्रह्म और ईश्वर को शाश्वत बताने के विपरीत, इन्हें अनात्म और अनीश्वर एवं सम्पूर्ण जगत् को अनित्य बताया, जो आज भी वैज्ञानिक सिद्धांतों पर खरा उतरता है। यद्यपि आत्म–तत्त्व को शाश्वत बताने वालों के विरूद्ध चार्वाक आदि अनेक दार्शनिकों ने आक्रमण किए थे, लेकिन उनके सिद्धांत वैज्ञानिक एवं दार्शनिक होने की अपेक्षा आक्रोश एवं क्रोध से अधिक प्रभावित थे।

वेदों के युग में यज्ञों में की जाने वाली हिंसा से सम्पूर्ण संवेदनशील एवं प्रबुद्ध समाज त्रस्त एवं भयभीत था। बुद्ध ने यज्ञों में की जाने वाली हिंसा का मौखिक एवं सैद्धांतिक विरोध ही नहीं किया, बल्कि यज्ञ–स्थलों पर यज्ञकर्त्ता ब्राह्मणों के पास जाकर, यज्ञों को बन्द कराया और पशुओं को जंगलों में छुड़वा दिया। बुद्ध के अनुसार यज्ञ इस प्रकार से है–माता–पिता की पूजा–सत्कार करना प्रथम यज्ञ है। पत्नी, बच्चे घर के दास और कर्म कार, नौकर चाकरों का आदर सम्मान करना द्वितीय यज्ञ है। श्रमण–ब्राह्मणों का सत्कार करना तृतीय यज्ञ है। हरे–भरे पौधों को यज्ञ के लिए न काटना चतुर्थ यज्ञ है। बेकारी का नाश करना सच्चा पंचम यज्ञ है।

बुद्ध के द्वारा बताए गए यज्ञ और महायज्ञ मानवतावादी थे। बुद्ध ने वैदिक धर्म के द्वारा मान्य समस्त विचारों और सिद्धाँतों को उद्देश्यहीन, तर्कहीन और अव्यवस्था बतलाकर निषेध किया। वैदिक–धर्म की समस्त बातों और कर्मकाण्डों का मूल आधार वेद है। वेदों को वैदिक धर्म में स्वतः प्रमाण माना

*सहायक प्राध्यापक (थेरवाद), साँची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, ग्राम– बारला, पोस्ट–माखनी, जिला रायसेन म.प्र, 464551

जाता है। बुद्ध ने वेदों को स्वतः प्रमाण और ईश्वरकृत न मानकर विभिन्न ऋषि–मुनियों द्वारा कृत बताया। यथार्थ में उनका धर्म सत्य, अहिंसा और जीवों के प्रति दया सिखाता है। उन्होंने जिस धम्म का प्रतिपादन किया, वह प्रज्ञा, शील, मैत्री और करूणा जैसे नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर निर्भर करता है।

डॉ. धर्मकीर्ति अपनी पुस्तक बुद्ध का समाज दर्शन में लिखते हैं कि– ''वेदों में मनुष्य के समाज को चार वर्णों, सैकड़ों जातियों में विभाजित एवं वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन करके झड़े के कूड़े की भांति फैलाकर अर्थ का अनर्थ कर दिया था, जिसे नैतिक, मानवीय और किसी भी दृष्टि से औचित्यपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता।''[5] इस संदर्भ में डॉ. संघमित्रा चौधरी अपनी पुस्तक भारत में बौद्ध धर्म का उत्कर्ष एवं ह्रास में लिखते हैं कि– सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से वैदिक मान्यताओं ने समाज को चार वर्णों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित कर रखा था। इस व्यवस्था में समाज के अन्तर्गत ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। इतना ही नहीं, बल्कि ''ब्राह्मण चाहे दुःशील भी हो, तो भी पूज्य होता था''[6] और ''शूद्र इन्द्रियों को जीतने वाला भी पूज्य नहीं हो सकता। कौन दुष्ट अंग वाली गौ को त्याग करके शीलवाली गधी को दुहता है?''[7] सामान्य भाषा में, इसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है कि ब्राह्मण चाहे कितना ही पापी और दुराचारी अर्थात् जुआरी, शराबी, कबाबी, वेश्यागामी, असत्यभाषी, हत्या, चोरी डकैती आदि समस्त दुर्गुणों एवं अनैतिक आचरण से युक्त हो, फिर भी वह पूज्य माना जाता था। इसी बात को तुलसीदास ने रामचरितमानस में इस प्रकार व्यक्त किया है– ''पूजिय विप्र शील गुण हीना, शूद्र न गुण गन ज्ञान प्रवीणा''

वर्ण व्यवस्था में द्वितीय स्थान क्षत्रियों का था। उन्हें राजन्य भी कहा जाता था। इसका तात्पर्य यह है कि ''क्षत्रिय–शासन एवं सैनिक का कार्य करते थे।''[8] इस दृष्टि से क्षत्रियों को भी समाज में सम्मान–तनक स्थान प्राप्त था। लेकिन जिस स्थान पर वैश्य आते थे, उन्हें ब्राह्मण और क्षत्रियों से निम्न समझा जाता था। लेकिन सम्पूर्ण व्यापार, समस्त उपयोगी वस्तुओं का क्रय–विक्रय एवं वितरण प्रणाली इन्हीं के नियंत्रण में थी, इसलिए समाज में इन्हें भी सम्मानजनक स्थान प्राप्त था।

चतुर्थ वर्ण के अन्तर्गत शूद्र आते थे। ''शूद्रों का कार्य कृषिश्रम और सेवा करना मात्र था।''[9] इस व्यवस्था में शूद्रों का कर्म केवल सेवा करना था। उनका जीवन समस्त अधिकारों से वंचित और वह कर्त्तव्यों से बोझिल था। इस व्यवस्था के विरूद्ध भविष्य में शूद्र वर्ण सशस्त्र क्रान्ति न कर बैठे, इसलिए इस भय से वर्ण– व्यवस्था को ईश्वरकृत घोषित करके शूद्रों को भयभीत कर दिया गया और उन्हें हथियार रखने के अधिकार से सदैव के लिए वंचित कर दिया। इसलिए ''ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व और शूद्र क्रमशः स्रष्टा के मुख, भुजा, जंघा और पैरों से उत्पन्न माने गए हैं।''[10]

इस प्रकार वैदिक–दर्शन, धर्म, धार्मिक,–कर्मकाण्ड और वर्ण–व्यवस्था मानवीय एवं नैतिक मूल्यों के लिए बड़े बाधक सिद्ध हुए। यह प्रकृति का तनयम है कि चिन्तनशीन एवं संवेदनशील व्यक्ति प्रत्येक युग में पैदा होते रहे हैं। वैदिक युग से ही वेद और उसमें प्रदत्त सिद्धान्तों एवं वर्ण–व्यवस्था के विरूद्ध आवाज उठती रही थी। 'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी' की कहावत को दृष्टि में रखते हुए, चार्वाक–दर्शन के अनुयाइयों ने, तो वेदों के अस्तित्व पर ही प्रश्नवाचक चिन्ह् ही नहीं लगाए, बल्कि ''वेदों के निर्माताओं का भण्ड, धूर्त और निशाचर तक कह डाला।'' तथागत गौतम बुद्ध के आविर्भाव के समय तत्कालीन सामाजिक वातावरण वैदिक संस्कृति से ओतप्रोत था। उस समय वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञों में पशुबलियों का प्रचलन था। इन यज्ञों में आर्य पशुओं की बलियों को स्वर्ग प्राप्ति का माध्यम मानते थे।

आधुनिक विचारक एवं वैज्ञानिक बुद्ध तथा उनके विषय में क्या कहते हैं? यह विषय के परिचय एवं उपादेयता की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है। इस संदर्भ में प्रोफेसर एस. एस. राघवाचार्य का कथन है, ''भगवान बुद्ध के आविर्भाव से ठीक पहल का समय भारतीय इतिहास का सर्वाधिक अंधकारमय युग था।''[11] ''चिंतन की दृष्टि से यह पिछड़ा हुआ युग था। उस समय का विचार धर्मग्रन्थों के प्रति अंधविश्वास से जकड़ा हुआ था।''[12] ''नैतिकता की दृष्टि से अंधकार का युग था।''[13] ''विश्वासी हिन्दुओं के लिए नैतिकता का मतलब इतना ही था कि धर्मग्रन्थों के अनुसार यज्ञादि का ठीक–ठीक कर सकना।''[14]

आत्म–त्याग का चित्त की पवित्रता आदि जैसे यथार्थ नैतिक विचारों को उस समय के नैतिक चिन्तन में कोई उपयुक्त स्थान प्राप्त न था।''[15]

इस संदर्भ में आर. के. जैक्सन का कथन है ''भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं का अनुपम रूप भारतीय धार्मिक विचारधारा के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।''[16] ऋग्वेद की ऋचाओं में हम पाते हैं कि आदमी बहिर्मुख है। उसका सारा चिन्तन देवताओं की ओर अभिमुख है। बौद्ध धर्म ने आदमी के अन्दर जो सामर्थ्य छिपी हुई है, उसकी ओर ध्यान आकर्षित किया। वेदों में हमें प्रार्थना, प्रशंसा और पूजा मिलती है। बौद्ध धर्म में हमें प्रथम बार चित्त को सही रास्ते पर चलाने के शिक्षा–क्रम की शिक्षा मिलती है।''[17]

इस विषय में ई. जी. टेलर का कथन है, ''काफी समय से आदमी बाहरी ताकतों के दबाव में रहा है। यदि उसे 'सभ्य' शब्द के वास्तविक अर्थों में सभ्य बनना है, तो उसे अपने ही नियम द्वारा अनुशासित रहना सीखना होगा। बौद्ध धम्म ही वह प्रचीनतम नैतिक विचारधारा है, जिसमें आदमी को स्वयं अपना अनुशासक बनने की शिक्षा दी गई है। इसलिए इस प्रगतिशील संसार में बौद्ध धम्म की आवश्यकता है, ताकि वह इससे ऊंची शिक्षा हासिल कर सके।''[18]

डेविट गोडर्ड बुद्ध के विषय में कहते हैं, ''संसार में जितने भी धर्म संस्थापक हुए हैं, उनमें भगवान बुद्ध को यह गौरव प्राप्त है कि उन्होंने आदमी में मूलतः विद्यमान उस निहित शक्ति को पहचाना, जो बिना किसी बाह्म निर्भरता के उसे मोक्ष–पक्ष पर अग्रसर कर सकती है। यदि किसी वास्तविक महान् पुरूष का तदात्म्य इसी बात में है कि वह मानवता को किसी मात्रा में महानता की और अग्रसर करता है तो तथागत से बढ़कर दूसरा कौन सा आदमी महान् हो सकता है?''[19] यथार्थ में ''भगवान बुद्ध ने किसी 'बाह्म–शक्ति' को आदमी के ऊपर बिठाकर उसका दर्जा नहीं घटाया, बल्कि उसे प्रज्ञा और मैत्री के शिखर पर ले जाकर बिठा दिया है।''[20]

तथागत बुद्ध की महानता की प्रशस्ति चिन्तकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने ही नहीं, वरन् कवियों और साहित्यकारों ने भी की। प्रसिद्ध शायर सर डॉ. इकबाल ने बुद्ध को 'गोहरे इकदाना' हीरे–जवाहारात कहकर सम्बोधित किया है।[21] वैसे तो वेदों और उसमें प्रदत्त सिद्धान्तों के विरूद्ध वैदिक काल से ही आवाज उठना प्रारम्भ हो गई थी, लेकिन बुद्ध के युग तक आते–आते वह आक्रोश अधिक तार्किक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं उपयोगी होने के साथ–साथ और उसमें मानवीय एवं नैतिक मूल्यों के संचार का प्रारम्भ भी हो गया था।

उस युग में वैदिक व्यवस्था के विरूद्ध आवाज उठाने वालों में 'भौतिकवादी अजित केशकम्बल (523 ई. पू.)' अकर्मण्यवादी, मक्खलीगोसाल (523 ई. पू.) 'अक्रियावादी, पूर्णकश्यप (523 ई. पू.) नित्यपदार्थवादी प्रकुद्ध कात्यायन(523 ई. पू.) अनेकान्तवादी, संजय वेलट्ठिपुत्त (523 ई. पू.) और ''सर्वज्ञतावादी वर्धमान महावीर (569–485 ई. पू.) का नाम विशेष रूप से आता है। इन सभी लोक–प्रसिद्ध दार्शनिकों ने अपने–अपने सिद्धान्तों के अनुसार वेद और उनमें प्रदत्त सिद्धान्तों के विरूद्ध कटु आलोचनाएं की थीं।

सिद्धार्थ ने जिन परिस्थितियों में गृहत्याग किया, उन सभी ने उसे मानसिक एवं भावनात्मक दृष्टि से झंकृत ही नहीं किया, बल्कि उसकी दुःख की समस्या में अत्यधिक वृद्धि कर दी। इन मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के कारण सिद्धार्थ की तपस्या आत्मा और ईश्वर की प्राप्ति करके ब्रह्म में लीन हो जाना नहीं, वरण् वह आर्यों (ब्राह्मणों) के अंधविश्वासों का अवलोकन कर चुके थे, जो यज्ञों में पशुबलि देकर हिंसा को प्रवृत्त करने पर लगे हुए थे। उन्होंने वैदिक समाजदर्शन के फलस्वरूप समाज में वर्गों एवं जातियों के आधार पर होने वाली असमानता, शोषण, उत्पीड़न और अन्याय को भी देखा था। इस कारण उनका कोमल हृदय अत्यंत दुःखी था। इस कारण तत्कालीन वैदिक मान्यताओं, सिद्धांतों और विश्वासों के विरूद्ध बुद्ध ने आध्यात्मिक क्रांति करने का मन बना लिया था। इसी बात को पृष्ठभूमि में रखते हुए उन्होंने क्रांति का बिगुल फूंक दिया।

सिद्धार्थ के बाल्यकाल से लेकर सम्यक्समबुद्ध होने तक उनके व्यक्तित्व, विचारधारा और क्रियाकलापों का समीप से अवलोकन किया जाए, तो उसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, न्याय तथा समता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व, प्रज्ञा, शील, मैत्री और करूणा परिलक्षित होती है। सम्यक्समबुद्ध की सम्पूर्ण

शिक्षा का सार मानव कल्याण एवं प्राणियों को दुःख से मुक्ति दिला सकता है। वर्तमान समय में हम देखते हैं कि विश्व में अनेक प्रकार की कुरीतियाँ, भ्रांतियाँ आदि इन कुरीतियाँ को बुद्धोपोदिष्ट द्वारा ही समाप्त करके एक आदर्श समाज की स्थापना की जा सकती है तथा वर्तमान में बहुत ही अनुकरणीय है। अतः हम कह सकते हैं कि तथागत बुद्ध के सम्पूर्ण उपदेशों का सार विश्व कल्याण ही है। इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि बुद्ध के ऊपर उनके समकालीन धर्मों का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से पड़ा, तभी वे 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का दार्शनिक विचार दे सके।

lUnHkZ %

1. बौद्ध संस्कृति, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ. 25
2. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, उपाध्याय भरत सिंह
3. वहीं
4. वहीं
5. बुद्ध का समाज दर्शन, डॉ. धर्मकीर्ति, पृ. 110
6. भारत में बौद्ध धम्म का उत्कर्ष एवं ह्रास, संघमित्रा चौधरी, पृ. 22
7. वहीं
8. आधुनिक भारत में जातिवाद, एम एन श्रीनिवास, पृ.67
9. वहीं
10. वहीं, पृ. 68
11. डॉ. अम्बेडकर, भगवान बुद्ध और उनका धम्म, पृ. 463
12. वहीं
13. वहीं
14. बौद्धकालीन भारत का इतिहास, मुंशी एन.एल खोबरागढ़े, पृ. 135
15. वहीं
16. डॉ0 अम्बेडकर, बुद्ध और उनका धम्म, पृ. 463
17. वहीं
18. वहीं
19. वहीं
20. वहीं
21. डॉ0 धर्मकीर्ति, बुद्ध का समाज दर्शन, पृ. 112

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

^Ykkd dyk lxgkYk;* y[kuÅ

vk'kh"k dekj flg*

LFkkiuk ,oa mnns'; %

लोक कला परम्परायें हमे विरासत एवं परम्पराओं से प्राप्त होती हैं, जिनका मूल अति प्राचीन है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यह हमारे जीवन में रची–बसी होती है और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है, किन्तु सामयिक परिवर्तन के कारण आधुनिकीकरण एवं औद्योगिकीकरण की आँधी में हमारे प्रदेश की लोक कला परम्परायें शनैः–शनैः विलुप्त होती जा रही हैं एवं इनका मूलस्वरूप भी परिवर्तित हो रहा है। इसलिए इन प्राचीन लोक कला परम्पराओं के मूल स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने एवं इनके विशेष दस्तावेजों को संकलित कर भविष्य के लिए सुरक्षित रखने के उद्देश्य से संस्कृति विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा फरवरी 1989 में लोक कला संग्रहालय की स्थापना, कला परिसर, कैसरबाग में की गयी।

जिससे वर्तमान समय में राज्य संग्रहालय लखनऊ के पीछे स्थित संग्रहालय के नवर्निमित भवन में स्थानान्तरित कर दिया गया है, और अभी केवल संग्रहालय में केवल दो वीथिकाओं अवध व भोजपुर का ही निर्माण किया गया है और बुंदेलखण्ड, रूहेलखण्ड और ब्रज वीथिकाओं के निर्माण का कार्य चल रहा है।

लोक कला के संकलन, संरक्षण तथा प्रदर्शन की दिशा में कार्यरत लोक कला संग्रहालय प्रदेश का एक मात्र संग्रहालय है।

ldyu %

लोक कला संग्रहालय में प्रदेश के विभिन्न अंचलों की उत्कृष्ट एवं दुर्लभ लोक कलाओं से सम्बन्धित लगभग 1600 कलाकृतियों का संग्रह है, इनमें लोक नृत्य, लोकवाद्य, लोक आलेखन, आभूषण, पोषाक, टेराकोटा, पारम्परिक मुखौटे, काष्ठ, लौह एवं प्रस्तर के खिलौने, बर्तन तथा इनसे सम्बन्धित कला नमूने संग्रहीत हैं। संग्रहालय में भूमि एवं भित्ति अंलकरण से सम्बन्धित लोक चित्रों का विशाल संग्रह उपलब्ध है जो संरक्षित संकलन के रूप में व्यवस्थित है। इन चित्रों की समय–समय पर प्रदर्शनी आयोजित की जाती है। संग्रहालय में कला प्रदर्शों का संग्रह प्रदर्श क्रय–समिति के माध्यम से तथा स्थान–स्थान का भ्रमण और सर्वेक्षण का किया जाता है।

izn'kZu %

संग्रहालय में उपलब्ध कला प्रदर्शों को प्रदेश के प्रमुख पाँच क्षेत्रों यथा ब्रज, बुन्देलखण्ड, अवध, भोजपुर, एवं रूहेलखण्ड में विभक्त किया गया है। इनके क्षेत्रवार प्रदर्शन हेतु अलग–अलग कक्षों

*शोध छात्र–संग्रहालय विज्ञान, राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थान, नई दिल्ली

का निर्माण कराकर उनमें कलाकृतियों को अत्यन्त आकर्षण, सुरूचिपूर्ण एवं आधुनिक तकनीक में प्रदर्शित किया गया है। जिसमें लोक नृत्यों के डायरमा, पोषाक, आभूषण, लोकवाद्य, मुखौटे, खिलौने तथा क्षेत्र विशेष की रहन–सहन की शैली को दर्शाते हुए भिन्न–भिन्न प्रकार की पारम्परिक झोपड़ियॉ तैयार करवाकर उसमें बर्तन, चूल्हा, चौका आदि को सुव्यस्थित ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

Hkfe ,oa fHkfRr vyadj.k %

प्रदेश में भूमि एवं भित्ति अंलकरण की परम्परायें बहुत समृद्ध तथा विविध प्रकार की विद्यमान है। आलेखन शुभ कार्यों एवं पूजा अनुष्ठान के अवसर पर हाथ की अंगुलियों द्वारा मांगलिक प्रतीक और सुख समृद्धि की महती भावना से बनाये जाते हैं। संगहालय में आलेखन और लोक चित्रों का अद्वितीय संग्रह है।

Vjkdkjh %

टेराकोटा एक परम्परागत हस्तशिल्प है। साधारण तौर पर टेराकोटा के अन्तर्गत देवी देवताओं की मूर्तियॉ घोड़ा, हाथी तथा खिलौने बनाये जाते हैं। संग्रहालय में टेराकोटा का विशाल संग्रह उपलब्ध है।

vkHkw"k.k %

प्रदेश के प्रत्येक क्षेत्र के पहनावे, रहन–सहन में विविधता पायी जाती है। इसी के अन्तर्गत अलग–अलग क्षेत्रों के विविध प्रकार के प्राचीन तथा दुर्लभ लोक कलात्मक आभूषण संग्रहालय में संग्रहीत कर प्रदर्शित किये जाते हैं।

gLrf'kYi %

अवध में ग्रामीण अंचलों में मूंज तथा बेंत का हस्तशिल्प अत्यन्त लोकप्रिय है। बॉस, मूंज व बेंत से बनी डलिया, टोकरी, चटाई, फूलदान, पंखें, सूप आदि आज भी कलात्मक सामग्रियॉ दैनिक जीवन में देखने को मिलती हैं। जिनके उत्कृष्ट नमूने संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

iLrdky; %

लोक कला संग्रहालय में लोक कला संस्कृति से सम्बन्धित पुस्तकालय भी है। जिसमें लोकनृत्य, लोकसंगीत, प्राचीन इतिहास, कला एवं संस्कृति आदि से सम्बन्धित लगभग 600 पुस्तकें उपलब्ध हैं।

lxgkYk; dh ;kstuk;sa %

लोक कला संग्रहालय के अधिक से अधिक प्रचार प्रसार एवं इसके प्रति जनसामान्य की अधिक से अधिक भागीदारी बढ़ाने जाने हेतु समय–समय पर संग्रहालय द्वारा विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रम यथा व्याख्यान, प्रदर्शनी, कार्यशालायें संगोष्ठी, विभिन्न त्योहारों के अवसर पर प्रतियोगितायें, टेराकोटा कैम्प, आडियो वीजुअल कार्यक्रम तथा बच्चों की प्रशिक्षण कार्यशालायें आयोजित की जाती हैं।

लोक कला संग्रहालय अपनी योजनाओं के विस्तार एवं कला प्रदर्शो के संरक्षण, संवर्धन एवं संग्रह की दिशा में सतत् प्रयासरत है।

lUnHkZ %

1. 'लोक कला संग्रहालय' लखनऊ का सर्वेक्षण पद्धति द्वारा किये गये अवलोकन पर आधारित।

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

dUuM lkfgR; dk ifjp;kRed v/;;u

Hkjr*

राज्य–पुनर्गठन से पूर्व संपूर्ण मैसूर राज्य, बंबई के चार जिलें– बेलगाँव, बीजापुर, धारवाड़, करवाड़ (ड़त्तर केनरा) और मद्रास राज्य के मंगलौर और बैलारी (दक्षिण केनरा) तथा हैदराबाद के रायचूर, बीदर एवं गुलबर्गा जिले के कुर्ग में बोली जाने वाली भाषा को कन्नड़ से अभिहित किया जाता था।[1] कर्नाटक से सटे हुए चार राज्य– महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु और केरल हैं। वायव्य और उत्तर दिशाओं में महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश हैं, अग्नेय और दक्षिण में तमिलनाडु तथा नैऋत्य में केरल, पश्चिम में अरब सागर, ड़त्तर में महाराष्ट्र के कोलापुर, दक्षिण में सतारा, सोलापुर, ड़स्मानाबाद और नांदेड़, पूर्व में आंध्रप्रदेश के निघमाबाद, मेदक, महबूबनगर, कर्नूल, अनंतपुर और चित्तूर, अग्नेय–दक्षिण में तमिलनाडु के उत्तर अकार्ट, सेलम, कोयंबत्तूर, नीलगिरी तथा नैऋत्य में केरल की सीमा एवं पश्चिम में अरब सागर के बीच का प्रदेश कर्नाटक है।[2] कर्नाटक में बोली जाने वाली भाषा को कन्नड़ कहा जाता है। कन्नड़ भाषा के अन्य नाम कन्नड़ी, कनारी, कनाड़ी, केनरा, काणाट आदि भी हैं । कर्नाट, कर्नाटक, कन्नड़ आदि शब्द बहुत पहले से मिलते हैं। महाभारत के सभापर्व में कर्णाटक शब्द का उल्लेख है।[3] अधिकतर विद्वानों का अभिमत है कि कन्नड़ द्रविड़ परिवार की प्रमुख भाषाओं में से एक है।[4]

कन्नड़ साहित्य के इतिहासकारों ने प्रायः कन्नड़ साहित्य के इतिहास को तीन कालों में विभाजन किया है– 1.जैन–काल 2. वीरशैव या लिंगायत काल 3. वैष्णव काल ।[5]

tSu dkO; ijEijk ¼Dykfldy ;qx½ % कन्नड़ साहित्य का आरंभ जैन काव्य परम्परा से होता है। सर्वप्रथम "मुगलि ने कन्नड़ साहित्य के काल विभाजन पर विचार करते हुए जैन काव्य परम्परा को कन्नड़ का क्लासिकल युग कहा है।"[6] जैन काव्य परम्परा का प्रारंभ कवि पंप से होता है, किन्तु पंप से पूर्व गुणवर्मा हुए जिनकी 'हरिवंश' नामक अनुपलब्ध कृति है। पंप से पूर्व दूसरे कवि शिव कोट्याचार्य हुए जिनकी कृति 'बद्ड़ोराघनम्' है । कन्नड़ भाषा का यह प्रथम गद्यग्रन्थ होने के साथ जैन कृति भी है। इसमें उन्नीस जैन महापुरुषों की कथाएँ हैं, जिन्होंने उपसर्ग या सल्लेखन व्रत के आचरण के द्वारा समाधिमरण प्राप्त किया था । इस सन्दर्भ में रामछबीला मुगलि का कथन है–"बड्डारघन धार्मिक उददेश्य से लिखी गई साम्प्रदायिक कथाओं का संग्रह है, कलात्मक वृत्ति की एकता इसमें नहीं है।"[7] यह माना जा सकता है कि पंप की कृतियों से ही कन्नड़ काव्य में कलात्मकता का प्रवेश हुआ । पंप युग में रत्नत्रय या कवित्रय के रूप में तीन कवि प्रमुख है– पंप, पोन्न और रन्न। कन्नड़ के इन जैन कवियों ने प्रधानतया दो प्रकार के काव्य रचे हैं । जैनधर्म संबंधी काव्य अथवा धार्मिक काव्य, दूसरा लौकिक अथवा शुद्ध काव्य ।

'पंप ने दो काव्यों की रचना की थी–'आदिपुराण' और 'विक्रमार्जुन' (प्रायरू 'पंप भारत' नाम से प्रसिद्ध)। आदिपुरण ग्रन्थ 'महाभरत' कथा पर आधृत है जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता राजा अरिकेसरी का अर्जुन से एकत्व स्थापित किया है।'[8] 'आदिपुरण' में तीर्थंकरों की जीवनियों का काव्यात्मक निरूपण है। इसमें तीर्थंकरों के भोग और वैराग्य के द्वन्द्व का चित्रण अत्यंत मार्मिक ढंग से किया गया है । पुरुदेव की वैराग्यवृत्ति का चित्रण करते हुए पंप कहते हैं– धनुरूप विभव यौवनधन सौभग्ययुरादिगंलयणकडूमि। अर्थात् देवरूप वैभव, यौवन, एश्वर्य, सौभग्य, आयु यह सब क्षण मात्र में चमकने वाली बिजली की तरह क्षणभंगुर है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गाँधीनगर।

पोन्न उभय कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं । उन्होंने 'शन्तिपुराण' काव्यकृति की रचना की । शन्तिपुराण सोलहवें तीर्थंकर की चरितमाला पर आधारित जैनाधर्म के धर्म निरूपण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[9] इसी प्रकार रन्न ने 'अजितपुराण' 'गदायुद्धम' और 'सहसभीमविजयम' नाम से नाट्य काव्य भी लिखा है। इसमें अपने संरक्षक राजा सत्याश्रय का 'महाभारत' के भीम के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है।[10] अन्य रचनाकारों में नागचन्द्र है जिसको अभिनव पंप (पंप द्वितीय) के नाम से भी जाना जाता है। इन्होंने 'मल्लिनाथ पुराण' (19 वें तीर्थकर की कथा) और 'रामचन्द्रचरित–पुराण' नामक ग्रन्थ लिखे । यह वाल्मीकि की कहानी से कुछ भिन्न है । इसके अनुसार राम ने जिनदीक्षा ग्रहण की थी । वे जैन मुनि बन गये और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया ।

चावुंड़–चावुंड़ गंग राजा रायमल्ल चतुर्थ (974–984) के मन्त्री थे । श्रवणवेलगोल में गोमतेश्वर की मूर्ति की स्थापना कराने पर उन्हें राय की उपाधि से विभूषित किया गया था। इन्होंने 'चावुंड़राय पुराण' की रचना की थी । इसमें चौबीस तीर्थकरों के जीवन का समावेश हुआ है। अन्य लेखकों में नागवर्मा (छंदोम्बुधि), केशिराज (शब्द मणिदर्पण), नेमिचन्द्र (लीलावती, नेमिनाथपुराण), रूद्रभटट (जगन्नाथ विजय), हरिहर (गिरिजा कल्याण), रघवांक (हरिश्चन्द्र काव्य) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं ।

ohj'kSo ;k fyaxk;r dky % 12वीं शताब्दी में बसवेश्वर के द्वारा वीरशैववाद का जो पुनरुत्थान हुआ वह धार्मिक आन्दोलन के साथ सामाजिक क्रांति भी था। बाहरी आक्रान्ताओं के कारण देशवासियों के मन में स्वाभिमान की भावना लुप्त हो चुकी थी, बसवेश्वर ने ड़नमें पुनः स्वाभिमान जगाया। यही उनकी सबसे बड़ी सिद्धि थी। वीरशैववाद के आन्दोलन ने कन्नड़ साहित्य को अभिव्यंजना का साधन दिया जिसमें काव्य का माधुर्य भी था और गद्य का पैनापन भी। यहीं से वचन शैली का आविर्भाव हुआ।[11] वचनों की शैली सरल होती है और वाक्य–रचना गद्य की सी कसी–गठी मुहावरों जैसी– घर का स्वामी अंदर है या बाहर ? द्वार पर घास जमी है और आंगन में धुलय इसीलिए पूछता हूँ स्वामी भीतर है? ....। इस प्रकार जनसाध ाारण के जीवन और अनुभवों की शब्दावली में ही बसवेश्वर ने अपने संदेश जनता तक पहुँचाया।[12] अर्थात् आमजन की भाषा को अपने लेखन में अपनाया ।

वीरशैव मत मूलतः माहेश्वर सम्प्रदाय से निकला है। 'षटस्थल' ड़समें प्रधान है। तिरुमूल्लर शैवाचार्य कहलाते थे । कश्मीरी और गौड़मत से प्रभावित शाक्त, नाथ, कावालिख कालामुख से व शैवमतों से भिन्न है । इस मत में देवता को बलि या नैवेध नहीं दी जाती, भव्य मंदिर नहीं बनाये जाते, उत्सव नहीं किये जाते। इसमें शरीर पर लिंगधारण अनिवार्य है। सात्विक शाकाहार का सेवन और एकेश्वरवाद पर बल दिया जाता है। शिव, कर्ता, भर्ता और हर्ता हैं। नंदी, भृंगी, वृषभ, स्कन्द पांच गणाधीश्वर हैं। ऐसे 250 वचनकार हैं। जिनमें प्रथम देवररासिभट्‌टैय हैं। महादेवी अम्मा, सिद्धराम, आयंड़विक पारैय, अल्लमप्रभु (शून्यपुराण के रचनाकार) आदि वचनकारों में प्रमुख संत है। अक्का महादेवी और अल्लमप्रभु ने 'रगलै' में लिखा था। नेमिचन्द्र ने 'नेमिपुराण' में चरित्र द्वारा अहिंसा का महत्व सिद्ध किया। निजगुण शिवयोगी ने 'कैवल्यपद्धति', 'परमानुभव बोधे', 'परमार्थगीते', 'अनुभवसर', 'विवेकचूड़ामणि' आदि ग्रन्थ रचे थे। सर्वज्ञ ने 'त्रिपदी' छंद में कविता की थी।

बसवेश्वर से प्रभावित होकर 14 वीं शताब्दी में भीमकवि ने 'वसवपुराण' की रचना की। 1680 की होन्नम्मा कन्नड़ की प्रथम कवियित्री थी। वचन के लेखकों के अतिरिक्त कन्नड़ साहित्य में लिंगायत लेखक भी थे, जिसमे प्रथम हरिश्वर माने जाते हैं। हरिश्वर ने 'पंपशतक' नामक काव्य की रचना की थी। शिव और पार्वती के विवाद को आधार बनाकर 'गिरजा कल्याण' लिखा और 'शिव–गणद रगलेगलु' में प्राचीन शैवमत के 63 संतों के अतिरिक्त 'वासव' तथा अन्य भक्तों के जीवन पर प्रकाश ड़ाला गया है। रघवांक ने 'सोमनाथ चरित' में सोमय्या का जीवन चरित्र प्रस्तुत किया है। हरिश्वर की प्रशंसा में 'हरिहर महत्व' की रचना गई थी तथा पद्धरस ने वार्तालाप की शैली में 'दीक्षाबोध' लिखा था। पालकुरीकी सोमनाथ ने 'वीरशैवमत' पर बहुत सी पुस्तकों की रचना की थी जिनमें 'सहस्त्रगण' और 'पंचतंत्र' प्रमुख है। विरूपाक्ष पंड़ित ने 'चेन्ना–वासव–पुराण' की रचना की। लकन्ना कवि ने 'शिवतत्व चिंतामणि' लिखा। गुरुवासव ने 'सप्तकाव्य', अद्श्य ने 'प्रबुद्धरायचरित' और तोण्टट सिद्धेश्वर ने 'षट्स्थल ज्ञानमृत' नामक 700 वचनों की एक गद्यमय पुस्तक लिखी थी ।

oS".ko dky % कन्नड़ भाषा के प्राचीन साहित्य में भक्ति के चार मत थे– बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव। जैन और शैव मतावलंबी लोग प्राचीनकाल से ही अपने–अपने मत के सिद्धान्तों के भक्ति विषयक ग्रंथों का प्रणयन करते रहे थे। वैष्णव विचारधारा का प्राचार अपेक्षाकृत बाद में हुआ। रामानुजाचार्य ने रामभक्तिविषयक संस्कृत ग्रन्थ लिखकर कर्नाटक में रामभक्ति की स्थापना की थी, लेकिन संस्कृत भाषा जन–साधारण की न थी और रामानुजार्य भी कर्नाटक में लंबे अरसे तक नहीं रह सके । अतः उनके द्वारा भक्ति क्षेत्र में किया गया प्रयास व्यापक नहीं हो सका।

कर्नाटक में कृष्णभक्ति (हरि) के प्रचार का श्रेय मध्वाचार्य को है । मध्वाचार्य ने दार्शनिक क्षेत्र में 'द्वैतवाद' का श्रीगणेश किया था । इस वाद में हरि (कृष्ण) को परम सत्य और परम आराध्य ठहराया गया है। अवतारवाद का रूप वैष्णवभक्ति का मेरुदंड है। मध्वाचार्य के शिष्यों ने संस्कृत भाषा के स्थान पर कन्नड़ भाषा में अपने विचार व्यक्त किये। इन अनुयायियों को दो वर्गों में रखा जाता है– दास और व्यास। कन्नड़ भाषा द्वारा अपने विचार अभिव्यक्त करने वालों को दास कहते हैं और जो संस्कृत भाषा के माध्यम के वैष्णव भक्ति का प्रचार करते थे उन्हें व्यास। कन्नड़ भाषा में वैष्णव भक्ति का प्रचार करने वालों में रुद्रभट्ट, नरहरि तीर्थ, श्रीपादराय, व्यासराय, पुरंदरदास, वादिराज, कनकदास, विजयदास, जगन्नाथ, नागणप्पा, तिम्पन्ना, चाटु विठठलनाथ, कुमारव्यास, गिरियम्मा (कवयित्री) आदि भक्त कवि हैं। रुद्रभट्ट ने 'जगन्नाथ विजय' लिखा है जो विष्णुपुराण पर आधारित तथा कृष्ण के जीवन पर लिखित चम्पू काव्य है। नरहरि तीर्थ ने 1281 ई. में विष्णु की स्तुति में गीतों की रचना की थी। नागणप्पा ने 'महाभारत' के प्रथम दस पर्वों का कन्नड़ में अनुवाद किया। तिम्पन्ना ने महाभारत के बाके शेष बचे पर्वों का अनुवाद कन्नड़ भाषा में किया और अपने संरक्षक के नाम पर 'कृष्ण–राय–भारत' लिखा। लक्ष्मीश ने 'जैमिनी भारत' की रचना की जिसमें पौराणिक जैमिनी ऋषि का चरित्र है। चाटु विठ्ठलनाथ ने भागवत का अनुवाद कन्नड़ में किया। कनकदास ने विष्णु की प्रशंसा में गीतों की रचना की। सांगत्य छंद में 'मोहन तरंगिनी' में कृष्ण की कहानियों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'नलचरित' और 'हरिभक्तिसार' षट्पदी छंद में लिखा है ।

vk/kqfud dUuM+ lkfgR; %

'दो घटनाओं ने आधुनिक कन्नड़ साहित्य के पुनरुत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दिया। पहली– कुछ धर्म प्रचारक बाइबिल का कन्नड़ भाषा में अनुवाद करके जनता के बीच आये। जिसके कारण 19वीं शताब्दी के मध्य तक छपाई शुरू हो गई थी। ड़ॉ. काल्ड़वेल ने द्रविड़ भाषाओं का एक तुलनात्मक व्याकरण लिखा और रेवरेंड़ किटल ने 19वीं शताब्दी के अंतिम भाग में एक बृहत् कन्नड़–अँग्रेजी शब्दकोश का संकलन किया था। दूसरी घटना 1890 में धारवाड़ में 'कर्नाटक विधावर्धक संघ' नामक संस्था की स्थापना थी। इसके संस्थापकों में अधिकतर अँग्रेजी शिक्षित व्यक्ति थे। जिससे अँग्रेजी पुस्तकों का पहले कन्नड़ भाषा में अनुवाद हुआ। इन अनुवाद की पुस्तकों में विविधता थी– शैक्सपियर के नाटक, मिसेज हैनरी वुड के उपन्यास, मिल हरबर्ट स्पेंसर के निबंध, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि संस्कृत कृतियों और 'शाकुन्तलम्', 'उत्तर रामचरितम्' एवं 'वेणीसंहारम्' आदि संस्कृत नाटकों का कन्नड़ भाषा में अनुवाद हुआ।'[13]

dUuM+ dfork ¼Lora=rk iwoZ ,oa LokrU=;ksÙkj½ %

सन् 1857 का स्वाधीनता संग्राम ने भारत की सभी भाषाओं के कवियों और लेखकों को प्रभावित किया था। अधिकांश साहित्य में जनता की आर्थिक दुर्दशा, शोषण, गरीबों का कष्ट, जांत–पात शोषितों के प्रति सहानुभूति एवं शोषकों के प्रति आक्रोश अभिव्यक्त हुआ है। कन्नड़ के कवि ड़ी.आर.बेन्द्रे ने अपनी कविता में लिखा है– "हम ईश्वर को दफना देंगे और उसके मजार पर प्रति रात सामाजिक आदर्शों की अगरबत्ती जलायेंग।" ड़ी.वी.गुंड़प्पा, मास्ति वेंकटेश अयंगार, सालि, आनन्दकन्द, मंगेश्वर गोविन्दपै मुलयतिभ्यापय्या की कविताओं में राष्ट्रीय भावना का स्वर मुखर है। के एस.कट्टी, आलूर, यू.नि. नरसिंहाचार्य ने भारत के प्राचीन गौरव का गान किया है। बेन्द्रे, मंगलूर, विनायक कृष्ण गोकाक, श्रीकंठप्पा, कृशंकरभट्ट आदि कवियों ने देशभक्ति में प्राणों के उत्सर्ग का महत्व स्वीकार किया है।

उन्नीसवीं शती के मुद्दणा के बाद कन्नड़ साहित्य वर्ड़सवर्थ, कीटस्, शैली आदि की प्रेरणा से रंग बदलने लगा। नवीन राजनीतिक, सांस्कृतीक परिस्थितियों ने इस बदलाव ने मदद की। ड़ी.वी.गुंड़प्पा

के नेतृत्व में तलिरू (किसलय) मंड़ली, पंजेमंगेशरत के नेतृत्व में मित्रमंड़ली पर बेन्द्रे के नेतृत्व में गेनेयरगुम्प (साथी समूह) की स्थपना हुई। कुवेंयु, पुतिन, शंकरभट्ट और विनायक आदि कवियों ने परम्पराओं की धाराओं से जुड़कर सृजन कार्य किया। श्रीनिवास आयंगार ने महत्वपूर्ण कथाकाव्यों की रचना की थी जिसमें रूप से इस प्रकार हैं— 'सौन्दर्य देवी', 'कमल', 'ठंड़ी हवा', 'अरुण' आदि। बेन्द्रे ने 'कृष्णमुरारि', 'पंख', 'मूर्ति', 'झुला', 'नादलीला', 'सखीगीत', 'कन्नड़ मेघदूत', 'गंगावरण', 'सूर्यपान', 'हृदयसमुंद्र', 'मुक्तकंठ' आदि संग्रहों और लंबी कविताओं से नवीन काव्य का समावेश किया। इस परम्परा को आनन्दकन्द, मधुरचन्न, सीतारामय्या, पुहप्पा, राजरत्नम्, शंकरभटट, गोकाक, नरसिंह स्वामी, एस. कार्के, गोपालकृष्ण अड़िम, यन्नवीर आदि ने आगे बढ़ाया था।

कन्नड़ में नई कविता का प्रारंभ 1950 ई. के आसपास हुआ था। प्रो. विनायक कृष्ण गोकाक ने बंबई अधिवेशन के भाषण 1950 में नई कविता या नव्यकाव्य शब्द का प्रयोग किया। उसी वर्ष उनका काव्य संग्रह 'नव्यकवितेगलु' प्रकाशित हुआ। जो कन्नड़ भाषा में नई कविता का यह प्रथम संकलन था। इसके बाद 'समुन्दगीतेगलु', 'भावतरंग', कटटुवेबु', 'नड़ेदु वंद दारि', 'चड़िमहले' और 'भूमिगीत' आदि काव्य संग्रह ने जमीन पर नए बीज बोए । रामचन्द्र का प्रमुख काव्य संग्रह 'एक सुत्तिन कोटे है' इसे लिविने काव्य कहा जाता है। के.एस.नरसिंह स्वामी का 'शिलालतें' प्रयोगधर्मी काव्य है । चेन्वीर कणवी के 'दीपधारी', 'नेल मुगिबु' आदि नई कविता के संग्रह हैं। कन्नड़ के अन्य नये कवियों में चंद्रशेखर पाटील, चंद्रशेखर कंबार, शंकर मोकाशो, सिद्धलिंग, पूर्णचंद्र तेजस्वी, चन्नय, अकबर अली आदि नाम उल्लेखनीय है।

dUuM+Hkk"kk e: x| lkfgR;

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह कन्नड़ भाषा का गद्य साहित्य भी आधुनिक समय में केन्द्र में आया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि इससे पहले गद्य की कृति कन्नड़ साहित्य में नहीं थी। बल्कि यह कहना ज्यादा उचित होगा की आधुनिक साहित्य का बीजारोपण तो काफी पहले हो चुका था लेकिन उसका विकास आधुनिक समय से शुरू हुआ। जिसे मुख्य रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है—

miU;kl %

कन्नड़ भाषा के इतिहास में बीसवीं शताब्दी की प्रथम दो शताब्दियों में ऐसी कृतियाँ सामने आयीं जिनका प्रेरणा स्रोत पूर्ववर्ती कृतियों से भिन्न था। एम.एस. पुट्टण्ण द्वारा रचित सामाजिक उपन्यास 'माड़िददुण्णो मराया' (जो बोया है सो काटो) को छोड़कर सभी रचनाएँ बँगला या मराठी कृतियों से प्रेरित थी या रूपांतरित थी। वासुदेवाचार्य केरुर ने तीन उपन्यास लिखे हैं। शेक्सपियर के 'रोमियो एण्ड़ जूलियट', 'मर्चेट आफ वेनिस' का अनुवाद किया तथा 'इन्दिरा' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा। पिछले कुछ वर्षों में कई उपन्यासकार सामने आए हैं। इनमें प्रमुख रूप से मैसूर के कृष्णराव, दक्षिण कन्नड़ के शिवराम कारंत, उत्तर कर्नाटक के मीर जी अण्णारा, बसवराव कट्टीमनि और बी.एम. इनामदार प्रमुख हैं। कारंत ने सामाजिक विषय पर लिखा है। उनका सबसे छोटा उपन्यास 'चीमनदुड़ी' है इसमें एक अछूत के जीवन का चित्रण है। नरसिंह शास्त्री, श्रीरंग, कृष्ण शर्मा, गोकाक, मुगली आदि नयी पीढ़ी के लेखक हैं। प्रयोगशील उपन्यासकरों में श्रीरंग के उपन्यास 'अनादि' में पहली बार यौन समस्या का निर्भीक चित्रण हुआ है और 'प्रकृति पुरुष' में दलित वर्गों की समस्याएं हैं। नये उपन्यासकारों ने साधारण मनुष्य की समस्याओं को केन्द्र में रखा है। इस प्रसंग में रामानुजन का 'मालदी मीनू' यु.आर.अनंतमूर्ति का 'संस्कार' यशवंत मित्तल का 'मुरुड़ेरिगलु' शांति नाथ देसाई का 'मुक्ति' मिरप्पा का 'वंशवृक्ष' आदि प्रमुख ड़पन्यास हैं।

dgkuh %

कन्नड़ साहित्य में केरुर ने कुछ कहानियाँ लिखी हैं किन्तु कलात्मक कहानियों के प्रथम लेखक मास्ति वेंकटेश आयंगर (श्रीनिवास) हैं। उन्होंने घरेलू व रोजमर्रा के जीवन की घटनाओं पर आधारित कहानियाँ लिखी हैं। उनकी लम्बी कहानी 'सुब्बण्ण' सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है । यथार्थवादी कहानीकारों में सी.के. वेंकटराय्म, कृष्णराव, कट्टीमनि, कृष्ण शर्मा, गोरुर गोस्वामी आयंगर आदि प्रमुख हैं। नये कहानीकारों में यशवंत चित्तल, यु.आर. अनंतमूर्ति (पर्वतीय क्षेत्र का चित्रांकन किया है), पी.लंकेश, शांतिनाथ देसाई, सदाशिव आदि प्रमुख कहानीकार हैं ।

ukVd %

अपवाद स्वरूप 17वीं शती में 'मित्रविंदा गोविन्द' नामक नाटक कन्नड़ भाषा में लिखा गया था जो श्री हर्ष की रत्नावली का रूपान्तर था। केरुर वासुदेवाचार्य का 'नल दमयन्ती' संभवतः प्रथम कन्नड़ भाषा का मौलिक नाटक है। इसके पश्चात् नारायण राव ने 'स्त्रीधर्म रहस्य', कैलासम् ने 'टोललुगटिटट', 'होमरुलु' नाटक की रचना की। के.एस. कारंत, श्रीरंग, पुटप्पा, एम.गोविन्द पई, पुराणिक, कुलकर्णी, मुगली महत्वपूर्ण नाटककार थे। स्वाधीनता के पश्चात् नाटककारों में गिरीश करनाड, पी.लंकेश, चंद्रशेखर पटेल, चंद्रशेखर कंवर हैं। करनाउकृत 'तुगलक' और 'हयवदन' का अन्य भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी में अनूदित और अभिहित हो चुके हैं ।

इस प्रकार देखते हैं, तो पाते हैं कि कन्नड़ साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की तरह निरंतर विकास की ओर अग्रसर होता जा रहा है। नई–नई सामाजिक–राजनैतिक चुनौतियों और संभावनाओं को इस भाषा के साहित्यकार आत्मसात कर रहे हैं। निरंतर बदलते परिवेश को अपनी कलम के माध्यम से कलमबद्ध कर रहे हैं ।

lUnHkZ %

1. नगेन्द्र (संपादक), भारतीय साहित्य, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्कार– 2013, पृ. सं. 93
2. के. विजय कुमार, भारतीय भाषा परिचय, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण 2010 पृ. सं.– 88
3. रामछबीली त्रिपाठी, भारतीय साहित्य, वाणी प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2008, पृ. सं.–129
4. के. विजय कुमार, भारतीय भाषा परिचय, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित, द्वितीय सं.– 2010 पृ. संख्या–81
5. नगेन्द्र (संपादक), भारतीय साहित्य, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्कार 2013, पृ. सं.– 101
6. रामछबीली त्रिपाठी, भारतीय साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 2008, पृ. सं.–130
7. वही, पृ. सं – 130
8. नगेन्द्र (संपादक), भारतीय साहित्य, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्कार– 2013, पृ. सं.– 101
9. रामछबीली त्रिपाठी, भारतीय साहित्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण– 2008, पृ. सं.–131
10. नगेन्द्र (संपादक), भारतीय साहित्य, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्कार –2013, पृ. सं.– 101
11. रामछबीली त्रिपाठी, भारतीय साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण –2008, पृ. सं.– 131
12. नगेन्द्र (संपादक), भारतीय साहित्य, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्कार 2013, पृ. सं.– 106
13. नगेन्द्र, (संपादक) भारतीय साहित्य, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्कार 2013, पृ. सं.– 111

if=dk,¡ %

1. समकालीन भारतीय साहित्य, सं. मंड़ल, सुनील गंगोपाध्याय, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, अग्रहार कृष्ण मूर्ति, अतिथि सं. प्रभाकर श्रोत्रीय, अंक 157
2. समकालीन भारतीय साहित्य, सं. मंड़ल, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, के. श्रीनिवास राव अतिथि सं. डॉ0 रणजीत साहा, अंक –164
3. समकालीन भारतीय साहित्य, सं. मंड़ल, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चन्द्रशेखर कंबार, के. श्रीनिवास राव अतिथि सं. डॉ0 रणजीत साहा, अंक 168
4. समकालीन भारतीय साहित्य, सं. मंड़ल, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चन्द्रशेखर कंबार, के. श्रीनिवास राव अतिथि सं. डॉ0 रणजीत साहा, अंक 170

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

ukxktZqu d miU;klks esa gkf’k, dk lekt

fl;kjke*

प्रख्यात कवि–कथाकार के रूप में चर्चित नागार्जुन का पूरा नाम वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' 'नागार्जुन'। 1911, की ज्येष्ठ पूर्णिमा को जन्मे नागार्जुन का मूल निवास–स्थान तरौनी, जिला दरभंगा (बिहार) है। उनके उपन्यास हिंदी और मैथिली की 'क्लासिक' परम्परा में आ चुके हैं। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मिथिला अंचल की सामाजिक कथा एवं व्यथा का तथा जीवन के विविध महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों को प्रमुखता के साथ यथार्थ रूप में अंकित किया है। नागार्जुन ने मिथिला की धरती पर अपनी अधिकतर आंचलिक रचनाएं की हैं। लेकिन एक बात तो तय है कि इनकी रचनाओं में आंचलिकता से अधिक महत्त्व इनके पात्रों और पात्रों के जीवन संघर्ष का है। जो कि ग्रामीण जनता के शोषण और स्रोतों का काला चिट्ठा खोलती है तथा इनके शोषित पात्र हिम्मत और बहादुरी के साथ अपने वर्ग–शत्रु को पहचानते हैं तथा उनसे अंतिम समय तक संघर्ष करते हैं। इनका 'बलचनमा' एक निम्नवर्ग के प्रतिनिधि की आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत उपन्यास है। बलचनमा के परिवार के सभी सदस्य मजदूरी करते हैं और साथ ही जमींदारी प्रथा के शोषण के शिकार भी होते हैं। बलचनमा के पिता का यही कसूर था कि वह जमींदार के बगीचे से एक कच्चा आम तोड़कर खा गया। इस आम के लिए उसे अपनी जान गँवानी पड़ गई। गरीब जीवन की त्रासदी देखिये कि पिता की दुखद मृत्यु के दर्द से आँसू अभी सूखे भी नहीं थे कि उसी कसाई जमींदार की भैंस चराने के लिए बलचनमा को बाध्य होना पड़ा। बात यहीं खत्म नहीं होती बलचनमा की जवान बहन भी जमींदार के कामवासना की शिकार बनती है। बलचनमा अपनी आंतरिक शक्ति का विकास कर शोषण और शिकंजों को तोड़ने की कोशिश में घायल हो जाता है।

'इमरतिया' और 'जमनिया का बाबा' नागार्जुन के दोनों एक ही उपन्यास हैं, सिर्फ अलग–अलग नामों से छपे हैं। 'जमनिया का बाबा' उपन्यास में जेल के अन्दर सूखे पाखाना को देखकर महन्त मस्तराम का मन भिनभिना जाता है, और सबसे ज्यादा तकलीफ तब होती है जब वह असरफी जो जाति से भंगी है को पाखाना उठाते और साफ–सफाई करते देखता है वह सिपाही रामसुकुल से पूछता है कि आजकल तो बहुत ही अच्छे तरीके के पाखाना बन रहे हैं जिसमें किसी सफाई वाले को इस तरह से मैला उठाने की जरुरत नहीं हैं तो वह कहता है– "समाज के अन्दर जब तक भंगी–मेहतर रहेंगे, तब तक सफाई का यही सिलसिला चलता रहेगा।" इस पर सुकुल से मस्तराम ने पूछा– "तो हमेशा जेल के अन्दर भंगी–मेहतर रखने पड़ेंगे। ऐसा भी तो होता होगा कि कभी–कभी एक भी भंगी या मेहतर न रहता हो। दूसरी जातियों के कैदी और जब कुछ करेंगे,पाखाने साफ नहीं करेंगे तो अक्सर मेहतरों के अभाव में यहाँ सफाई का काम रुक जाता होगा।" इन बातों से सिपाही रामसुभग के मन गुदगुदाहट हुई और भभाकर हँसते हुए बोले– "नहीं महाराज कभी मेहतर की कमी यहाँ नहीं होती। दो ठो, एक ठो हमेशा रहते हैं।" मस्तराम जो मठ के अन्दर लोगों को बेवकूफ बनाकर पैसे ठगता था, छल–कपट से हमेशा लदा रहता था आज जाने उसे क्या हो गया था जब भी वह असरफी को देखता उसका दिल उसके दिमाग को सोचने पर मजबूर कर देता था। मस्तराम को 'सेल' के अन्दर सिपाही सुकुल पुराने अखबार पढ़कर सुनाते थे जो आज भी सूना रहे थे कि– "बिहार के अन्दर मुंगेर जिले में हजारों हरिजन इस वर्ष ईसाई हो गए...। सूखा–संकट के चलते, उनकी हालत बदतर हो गई थी। ईसाईयों ने इतनी अच्छी तरह उनकी सहायता की कि उन्होंने

*शोधार्थी– हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

ईसामसीह के चरणों में अपना–अपना जीवन अर्पित कर दिया...।" यह समाचार सुनकर मस्तराम के अन्दर असरफी के प्रति जो विचार आता है – "यह समाचार सुनकर मेरे अन्दर एक अजीब सी खलबली मची। मैंने बार–बार अपने को समझाना चाहा, लेकिन बेचैनी खत्म नहीं हुई। परसों और कल और आज जितनी बार यह भंगी मेरे सामने आया है, वह बेचौनी उबाल खाने लगी है। तबियत में आया है कि पाखाना साफ करने वाले इस आदमी को मैं भड़का दूँ, कह दूँ– जा, तू भी ईसाई बन जा! अगर ऊँची जात वालों की विष्ठा से छुटकारा चाहता है तो महाप्रभू ईसामसीह की छत्रछाया में चला जा! मेरे कहे मुताबिक कल तू ईसाई हो जाएगा तो फौरन तेरी तक्दीर ऊँची उठ जायेगी, तेरा गोत्र ऊपर उठ जाएगा, तेरे बाल–बच्चे कान्वेंट में मुत शिक्षा पाने लगेंगे। डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, वकील, लीडर, क्रिकेट और फुटबाल के चौम्पियन और जाने क्या–क्या बनेंगे तेरे बाल–बच्चे! फिर किसी की हिम्मत नहीं होगी जो तुझसे भंगी–मेहतर का काम ले...।" मस्तराम ने सिपाही रामसुभग से कहा– "आप लोग जादू जानते हैं! मिट्टी का मेहतर गढ़ लेते होंगे वही पाखाने की सफाई करता होगा! कोई जरुरी है कि भंगी–मेहतर हमेशा नियमित तौर पर अपराध करते चलें और गिरफ्तार होकर नियमित तौर पर पाखाने की सफाई के लिए जेल के अन्दर रहा करें?" सुकुल जी ने लाठी पटक कर कहा– "हाँ, ऐसा ही होता है । जेल के दफ्तर में चार्ट बना होता है, उसमें छोटी बड़ी जेलों के अन्दर मेहतरों, मालियों, रसोईयों, हजामों की सजा की अवधि, छूटने की तारीख आदि के बारे में लिखा रहता है।...छोटी जाति वालों और आदिवासियों पर खास निगाह रखी जाती है। सचमुच का भंगी–मेहतर न हुआ तो दबाव डालकर आदिवासी से भी सेवा का यह काम लिया जाता है।" प्रशासन के अन्दर भी हाशिए के लोगों के प्रति कितनी घृणा है इनका शोषण करने के लिए यह सरकारी हुक्मरान किस प्रकार जेल के बाहर–भीतर साठ–गाँठ किये हुए हैं इस उपन्यास में बखूबी देखा जा सकता है आखिर क्यों न हो सरकारी हुक्मरान में जो जेलों और दफ्तरों के बीच में शोषक बैठे हुए हैं वह भी तो इसी समाज के हिस्से हैं।

नागार्जुन के स्त्री पात्र अपनी सामाजिक, चारित्रिक परिवेश के प्रति अत्यधिक जागरूक एवं सचेत दिखलाई पड़ते हैं, पुरुष पात्रों की अपेक्षा। प्रकाश चन्द्र गुप्त ने नागार्जुन की रचनात्मक ऊर्जा की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "उनके कठोर अनुभवों की ज्वाला में तपकर उनकी प्रतिभा सोने के समान चमकी है। नागार्जुन की प्रेरणा शिल्प के कौशल से नहीं वरन् जीवन अनुभवों की गहराई और तिक्तता से शक्ति पाती है। नागार्जुन जन–मन के साथ गहरी आत्मीयता और तादात्म्य स्थापित करते हैं उनकी साहित्यिक शक्ति का यही आधार है...।" नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला का समाज रुढ़ियों में बुरी तरह से जकड़ा हुआ है जो मिथिला का यथार्थ है। नागार्जुन ऐसे धरातल पर रचना लिख रहे थे जहाँ स्त्री को स्त्री नहीं, बल्कि एक मशीन और गुलाम समझा जाता था। बाल–विवाह जैसी कुरीतियों ने अनेकों नवयुवतियों का बलिदान लिया है और कितनों ने तिल–तिल जलकर अपने जीवन को हवनकुंड में झोंक दिया है। 'पारो' एक ऐसी ही नवयुवती की कहानी है जो मिथिलांचल में व्याप्त धार्मिक कुरीतियों के कारण इस हवन कुंड में भस्म हो जाती है। 10 से 12 वर्ष तक की मासूम बच्चियों का विवाह 60–65 वर्ष तक के बुड्ढ़े के साथ जबरदस्ती कर दिया जाता था। 'पारो' उपन्यास में एक .श्य है जो स्वप्न में प्रतीक के माध्यम से दर्शाया गया है– मैंने मना किया तो मनुष्य की आवाज में बोल उठा कि– तुम क्यों टर्र–टर्र कर रहे हो। मैं जंगली जीव हूँ और गुलाब भी जंगल का ही है। इसकी कली के उपभोग का अधिकार केवल भौंरे को ही नहीं, मुझे भी है। कली नहीं खिली रहेगी तो इसलिए छोड़ दूँगा?" पारो का पति चौधरी भाँग खाकर नशे में पारो के साथ उस समय जबरदस्ती बलात्कार करता है जब पारो मात्र 12–13 वर्ष की रहती है और तड़पते हुए आँगन में छोड़ जाता है। जब बिरजू ने पारो को आँगन में तड़पते हुए देखा तो वह पारो के पास जाता है– "पारो उठकर बैठ गई। चारों ओर ठीक से देख लिया और तब साड़ी के उस हिस्से पर मेरा हाँथ ले गयी जो दूर तक भीगा हुआ था। देह सिहर गई मेरी। यह क्या है?–पूछा। उसने कहा– खून। खून!।"

आखिर संकट की वह घड़ी नजदीक आ ही गई जिससे हर कम उम्र की माँ डरती है, पारो माँ बनने वाली थी और बनी भी लेकिन पारो ने अपने बच्चे को भर दृष्टि देखा भी न था कि लोगों ने पारो

नामक अब उस निर्जीव शरीर को घर के बाहर लाकर रख दिया। नागार्जुन ने पारो के माध्यम से इस देश के तमाम उन मांओं की कहानी बताई है कि जो उम्र उनके खेलने–कूदने की होती है उस उम्र में यह निर्दयी समाज अपनी बेटी से भी कम उम्र के बच्चियों के हाँथ में खिलौने की जगह मातृत्व सौंप देता है। जिसका भार अक्सर बेटियाँ उठा नहीं पाती हैं और इस दुनिया से...। नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास विधवा जीवन की वह पीड़ा है जिसमें स्त्री घुट–घुट कर दम तोड़ देती है। जिसमें विधवा को समाज का सबसे निकृष्ठ प्राणी समझा जाता है ना तो वह अच्छा खा सकती है ना ही अच्छा ओढ़–पहन सकती है। उसके ऊपर वह सभी बंधन लगा दिए जाते हैं जो मानव शरीर के लिए आराम दायक हो, लेकिन यह बंधन सिर्फ विधवा के लिए था विधुर के लिए नहीं। सारा खेल स्त्री के (विधवा) दुबारा शादी करने से था यदि विधवा की दुबारा शादी हो जाती तो ज्यादातर परेशानियाँ हल हो जाती परन्तु ऐसा न था। एक दिन दूर की किसी भाभी ने रतिनाथ से खुलासा कहा–"लाला,तुम्हारी चाची की अगर दूसरी शादी हो गई होती तो ठीक था... पण्डित की लड़की होकर तुम ऐसी बातें करती हो। दूसरी–तीसरी शादी क्या कभी किसी विधवा या सधवा ब्राह्मणी ने की है?" रतिनाथ की चाची दूसरी शादी नहीं कर सकती थी क्योंकि वह स्त्री थी। जबकि वहीं 'पारो' उपन्यास में पारो का पति पारो से पहले भी कई स्त्रियों से शादी कर चुका था और पारो के मरने के बाद भी शादी करता है। वहीं बिहार के मिथिला में 'बिकौआ' प्रथा भी थी जिसमें पुरुष 20 से 22 तक शादियाँ करता था और अपनी कुलीनता बेचकर जीवन यापन करता था। परन्तु वहीं स्त्री यदि विधवा हो गयी तो दुबारा सधवा होना असंभव था। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में "जनक किशोरी और शकुन्तला, इन्द्रमणि की वही लड़कियां हैं जिनका व्याह 'बिकौआ' प्रथा से हुआ था। इन दोनों का गाँव के ही एक तो अपने चचेरे भाई ही से तथा दूसरी का कुल्ली राउत के बेटे से गुप्त स्नेह सम्बन्ध था क्योंकि इनका पति बिकौआ महाशय साल–डेढ़ साल पर आता और महीने दो महीने में चला जाता।"

नागार्जुन मिथिला के बड़ी जाति का यथार्थ व्यक्त करते हुए उस समय लिखते हैं जब रतिनाथ की चाची विधवा रूप में गर्भवती हो जाती है और मायके में चोरी से आठ माह का गर्भ गिरवाती है, गर्भ गिराने वाली बुधना चमार की औरत, गौरी (रतिनाथ की चाची) की माँ से कहती है– "पर एक बात कहती हूँ, माफ करना, बड़ी जात वालों की तुम्हारी यह बिरादरी बड़ी मलिच्छ, बड़ी निठुर होती है मलिकाइन! हमारी भी बहू–बेटियाँ राँड़ हो जाती हैं, पर हमारी बिरादरी में किसी के पेट से आठ–आठ नौ–नौ महीने का बच्चा निकालकर जंगल में फेंक आने का रिवाज नहीं है। ओह, कैसा कलेजा होता है तुम लोगों का! मइया री मइया!।" लेकिन नागार्जुन के स्त्री पात्र अपनी भलाई–बुराई खूब समझती थीं यह बात अलग थी कि परिस्थितियों ने उन्हें दास बना डाला था। इमरतिया उपन्यास मठों की दुराचार पूर्ण जिंदगी का दस्तावेज है। साधु–संतों, ठगों और अपराधियों के दुष्चक्र में फंसी एक भावुक युवती इमरतिया की कहानी जिसकी तस्वीर हम समाज में कहीं भी देख सकते हैं। इमरतिया कहती है कि– "मैं लम्बे अरसे के लिए पालतू बना ली गई हूँ। चाहूँ तो हमेशा के लिए इसी तरह का जीवन गुजार सकती हूँ। फिर भी लगता है उस भिखारिन में और मुझमें कोई खास अंतर नहीं है।" इमरतिया का स्त्रीत्व जागता है, वह जमनिया मठ की सधुवाइन है फिर भी अपना काम खुद कर लेना चाहती है और किया भी। मठ में एक दूसरी स्त्री है गौरी जो अब हरिद्वार के मठ में रहती है उसे कच्चा चबाने के लिए मर्द चाहिए चाहे दस वर्ष का हो या सत्तर साल का। परन्तु इमरतिया के अन्दर इस तरह की कोई इच्छा न थी। लेकिन रतिनाथ की चाची की इच्छा यह है कि– "मनुष्य होकर जन्म लेना अच्छा नहीं है। हे भगवान, अगले जन्म भले ही मैं चुहिया होऊं, भले ही नेवला, मगर चेतनामय इस मानव समाज में कभी न पैदा होऊं।"

नागार्जुन जाति से ब्राह्मण थे बाद में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेते हैं। इन्होंने कहीं पर भी अपनी रचनाओं में जाति–धर्म को लेकर पक्षपात नहीं किया है सिर्फ समाज का यथार्थ ही प्रस्तुत किया है। शायद यही कारण है कि इन्हें समाजवादी–यथार्थवादी, सुधारवादी और आदर्शवादी रचनाकारों की श्रेणी में उच्च स्थान पर रखा जाता है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में कुल्ली राउत शूद्र था लेकिन हाव–भाव बात–चीत से तथा शारीरिक ढाँचे से ऊँची जाति का लगता था। रत्ती कहता है कि– "उसे संस्कृत के कई स्त्रोत्र याद थे। जनेऊ का मन्त्र वह जानता था। गायत्री मन्त्र भी उसे आती थी। संकोच इसलिए कि जिस

गायत्री के लिए ब्राह्मण बटुकों का उपनयन संस्कार होता है, जो सिर्फ द्विजों की चीज है, उस महान प्रणव को एक शूद्र जान जाय, यह असह्य है। जाने कैसे उसने सीख ली थी। जयनाथ से किसी ने इस बात की शिकायत की, तो वह फुफकार उठे। साले की चमड़ी उधेड़ लूँगा। शूद्र है तो शूद्र की भाँति रहे।" जयनाथ जैसे आज भी इस समाज में न जाने कितने लोग हैं वह नहीं चाहते की दलित पढ़े–लिखें, उन्हें यह लगता है कि दलित सिर्फ उनके सेवा–सत्कार के लिए ही पैदा हुए हैं। ऐसी ही मानसिकता के लोगों ने दलित एवं शोषित को हाशिये पर ला दिया है जो आज जानवरों से भी बद्तर जीवन जीने को मजबूर है। रतिनाथ को कुल्ली राउत बहुत ही चतुर, बहुत ही व्यावहारिक, और बहुत बड़ा ज्ञानी मालूम पड़ा। वह सोचने लगा– "अगर यह भी ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ होता, तो निश्चय ही इसके बदन पर फटे–पुराने कपड़े न होते। हमारी जूठन खाकर, हमारा पहिरन पहनकर इनके बच्चे पलते हैं। उन्हें कभी स्कूल और पाठशाला जाने का अवसर नहीं मिलता। क्या मर्द क्या औरत– इन लोगों का जीवन बड़ी जाति वालों की मेहरबानी पर निर्भर है।" नागार्जुन के इन विचारों को आज भी नकारा नहीं जा सकता आज भी न जाने कितने परिवार हैं जो जूठन खाने और उतारन पहनने को मजबूर हैं, और कितनों ने स्कूल का मुँह तक नहीं देखा।

नागार्जुन का 'कुम्भीपाक' उपन्यास स्त्री के नरकीय जीवन की गाथा है, इस समाज ने स्त्री को केवल उपभोग की वस्तु समझा है। पुरुष का स्त्री के प्रति पदार्थवादी नजरिया इस उपन्यास में बखूबी दिखलाई पड़ता है। एक ही मकान में छः किरायेदारों की जीवनचर्या पर केन्द्रित यह उपन्यास हमारे विकासमान नगरीय जीवन के जिस सामाजिक यथार्थ की परतें खोलता है, प्राकांतर से वह समूचे भारतीय जीवन का यथार्थ है। आर्थिक आभाओं से पिसती अनेकानेक निर्दोष जीवनेच्छायें किस प्रकार भोगवाद की भट्ठी में झोंक दी जाती हैं, उनकी पीड़ा और मुक्तिकामी छटपटाहट को नागार्जुन ने गहरी मानवीयता के साथ चित्रित किया है। स्त्री को अपने ऊपर होने वाले अत्याचार की खबर कहीं न कहीं प्रकृति उसे अग्रिम रूप में दे ही देती है। जब भुवनेश्वरी (भूवन) की बुआ ने भुवन से कहा था– "दादा दो–एक रोज के लिए बाहर जा रहे हैं, तू भी जायेगी साथ।...भूवन का माथा ठनका, 'मुझे आज बेचने तो नहीं जा रहे हैं? मनोरमा को भी कहीं इसी तरह छोड़ आये थे...अच्छा जजमान कोई फँसा होगा...कितने में बेचेंगे मुझे? तीन हजार में? पच्चीस सौ में? पन्द्रह सौ में? इसीलिए शाम को कल दो नफीस साड़ियाँ आई हैं। चमकीले ब्लाउज...नकली हीरे के टाप्स...नेल पालिश...लिपस्टिक...स्नो और पाउडर...सिर चकराने लगा भुवन का।" भुवन कंपाउंडर की बीबी के मदद से घर से इसलिए भाग जाती है कि उसके चाचा और बुआ उसे किसी से बेचने का सौदा कर चुके होते हैं। कहा जाता है कि स्त्री ही स्त्री की सबसे बड़ी दुश्मन होती है पर हर बार यह सत्य नहीं होता है क्योंकि 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में दमयन्ती जो खुद एक स्त्री है, उमानाथ के कान भर कर रतिनाथ की चाची यानी उमानाथ की माँ को ही पिटवाती है–"बबुआ तेरी माँ ऐसी कुलबोरनी निकलेगी, इस बात का जरा भी पता होता तो कभी मैं बैद्यनाथ की शादी तरकुलवा में नहीं होने देती।" लेकिन यहाँ ठीक उसका उल्टा है कंपाउंडर की बीबी भुवनेश्वरी को अपने सोने के कमरे में डालकर बोली– "घबड़ाना नहीं इन्दो, आज से तेरी नई जिन्दगी शुरू हुई...उन शैतानों से मैं निबट लूँगी, तू रत्ती–भर फिक्र न कर..." "अब तुझे कोई बेच नहीं सकता, न खरीद ही सकता है कोई। तुझ पर तो मेरा ही हक है। मैंने तुझे अपना दिल देकर खरीद लिया है। देखूं कौन मेरी बहन का गला काटता है।"

नागार्जुन का 'नयी पौध' उपन्यास की कथा बहुत सरल है, परन्तु यह कथा जितनी सरल दिखती है, है नहीं। पण्डित खोंखाई झा अपनी नतनी विश्वेश्वरी (बिसेसरी) के लिए साठ–पैंसठ साल के व्यक्ति को पूरे नौ सौ रुपये लेकर शादी के नाम पर बेचने का प्रबन्ध कर देते हैं। इससे पहले भी खोंखा पण्डित ने अपनी छः बेटियों को बेच डाला था– "महेश्वरी से उन्हें 1100 मिले थे। भुवनेश्वरी से 800 मिले थे। गुनेसरी से 700 मिले थे और धनेसरी से 900।... अब बिसेसरी का नम्बर था। फसल खड़ी तैयार थी, कटने भर का विलम्ब था।" बिसेसरी की शादी पूरे नौ सौ में खोखा पण्डित ने तय किया। बिसेसरी की बड़ी बहन रामेसरी जो तेरह साल से विधवा थी देवरानी–ननद के यातना के चलते मायके में ही रहती थी वह सोचती है कि– "बिसेसरी को कनेर की गुठली घिसकर पिला दें! क्या करेगी जी कर बिसेसरी? ऐसी

जिंदगी से मौत लाख गुना बेहतर...!" वह बहुत कुछ सोचती रही नहीं चाहती कि उसकी ही तरह उसकी बहन का भी हाल हो। लेकिन अपनी संस्कृति, रीति–रिवाजों की महानता की दुहाई देने वालों को कोई फर्क नहीं पड़ता। रामेसरी के मन में ख्याल आया– "दूल्हे को आने तो दो उस बुड्ढ़े के माथे पर अंगारे न डाल दूँ तो रामेसरी मेरा नाम नहीं! एक बुड्ढा मेरी लड़की का सींध (माँग) भरेगा, मुँह झुलसा दूंगी मरदुए का!...मैं कर क्या सकती हूँ? चीखूंगी–चिल्लाउंगी और अपना सर पटकूंगी...मुझे किसी कमरे में बंद करके साँकल चढ़ा देंगे, शादी तो होकर रहेगी...या माहूर का प्रबंध करूँ कहीं से और खिला दूँ छोकरी को..." यहाँ मिथिलाँचल के ग्रामीण जीवन की कटु सत्यता को देखा जा सकता है जो व्यक्ति के दिमाग पर जोर देने से नशें फाड़ने जैसा है। जब शादी से ज्यादा अच्छा जहर लगने लगे तब उस देश के रीति–रिवाजों को क्या कहा जाय?

खैर गाँव के नवयुवकों के बड़ी मशक्कतों से बाबू श्री चतुरानन चौधरी और विसेसरी का व्याह नहीं हुआ, जबकि ताड़ के लम्बे पत्र पर लाल स्याही से पंजीकार ने सिद्धांत (दोनों कुलों में व्याह का रिश्ता कायम हो सकता है, वर–बधू का यह सम्बन्ध सर्वथा निर्दोष है, इस प्रकार का शास्त्रीय फरमान) लिख डाला था। बाद में बिसेसरी की शादी गाँव के नवयुवक दुर्गानन्दन से करा कर मिथिलाँचल के उस गाँव में नयी पौध रोपते हैं। गाँव के बड़े–बूढ़ों की ज्दि तोड़कर तरुणों ने एक लड़की के जीवन को बर्बाद होने से बचा लिया और गाँव की तथा मिथिलाँचल की तमाम बेटियों के लिए सुखमय जीवन जीने का रास्ता खोल दिया। बेमेल शादियों की यह समस्या हमारे भारतीय ग्रामीण समाज में आज भी कहीं–कहीं विकराल रूप में मौजूद है। इस तरह की तमाम समस्याओं से निजत सिर्फ नई पीढ़ियाँ ही दे सकती हैं।

नागार्जुन के स्त्री पात्र शारीरिक रूप से भले ही कमजोर हों, पर वैचारिक रूप में वह तनिक भी पुरुषों से कमजोर नहीं हैं। शोषण के घिनौने चक्रव्यूह ने समाज के छोटे वर्ग को अभाव–अभियोग की दर्दभरी स्थिति में डाल दिया है। 'वरुण के बेटे' में बिहार के मछुओं की अभावग्रस्त जिंदगी की सम्पूर्ण तस्वीर उपस्थित है, साथ ही अन्याय और शोषण के विरुद्ध उनकी एक जुटता तथा संघर्ष का सफल चित्रण भी हुआ है। 'वरुण के बेटे' उपन्यास की माधुरी ने डिप्टी मजिस्ट्रेट को उस समय जवाब दिया जब उसके समुदाय के अच्छे–अच्छे मर्दों और मछुआ संघ का सेक्रेटरी नकछेदी हाँ जी – हाँ जी कह कर झेंप रहा था। मजिस्ट्रेट ने माधुरी से कहा– "मोहन माझी ने आखिर तुम्हें भी कम्युनिज्म का पाठ पढ़ा दिया!. .. अच्छा तो है!...राजनीति ही तो एक चीज थी, जिसे गाँवों की हमारी बहू बेटियों ने अब तक अपने पास फटकने नहीं दिया था, लेकिन तुम तो देखता हूँ...प्लीज एक्सक्यूज मी..." अपनी टूटी–फूटी हिंदी में माधुरी ने ओज भरे ढंग से जवाब दिया– "तो इसमें क्या हर्ज है हजूर। जिनगी और जहान औरतों के लिए नहीं है क्या?" "ओ..." अफसर ने घूर कर माधुरी को देखा। आखिर पुरुषवादी मानसिकता भरे इस समाज में पुरुष ने कब चाहा है कि स्त्री उसके बराबरी में खड़ी हो, स्त्री की बराबरी उसे नीचा दिखाती है। मछुआ समुदाय की यह कथा उनके जीवन की परत–दर–परत खोलती है, साथ ही सरकारी भ्रष्टाचार को भी दिखाती है कि किस प्रकार सरकारी हुक्मरान गरीबों, मजदूरों, किसानों को बेवजह परेशान करती है। पुलिस जब माधुरी को पकड़ कर ले जाती है तो माधुरी तीरा से कहती है– "बब्बू और अम्मा से कहना कि रत्ती भर भी न घबड़ाएं। हम बहुत जल्दी छूटकर वापस आ रहे हैं।"

नागार्जुन पर यह आरोप लगाया जाता है कि यदि समाजवादी और यथार्थवादी दृष्टि से देखा जाय तो इनका सिर्फ बलचनमा उपन्यास ही इस धारणा पर आधारित है, बाकी सभी उपन्यासों में वे सुधारवादी और आदर्शवादी हैं । नागार्जुन लगभग अपने सभी उपन्यासों के अंत में एक दल का निर्माण करते हैं जो सामाजिक बुराईयों और आर्थिक शोषण के खिलाफ संघर्ष करता है और ज्यादातर सफल भी होता है। इस सम्बन्ध में गोपाल राय लिखते हैं कि– "नयी पौध में प्रगतिशील युवकों का दल किशोरी बिसेसरी के साठ वर्षीय चौधरी से विवाह का विरोध करता है...सफल होता है।...उनका विवाह नई पद्धति से कराकर एक नया आदर्श पेश किया जाता है। बाबा बटेसरनाथ में किसानों का ऐसा मजबूत संगठन है कि उसके सामने जमींदार को मुँह की खानी पड़ती है। वरुण के बेटे में में मछुआ संघ की स्थापना जो मछुआरों के हितों के लिए लड़ता है।" इस प्रकार हम देख सकते हैं कि नागार्जुन ने अपने कथा साहित्य में हाशिये के समाज के लिए कितना संघर्ष किया है जिसके चलते भी इन्हें याद किया जाता रहेगा।

lUnHk %

1. जमनिया का बाबा, नागार्जुन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2007, पृष्ठ–35
2. वहीं
3. वहीं
4. वहीं, पृष्ठ–56
5. वहीं,
6. वहीं, पृष्ठ–32,36
7. आज का हिंदी साहित्य, पृष्ठ 49 उद्धृत– हिंदी उपन्यास का विकास, मधुरेश, सुमित प्र० इलाहाबाद, षष्ठ संस्करण : 2014, पृष्ठ 125
8. 'पारो' नागार्जुन सम्पूर्ण उपन्यास भाग–एक, सम्पादक–सुरेश सलित, यात्री प्रकाशन, नई दिल्ली 94, सादतपुर, पंचम संस्करण–2011, पृष्ठ–489
9. वहीं
10. 'रतिनाथ की चाची, नागार्जुन, किताब महल, इलाहाबाद, तृतीय सं. 1967, पृष्ठ– 7
11. वहीं, पृष्ठ–68
12. वहीं, पृष्ठ–23
13. 'इमरतिया' नागार्जुन के सम्पूर्ण उपन्यास भाग एक, पृष्ठ–372
14. 'रतिनाथ की चाची, पृष्ठ–156
15. वहीं, पृष्ठ–54
16. वहीं, पृष्ठ–68
17. 'कुम्भीपाक' नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण–2011, पृष्ठ–54
18. 'रतिनाथ की चाची' पृष्ठ–78
19. कुंभीपाक, पृष्ठ–56
20. 'नयी पौध' नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन पेपर बैक्स, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति 2013, पृष्ठ 10
21. वहीं
22. वहीं, पृष्ठ–11
23. वरुण के बेटे' नागार्जुन, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृष्ठ 115
24. वहीं, पृष्ठ–118
25. हिंदी उपन्यास का विकास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण–2014, पृष्ठ–219

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

frfFkLo : ifoe'k%

mek'kadj 'kek*

सम्प्रति हि पंचांगवयवभूतां तिथिमधिकृत्य महान् विवादः प्रचलित। तत्र 'दृक्–प्रत्ययकारिका कदम्बप्रोतीया एव तिथिर्ग्राह्या' इति केषाचिन्मतम्। 'बाणवृद्धिरसक्षया ध्रुवप्रोतीया एव तिथिर्ग्राह्या' इत्यपरेषां मतम्।

v= cel& इदानीन्तनेषु पंचांगेषु 'सप्तवृद्धिदशक्षया' तिथिरेव व्यवह्वियते, न तु बाणवृद्धिरसक्षयेति। तत्रादाविदं विचारणीयं यत् कया रीत्या साधिता तिथिः शुद्धा दृक्प्रत्ययकारिका च भवेदिति।

सूर्याचन्द्रमसोः सकाशादेव तिथिसाधनं क्रियते।[1] तच्च सूर्याचन्द्रमसोरस्थिररत्वात् तिथिमानं न शाश्वतिकं भवितुमर्हति। अतो भवेन्नाम कदाचित् कस्मिन् काले बाणवृद्धिरसक्षयात्मिका तिथिः शुद्धा, इदानी तु सा न व्यवहारयोग्या। इतिहासपृष्ठावलोकनेनेदं स्पष्टं यत् कालभेदात् तिथेरपि ह्रासवृद्धयोः क्रमे परिवर्तनं भवितुमर्हति।

वैदिककाले तिथेः स्वरूपं सर्वथा भिन्नमासीत्। तदानीं चान्द्रमासस्य 30 भागात्मकः कालतिथिरासीत्। यथा–

$$\text{चान्द्रमासः } \frac{1}{30} = \frac{\text{चान्द्रमासः}}{30} = \frac{29.530588 \text{ दिनानि}}{30}$$

= ·984353 दिनम्। अर्थादेकदिवसादल्पकालः।

यद्यपि वेदेषु तिथीनामुल्लेखो नास्ति, केवलं ब्राह्मणग्रन्थेष्वस्या उल्लेखो दृश्यते, यथा–

^^pUæek oS iap'k%A ,"k fg iapn';keih{krA iapn';keki;Sr **A[2]

अनेन स्फुटं यत्तदानीमपि प्रतिपदातः पंचदशी यावत्तिथेर्व्यवहार आसीत्। एवमेव ऐतरेयब्राह्मणोऽपि तिथेः परिभाषा प्रदत्ता विद्यते–

^^;ka i;Lrfe;kn~ vH;fn;kfnfr lk frfFk%A **[3]

vFkkr~ pUækn;L;k lUudky'pUækLrL;k lUudkyk okA

प्रो. पी.सी. सेनगुप्तमहोदयेनास्य व्याख्या एवंरूपेण कृता– 'kqDyi{k frFkx.kuk pUækLr ;kor] Ñ".ki{k rq pUækn;kr~ pUækLr ;kor~ dÙk0;k A[4]

इयमेव पद्धतिस्तिथिगणनायास्तदानीं प्रचलिता आसीत्। शनैः शनैः सिद्धान्तज्योतिषस्य विकासेन सह तिथिमानमपि परिवर्तितम्। 400 ईसवीयारम्भात् तिथिगणनायाः परिष्कृतं स्वरूपं व्यवहारे समायातम्। तदाप्रभृत्यनुदिनं सिद्धान्तज्योतिषशास्त्रे संशोधनं संवर्धनंच प्रचलितम्। सम्प्रति गृहीततिथ्यानयनप्रक्रियायाः सैद्धान्तिकं विवेचनं प्रस्यूते–

jfopUæ;kHkkx.kkUrjrY;kÜpkUæek lk Hkofr] ;FkkDr HkkLdj.k&

^^vUrjs rjf.kpUæpØtS ;r~ l fo/kqekl lap;%A**

यथा एकस्मन् रव्यब्दे रवेर्भगणसंख्या एकः (1), चान्द्रभगणाश्च त्रयोदश (13), अनयोरन्तरेण (13–1=12) द्वादशमासाश्चैत्रादयो भवन्ति। एकस्मिन् चान्द्रमासे त्रिशतुसंख्याकास्तिथयो भवन्ति। अमान्तादमान्तं यावच्चान्द्रमासः। अमान्तो नाम सूर्यचन्द्रयोर्योग एकत्र स्थितिर्वा राश्यादिसम्बन्धेन। अतो रवीन्द्वोरेकयोगादपरयोगं

*शोध छात्र, ज्योतिष विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

यावदेकश्चान्द्रमासः। तत्रोभयोरन्तरांशाः 3600 अंशाः। अमान्तादमान्तं यावत् त्रिंशत् संख्याकास्तिथयो व्यतीता।

ततश्चानुपातेनैकतिथिसम्बन्धिरविचन्द्रयोरन्तरांशाः— $\frac{360 \times 1}{30}$ = 12= रविचन्द्रयोरन्तरांशाः

v= LQV ;n jfopUæ;k;kxkn }kn'k&v'k ;konUrjedfrFkekueA

v=k; i'u mnfr ;r dhn'k% l;ÜpUæk ok frF;Fk xká%\

भारतीयज्योतिषसिद्धान्तेषु केवलं सौरब्राह्माख्यौ च द्वावेव सिद्धान्तौ पंचांगानां निर्माणार्थ स्वीकृतौ। तयोः सिद्धान्तयोः सर्वत्रैव कदम्बप्रोतीय—सूर्याचन्द्रमसाभ्यां पंचांगानामायनं क्रियते। यथोराधारेण सूर्यसिद्धान्तीया (मकरन्द0) ग्रहलाघवीया च सारण्यौ निर्मिते स्तः। एतच्च न केवलं भारतीयः, अपितु पाश्चात्यैराधुनिकैर्ज्योतिर्विभ्दिः कदम्बप्रोतीयसूर्याचन्द्रमसाभ्यां पंचांगानामानयनं स्वीकृतम्। तत्र केवलं पाश्चात्यमते ग्रहाणां स्फुटीकरणप्रक्रिया एव भिन्ना वर्तते। इयं प्रक्रिया सुगमा दृक्प्रत्ययकारिका च।

अत्र विचारणीयोऽयं विषयो यद् ध्रुवप्रोतीयं तिथिसाधनं सम्भवं स्यान्नवेति। किंच, ध्रुवप्रोतीयानां ग्रहाणामाधारेण स्थिरा सारणिर्निर्मातुं शक्यते न वा?

/kDikrh;frfFkxg.k&

^^vk;unDdedykIlLÑrdnEcikrh;LQVpUæL; dnEcikrh;l;.kkUrj frfFk%A jfopUæ;kxR;Urj frfFkekueA** इति तिथिलक्षणं भविष्यति। अस्मिन् पक्षे ग्रहलाघवीयम् ''भक्तं व्यर्कविधोर्लवा यमकुभिर्जाता तिथिः स्यात् फलम्'' इति तिथिलक्षणं न संघटते।

उपर्युक्तलक्षणे जिज्ञासेयं समुद्भवति यत् किं नाम दृकर्म? तस्य साधनं च कथम्?

ग्रहगतकदम्बसमसूत्रयोः क्रान्तिवृत्ते यदन्तरं तदेव दृक्कर्म नाम साधनमुपयोगशग्रे वक्ष्यते—

LQVirhR;Fk{k=e&

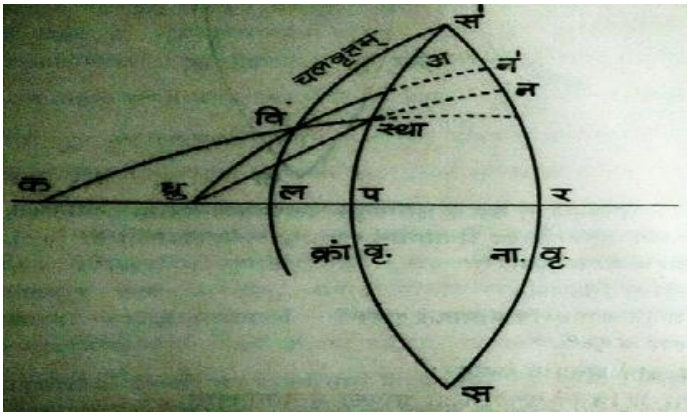

प्रस्तुतक्षेत्रे वि = चन्द्रविम्बम्, स्था = क्रान्तिवृत्ते चन्द्रस्य कदम्बप्रोतीयं स्थानम्।

अ = क्रान्तिवृत्ते चन्द्रस्य ध्रुवप्रोतीयं स्थानम्, चन्द्रायनदृग्ग्रहो वा।

अ स्था = आयनदृक्कर्मकला

वि स्था अ त्रिभुजे—

$\angle$ अ वि स्था = विम्बीयायनं बलनम्

$\angle$ स्था Z 90^0

वि अ चापं ध्रुवप्रोते स्पष्टशरः

वि स्था अ त्रिभुजं सरलं मत्वा चापस्य ज्ञानायानुपातः—

$$\frac{\text{चान्द्रस्पष्टशरः} \times \text{विम्बीयायनबलनज्या}}{\text{त्रिज्या}}$$

= आयनदृक्कर्मकलाज्या। अस्या चापं कलामानम्।

अनेन मानेन संस्कृतः कदम्बप्रोतीयश्चन्द्रो ध्रुवप्रोतीयो भवति। अनया रीत्या प्रतिदिनमायनबलनस्य शरस्य च मानं भिन्नं भिन्नं भविष्यति। अनयोर्गतिवैलक्षण्यात् काचित् स्थिरा सारणिर्निर्मातुं न शक्यते। अतो ध्रुवप्रोतीय–सूर्याचन्द्रमसोः सकाशात् तिथिज्ञाने इयमापत्तिः समायाति।

यदि दृक्कर्मसंस्कार एवं गृह्यते, तथा–

उक्तक्षेत्रे विस्था य त्रिभुज–

∠ य = 90^0 स्था = स्थानीयमायनं बलनम्।

v=kuikr%&

चान्द्रस्पष्टशरः x स्थानीयमायनबलनज्या
———————————————
त्रिज्या

= अहोरात्रवृत्तीयायनदृक्कर्मासु ज्या = (फलम्)

फलम x त्रिज्या
————— = नाडीवृत्ते आयनदृक्कर्मासु ज्या।
त्रिज्या

ततः चापं विधाय क्रान्तिवृत्ते कलामितेर्ज्ञानं कर्त्तव्यम्। सा च कलामितिरायनदृक्कर्म भविष्यति। अत्रापि आयनबलनशरयोवैलक्षण्यात् प्रतिदिवसीये व्यवहारगणिते सारण्या निर्माणे च तस्या उपयोगो न सम्भाव्यते। यदि कमलाकरभट्टोक्तरीत्या साध्यते, तदा–

चन्द्रबिम्बगतचलवृत्ते सं. वि. चलग्रहस्य साधनं कमलाकरभट्टोक्तरीत्या भवति। अस्य (चलग्रहस्य) विषुवांशं चन्द्रस्य च स्थानीयविषुवांशं संसाध्य तयोरन्तरेण क्रान्तिवृत्तीयायनदृक्कर्मकलायाः मानं ज्ञातुं शक्यते। विषयेऽस्मिन् कमलाकरेण बहवो नियमाः प्रदर्शिताः। यद्यपि आयनदृक्कर्मकलासाधनस्य सैद्धान्तिकी युक्तिस्तु वर्तत एव, परमस्य व्यावहारिकं स्वरूपं नितान्तमसम्भवम् आयनदृक्कर्मकलायाः साधनभूतानां सामग्रीणां प्रपंचबाहुल्यात्। यथा– साधनार्थमयनांशज्ञानमत्यावश्यकम्। परमयनाशस्य वार्षिकगतेः प्रभावेण चन्द्रस्यैकैव भोगांशोपरि आयनदृक्कर्मकलाया मानं प्रत्यब्देषु पृथक् पृथक् समागमिष्यति। अतोऽनया रीत्यापि सारणिनिर्माणमसम्भवम्। एवं ध्रुवप्रोतीयतिथिग्रहणे प्रत्येकपक्षेऽपि दूषणं समायाति। अतः सारणिनिर्माणेऽयं पक्षो नोपपुज्यते।

कदम्बप्रोतीयसूर्याचन्द्रमसोः सकाशात् तिथ्यानयनेऽयनांशसम्बन्धिनी काचिदापत्तिर्न समायाति; यतो हि परस्परं सूर्याचन्द्रमसोः संशोधनेनायनांशाः स्वयमेव विनष्टा भवन्ति।

यदि सूर्याचन्द्रमसोः पृथक् पृथग् विषुवांशज्ञानं कृत्वा तयोरन्तरेण तिथिसाधनं क्रियते, तदा चलायनांशवशात् तयोर्विषुवांशमपि प्रतिवर्ष पृथक् पृथग् भविष्यति। अतो विषुवांशसकाशादपि तिथिसाधनमसम्भवम्। अत्रैकोऽपरोऽपि शास्त्रीयदृष्टया विरोधः सम्भवेत्, पूर्वोक्ता तिथिसाधनप्रक्रिया असिद्धा भविष्यति। तत्रोक्तं स्पष्टविचन्द्रयोरन्तरं द्वादशभिर्भक्तं तिथिः। परमत्र रविचन्द्रयोर्विषुवांशान्तरं द्वादशभिर्भक्तं तिथिरिति भविष्यति।

इत्थं निष्कर्षरूपेणेदं वक्तुं शक्यते यत् पंचांगनिर्माणार्थ ध्रुवप्रोतीयतिथिसाधनं शास्त्रविरुद्धमशुद्धश्च। यदि केवलं ''बाणवृद्धिरसक्षयः'' इति वाक्यस्य परिरक्षणार्थ ध्रुवप्रोतीया तिथिर्गृह्यते, तदा अस्य न काचिदावश्यकता। यतो हि उक्तवचनस्य संगतिः सूर्यसिद्धान्तरीत्यापि वर्तते। यदि सूर्यसिद्धान्तानुसारं कदम्बप्रोतीया तिथिः साध्यते तदा– ''बाण–वृद्धिरसक्षयः'' इति पक्षे न काचिद् हानिः कदाचित् केवलं पलात्मकमन्तरं सम्भवेत्।

यदि ध्रुवप्रोतीयतिथिग्रहणे दृक्प्रत्ययस्य हेतुत्वं स्वीक्रियते तदा इयमापत्तिः–

परम्परागतसिद्धान्तानुसारं स्फुटग्रहाः कदम्बप्रोतीया एव भवन्ति। अनन्तरं कदम्बप्रोतीये स्फुटचन्द्रे आयनदृक्कर्मकलासंस्कारं कृत्वा ध्रुवप्रोतीयश्चन्द्रः साध्यते। अत्रेदमवधेयं यदि कदम्बप्रोतीयः स्फुटश्चन्द्रः सूर्यो वा अशुद्धो दृक्प्रत्ययाय भारतीयसिद्धान्तानुसारमागतेषु ग्रहेष्वन्ये नवीनाः संस्कारा अपेक्षिताः सन्ति। ते कदम्बप्रोतीयग्रहेषु ध्रुवप्रोतीयग्रहेषु च भवितुमर्हन्ति, साम्प्रतं प्रचलितेषु पंचांगेषु ये दृक्सिद्धा ग्रहास्ते ''नाटिकल आज्मनाक'' द्वारा साधिताः सन्ति।

एवमेव यदि चान्द्रायणदृग्ग्रहानुसारेण तिथिः साध्यते, तदा क्षयमासाधिमासयोरपि साधनं तस्यैवाध ाोरेण भविष्यति। परन्तु एतादृशो व्यवहारः शास्त्रेषु न कुत्रचिदपि दृश्यते।

अत एव पूर्वोक्तदोषभयात् पूर्वाचार्यैर्ध्रुवप्रोतीया तिथिर्न स्वीकृता, कदम्बप्रोतीया एव स्वीकृता।

वस्तुस्तिथिसाधने दृक्कर्मसंस्कारस्यावश्यकता नास्ति। परन्तु केषांचिद् विदुषां मतमस्ति यच्छाकल्येन शाकल्यसंहितायां तिथिसाधने दृक्कर्मसंस्कारस्य निर्देशः कृतो यथा–

ग्रहणादन्ययोगे च कालभेदे तथैव हि।
श्रृंगोन्नत्युदयास्तेषु दृक्कर्मादाविदं स्मृतम्।।

अत्र 'ग्रहणादन्ययोगे च' इत्यनेन तिथिरपि गृह्यते इति तेषां मतम्। परन्त्विदं न समीचीनम्। अस्य सामान्यार्थस्त्वयमेव यत् ग्रहणादिरिक्तेषु योगेषु दृक्कर्मसंस्कारः कार्यः। परन्तु 'योग' पदेन कि ग्राह्यमिति तत्र न स्फुटीकृतम् सूर्यस्द्धिान्तेऽस्य स्पष्टोल्लेखो वर्त्तते–

u{k=xg;kx"k xgkLrkn; lk/kuA
Ükxk̃urk r pUæL; nDdekZnkfon Le'reAA ¼l-fl- 7@11½

अस्यायमभिप्रायो यद् नक्षत्रग्रहाणां योगेषु द्दक्कर्म कर्त्तव्यम्। नक्षत्रग्रहाः के? भौमादयः पञ्च ग्रहाः, नक्षत्रग्रहाः,ताराग्रहा वा। तेषु योगेषु द्दृक्कर्म कर्त्तव्यम्, न तु सूर्यचन्द्रयोर्योगे, यथा सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टरूपेणोक्तम्–

rkjkxgk.kkeU;kU; L;krk ;) lekxekA
lekxe% 'k'kkdu l;.kkLreu lgAA ¼l-fl- 7/1½

अर्थात् भौमादीनां युतिर्युद्धाख्यः समागमाख्यश्च, पंचताराग्रहाणां शशाङ्केन सह युतिः समागमः, सूर्येण सर्वेषां युतिः 'अस्तं' पदवाच्या भवति। अतोऽत्र युतिपदेन तिथिर्न ग्राह्या। अत्रैदमपि विचारणीयं यद् दृक्कर्मपदेन किं ग्राह्यम्? द्दक्कर्म द्विविधम्– आयनमाक्षणं च। यत्रायनमभीष्टं तत्रायनदृक्कर्मपदेन यत्राक्षमभीष्टं तत्राक्षदृक्कर्मपदेन सर्वत्रैव व्यवहृतम्। परं यत्र केवलं दृक्कर्म एवोक्तं तत्रायनाक्ष्ज्ञयोर्योगान्तरभूतं स्फुटदृक्कर्म ग्राह्यम्।

यदि लंकादेशीय तिथिसाधनमभीष्टम्, तदा केवलमायनं दृक्कर्म एव ग्राह्यम्। परन्तु आचार्यः सर्वत्र लंकादेशीयग्रहाणामाधारेण देशान्तर चरान्तर संस्कारयोः साहाय्येन स्वदेशीयाः ग्रहाः साधिताः। ज्योतिषशस्त्रे स्वदेशीयग्रहाणां तिथिवारादीनां च साधनं विहितम्। स्यान्नाम क्वचिद् धर्मशास्त्रे लंकादेशीयतिथिप्रतिपादनम्, ज्योतिषशास्त्रे तु नैतत् काप्युक्तम्।

एवं ध्रुवप्रोतीयतिथ्यानयने समागतानां दोषाणां विवेचनं प्रदर्शितम्। अग्रे विचारणीयोऽयं विषयो यत् केन प्रकारेण सूर्यसिद्धान्तप्रक्रियया साधिता ग्रहा दृक्सिद्धतुल्या भविष्यन्ति? येन पंचांगार्थ वयमांगलदेशीयानां मुखापेक्षणं न कुर्मः, परमिदं निश्चप्रचंयद् दृक्सिद्धसूर्याचन्द्रमसोरन्तरेण समागता तिथिः 'बाणवृद्धिरसक्षयात्मिका' कथमपि न भविष्यति। केवलं प्राचीनपंचांगेषु तिथेर्मानमल्पतमं यत्र स्फुटा दृक्सिद्धग्रहाः स्थापिताः सन्ति, तत्र तिथेर्मानमल्पतमं 50 घटिका यावदधिकतमंच 67 घटिका यावद्भवति। अत्रायमेव हेतुः–

प्राचीनाचार्यैश्चन्द्रस्य मन्दान्त्यफलज्याया मानं 50 अंशात्मकं स्वीकृतम्, आधुनिकैर्विद्वभ्दिः 6)0 अंशात्मकं च स्वीकृतम्। सूर्यस्य दैनिकी मध्यमा अधिकतमा न्यूनतमा च गतिरुभयोर्मते तुल्यास्ति, यथा क्रमेणास्या मानम् 59, 61, 57 इति। एवं चन्द्रस्यापि दैनिकी मध्यमागतिरुभयोर्मते तुल्या एव। अस्या मानम् 13 11' स्वल्पान्तरतः। परन्तु चन्द्रस्य मन्दान्त्यफलज्याया नवीनप्राचीनमतयोः पृथक् पृथग् ग्रहणात् चन्द्रस्य दैनिकाधिकतमायां न्यूनतमायांच गत्यां महदन्तरं प्राप्यते।

अतः 'बाणवृद्धिरसक्षयः' इत्ययं सिद्धान्तो ज्योतिषास्त्र नियामको नास्ति। साम्प्रतं 'सप्तवृद्धिदशक्षय' इति पक्षो वर्तते। आगामिशतकेष्विदमन्तरं इति पक्षस्य दृक्प्रत्ययकारितायाश्च सहैव साधनं कर्तु समर्थश्चेत्, तथा तादृश उपायो मार्गितव्यः। स च विद्वभ्दिरवश्यं समादरणीय इति।

lUnHk %

1. भक्ताव्यर्कलवा यमुकभिर्याता तिथिः स्यात् फलम्। (ग्र.ला. 2.8), 2. तै0ब्रा0 1/5/10, 3. 3. ऐ.ब्रा. 32/10
4. द्र. पंचांग समिति की रिपोर्ट, पृ. 431., 5. सि. शिरोमणिः, ग0म0 भगणाध्यायः श्लो0 13.

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

/keZ'kkL=h; çek.k 0;oLFkk dk foopukRed v/;;u

fn0;k Hkkjrh*

धर्मशास्त्र का केन्द्र बिन्दु धर्म है। धर्म भारतीय संस्कृति का आधार है, जिस पर आरूढ़ होकर यह संस्कृति व्यष्टि में समष्टि को समाहित करती है। यह धर्म इसमें (संस्कृति) उदारता एवं संयोजकता के गुणों को विकसित करता है जिससे इसमें समन्वय एवं त्याग के भाव प्रस्फुटित होते हैं जो इस संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ बना देते हैं। क्योंकि यह धर्म सन्मार्ग का उपदेष्टा एवं समष्टि की भावना से युक्त हैं और इस धर्म का उपदेष्टा मानव न होकर सबका गुरु ईश्वर है।[1] यह धर्म सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा है जो पापों का निवर्तक है इसलिए इसमें सब प्रतिष्ठित होने से यह श्रेष्ठ है।[2] पर इस धर्म का स्वरूप क्या हैं, यह किस पर प्रतिष्ठित हैं, और इसके उपादान कौन से हैं जिससे यह अभ्युदय एवं निःश्रेयस का साधक बनता है।

धर्म– धर्म शब्द 'धृञ्' धातु से 'मन्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। अर्थात् जो प्रजा को धारण करता है या जिससे संसार को धारण किया जाये।

/kkj.kk)eZfeR;kgq/kZeksZ /kkj;rs çtk%A
;RL;k)kj.kla;qäa l /keZ bfr fu'p;% AA ¼d.kiosZ 58½

धर्म शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं से परवर्ती साहित्य तक विभिन्न अर्थों में हुआ है। ऋग्वेद में धर्म शब्द का प्रयोग आचरण नियम के अर्थ में[3], अथर्ववेद में धार्मिक क्रिया संस्कार करने पर प्राप्त गुण के अर्थ में,[4] तैत्तिरीय उपनिषद् में शिष्य के शिक्षार्थ अनुशासन अर्थ में किया है,[5] छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध बताये हैं जो आश्रम के विलक्षण कर्त्तव्य की ओर संकेत करते हैं वे हैं– 1. यज्ञ, अध्ययन तथा दान, 2. तापस धर्म, 3. ब्रह्माचारित्व।[6] पूर्व मीमांसा में वेदों के नियमानुसार आचरण को धर्म माना है।[7] वैशेषिक दर्शन ने अभ्युदय एवं निरूश्रेयस की प्राप्ति के साधन को धर्म कहा है।[8]

इस धर्म का प्रतिपादन धर्मशास्त्र के द्वारा होता है जिसमें धर्म के साथ सूत्र ग्रन्थ (धर्मसूत्र जैसे– गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब आदि), स्मृति ग्रन्थ (मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि), इतिहास ग्रन्थ (रामायण एवं महाभारत), निबन्ध एवं पुराण आदि का भी विवेचन किया जाता है। धर्मशास्त्र में निहित ग्रन्थ जैसे– धर्मसूत्र, अर्थशास्त्र, स्मृति, निबन्ध आदि ग्रन्थों में प्रमाण व्यवस्था वर्णित है। धर्मसूत्र, स्मृति एवं निबन्ध ग्रन्थों को उनकी विषयवस्तु के आधार पर तीन अध्यायों में विभक्त किया है– आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय और प्रायश्चित अध्याय। आचाराध्याय में ब्रह्मचर्य, विवाहादि संस्कार, दान, श्राद्ध तथा राजधर्म आदि का वर्णन किया गया है। व्यवहाराध्याय में व्यवहारप्रक्रिया एवं व्यवहारपदों का विवेचन किया गया है। प्रायश्चिताध्याय में अनिष्ट कार्यों के शमनार्थ प्रायश्चित व्रत, अशौच आदि का वर्णन किया गया है। धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था व्यवहाराध्याय से संबंध रखती है।

0;ogkj in ¼fookn½ dk Lo#i& व्यवहार शब्द वि. अव. हार के संयोग से बना है, जिसमें वि का अर्थ है– विविध, अव का अर्थ– संशय और हार का अर्थ हरण करना। अर्थात् व्यवहार वह है– जो किसी विषय में उत्पन्न विभिन्न संशयों को दूर करता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यवहार शब्द का अर्थ– न्याय विधि है। जिसमें व्यक्ति किसी वस्तु पर स्वत्व को लेकर विवाद को प्रकट करता है।[9] जब वादी का

*शोध छात्रा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली–110067

अभियोग ही मिथ्या हो तो उस स्थल पर राजा को वास्तविक सत्य के बारे में सत्यपथ का आश्रय लेकर विचार करना चाहिए क्योंकि राजश्री धर्म पर आधारित है,[10] उदाहरण के लिए– किसी खेत विशेष के संदर्भ में कोई एक व्यक्ति यह कहे कि 'यह खेत मेरा है' और उसी खेत के संबंध में दूसरा व्यक्ति भी कहे कि 'यह खेत मेरा है' इस प्रकार के विरोधात्मक कथन को व्यवहार कहते हैं।[11] जबकि व्यवहारपद– स्मृति एवं आचार के विरुद्ध मार्ग से किसी अन्य व्यक्ति से पीड़ित व्यक्ति जब राजा के सामने आवेदन करता है तो उसे व्यवहारपद कहते हैं।

0;ogkj çfØ;k& व्यवहार पदों के दण्ड को निर्धारित करने के लिए एक व्यवहार प्रक्रिया होती है। इस व्यवहार प्रक्रिया के चार चरण या अवस्थाएं हैं जिन्हें 'पाद' कहा गया है। ये चतुष्पाद हैं– भाषापाद, उत्तरपाद, क्रियापाद तथा निर्णयपाद। जो इस प्रकार है–

प्रथम चरण में, भाषापाद आता है जिसके अंतर्गत वादी द्वारा प्रतिवादी पर लगाए गए अभियोग के भाषण को प्राड्विवाक और प्रतिवादी के सम्मुख लिखित रूप दिया जाता है। भाषा पाद को प्रतिज्ञा या आवेदन भी कहा जाता है। द्वितीय चरण में, उत्तरपाद के अंतर्गत प्रतिवादी द्वारा स्वयं पर आरोपित विवाद से मुक्त्यर्थ प्रत्युत्तर दिया जाता है। तृतीय चरण में, क्रियापाद में विवाद के संबंध में प्रमाणों को उपस्थित किया जाता है तथा उपस्थित प्रमाणों पर सभ्यों द्वारा विचार विमर्श किया जाता है। अंतिम चरण में, निर्णयपाद के अंतर्गत उपस्थित प्रमाणों के द्वारा विवाद का निर्णय लिया जाता है।[12] अन्तिम चरण निर्णयपाद में दण्ड का निर्धारण किया जाता था। धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का संबंध क्रियापाद से है जो कि इस प्रकार है–

fØ;kikn& भाषापाद और उत्तरपाद के बाद व्यवहार का तीसरा पाद क्रियापाद है। क्रियापाद में वादी एवं प्रतिवादी द्वारा अपने अभियोग की सिद्धि के लिए प्रमाणों को उपस्थापित करना पड़ता है।[13] वादी के अभियोग के विरुद्ध प्रतिवादी उत्तर देते हुए अपने पक्ष में प्रमाण को क्रियापाद के अन्तर्गत रखता है।[14] इन प्रमाणों के आधार पर अभियोग का निर्णय किया जाता है।

çek.kk d pkj çdkj g जिन्हें मानुषी एवं दैविक प्रमाणों के अन्तर्गत विभाजित गया है[15] – मानुषी– लिखित, भुक्ति एवं साक्षी। दैविक– दिव्य।लिखित, भुक्ति, साक्षी और दिव्य प्रमाण में क्रमशः पूर्ववर्ती प्रमाण अपने से परवर्ती से अधिक प्रामाणिक माना जाता है।[16] विष्णुधर्मसूत्र[17] में प्रमाण तीन प्रकार के हैं– (1). वह जो राजा या राजकर्मचारियों के सम्मुख लिखा जाय। (2). वह जिस पर साक्षियों के हस्ताक्षर हो। (3). वह जो बिना साक्षियों के हस्ताक्षर के हो। बृहस्पतिस्मृति[18] में प्रमाण तीन प्रकार के है– (1). राज्यलेख्य– राजकीय लेख्य प्रमाण (2). स्थानकृत– किसी निश्चित स्थान पर लिखा हुआ (3). स्वहस्तलिखित– अपने हाथ का लिखा हुआ।

1- fyf[kr çek.k& लिखित प्रमाण अन्य भुक्ति, साक्षी आदि मानुषी प्रमाणों से अधिक मान्य हैं, क्योंकि साक्षी प्रमाण की प्रामाणिकता साक्षी के जीवित रहने तक ही बनी रहती है और भुक्ति प्रमाण के लिए अधिक समय तक का भोग होना आवश्यक होता है।[19] नारद ने लिखित प्रमाण को चक्षुस्वरूप माना हैं[20] क्योंकि लिखित प्रमाण का चक्षु द्वारा दर्शन होता है। लिखित प्रमाण का स्पष्टतः चक्षु माध्यम से .ष्टव्य होने पर यह देश, काल, फल, द्रव्य, प्रमाण और सीमा आदि से संबंधित निर्णयों में होने वाले संदेहों का नाश करने वाला होता है।[21] जिससे व्यवहारपद का शीघ्र निर्णय हो जाता है। जो लिखित प्रमाण को अन्य प्रमाणों से अधिक प्रमाणित बना देता है। अतः लिखित प्रमाण के माध्यम से समाज कल्याण गति को प्राप्त करता है।[22]

fyf[kr çek.k dk Lo:i& 1. सर्वप्रथम लेख में ऋणदाता और ऋणी के मध्य ऋण के लेन देन में तय हुई बात जैसे– देय ऋण की मात्रा, ब्याज की दर, ऋण को लौटाने की समयावधि आदि को साक्षी सहित उल्लिखित करना चाहिए एवं इसी में ऋणी एवं ऋणदाता का नाम एवं पतादि भी लिखना चाहिए।[23] 2. उसी लेख्य में ऋण देने एवं लौटाने के मास, पक्ष, तिथि, ऋणी एवं ऋणदाता की जाति–गोत्र. उपाधि–पिता का नाम भी लिखना चाहिए।[24] 3. लेख में पूर्वोक्त सारी बातों को लिखने के उपरान्त ऋणी द्वारा लेख में लिखित बातों को स्वीकार करते हुए, लेख के अन्त में लिखे कि– 'मुझे अमुक के पुत्र का उक्त

लेख सम्मत है' ।तदनन्तर ऋणी अपना पहचान चिन्ह हस्ताक्षर या अगूठे का निशान लगा दे ।[25] 4 पूर्वोक्त लेख में जितने साक्षी हैं वे भी अपना एवं अपने पिता का नाम लिखें, साथ ही 'मैं अमुक का साक्षी हूं' यह लिखकर हस्ताक्षर करे ।इन साक्षियों की संख्या सम में होनी चाहिए ।[26] 5. तदनन्तर लेख के अन्त में लेखक लिखे कि 'अमुक के पुत्र ऋणदाता एवं ऋणी दोनों के कथनानुसार मैंने यह लिख दिया है ।[27]'

लिखित प्रमाण की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता– 1. जो बिना बल, भय एवं छलकपट आदि के स्वयं के द्वारा लिखित हो उस लेख की प्रमाणिकता साक्षी के बिना भी होती है ।[28] 2. जो लेख देश की मर्यादा का उल्लंघन न करता हो, आधि के नियमानुसार हों अर्थात् जिस लेख में व्यक्ति विशेष अपने स्वत्व या अधिकार को प्रकट करता हो, नियमानुसार क्रमबद्ध लिखित हो, एवं लेख में उल्लिखित विषय को अस्त–व्यस्त करके न लिखा हो ऐसा लेख प्रमाणिक होता है ।[29] 3. जो लेख किसी अवसर पर लोगों द्वारा देखा गया हो या ऋणी को बतलाया गया हो, उस लेख की प्रमाणिकता लेख सम्बद्ध साक्षी के मरने के बाद भी बनी रहती है ।[30] 4. जिस पितृ.त लेख को ऋणग्रहीता के पुत्रों या उत्तराधिकारियों द्वारा न देखा गया हो और न सुना गया हो ऐसा लेख केवल लेख सम्बद्ध साक्षी के जीवनकाल तक ही प्रमाणिक होता है ।[31]

निम्नोक्त लेखों को अभियोग में अप्रमाणिक माना जायेगा– १. जो लेख मत्त, अभियुक्त, बालक द्वारा बल, भय, छलकपट द्वारा लिखित हो तो उस लेख को प्रमाणिक नहीं माना जाता है ।[32] 2. जो लेख आधि अर्थात् स्वत्व के अधिकार से रहित हो, जिस लेख को साक्षी, ऋणदाता एवं ऋणी की मृत्यु के उपरान्त लिखा गया हो वह लिखित प्रमाण होते हुए भी अप्रमाणिक है। [33] ३. जिस लेख को न कभी देखा हो या न कभी सुना हो उस लेख को साक्षी की उपस्थिति में भी प्रमाणिक नहीं माना जाता हैं ।[34]

ifjfLFkfr fo'k"k esa fyf[kr çek.k lac/kh fu;e& १. अगर लेख्य पत्र किसी दूरवर्ती देश में छूट जाये, या पढ़ने योग्य न रहा हो, या नष्ट हो जाए, या खो जाये, या चुरा लिया गया हो, या पुराने होने पर उसके टुकड़े–टुकड़े हो गये हो, या जल गया हो, या कट जाये तब ऋणदाता एवं ऋणी की सहमति पर दूसरा लेख्य पत्र बनवा लेना चाहिये। पूर्वोक्त परिस्थिति में लेख्य पत्र की प्रमाणिकता सम्बद्ध साक्षी द्वारा ही सिद्ध होती है ।[35] 2. लेख्य पत्र में संदेह हो जाने पर दूसरे स्वहस्तलिखित पत्र से मिलाकर, देशकालादि में प्राप्ति से, साक्षी के द्वारा, लेखक के लिपिचिन्हों के द्वारा, आगम के द्वारा, लेख्य की प्राप्ति कैसे हुई आदि हेतुओं द्वारा संशय को दूर कर लेना चाहिए ।[36] 3. ऋणी द्वारा जब ऋण की अदायगी एक साथ न कर थोड़े–थोड़े समय पर करता है तो देय ऋण को लेख्य पत्र के पृष्ठ भाग में लिख देना चाहिये[37] और साथ ही ऋणदाता ऋणी को प्राप्त ऋण की रसीद भी दे। सम्पूर्ण ऋण के चुकता हो जाने पर लेख्यपत्र को फाड़कर या जलाकर नष्ट कर देना चाहिये ।[38]

2- Hkfä çek.k& भुक्ति प्रमाण लिखित एवं साक्षी प्रमाण से अधिक बलवान होता है क्योंकि लिखित प्रमाण होने एवं साक्षियों के जीवित होने पर भी अचल सम्पत्ति पर स्वत्व का अधिकार बिना भोग के संभव नहीं है ।[39] भुक्ति ऐसा प्रमाण हैं जिसमें स्वामित्व का अधिकार सम्पत्ति के उपभोग के उपरान्त ही स्थापित होता है। ऐसे में किसी अन्य की सम्पत्ति भी यदि किसी के द्वारा लम्बे समय से उपभोग की जा रही हैं तो वह सम्पत्ति भुक्ति प्रमाण से उपभोग करने वाले की हो जाती है। भुक्ति प्रमाण का प्रयोग अचल सम्पत्ति के सन्दर्भ में किया जाता हैं। स्वामित्व संबंध में भुक्ति प्रमाण के निम्न तथ्य हैं–

1. मूर्खतावश अगर कोई व्यक्ति स्वयं की सम्पत्ति को दूसरे के द्वारा भोग करता हुए देखता है परन्तु उसे भोग करने से रोकता नहीं है, तब वह धन भोग करने वाले भोक्ता का हो जाता है ।[40]

2.अर्थात् धन स्वामी की बिना आपत्ति के लगातार १० वर्ष तक धन का उपभोग करने पर धन भोक्ता का हो जाता है ।[41]

3. इसी प्रकार भूमिस्वामी के बिना आपत्ति के लगातार ६० वर्ष तक भूमि के उपभोग से भूमि भोक्ता की हो जाती हैं ।[42]

4. अगर भोक्ता की लगातार तीन पीढ़ियों के द्वारा किसी अन्य की सम्पत्ति का उपभोग किया जा रहा है तब वह सम्पत्ति भोक्ता की मानी जायेगी, क्योंकि दीर्घकालिक भोग विशुद्ध होता है ।[43]

5. स्त्रीधन और राजा के धन के अतिरिक्त का यदि प्रत्यक्ष में लगातार 20 वर्ष तक उपभोग किया जाये तो वह धन भोग स्वामी का हो जाता है, तत्कालिक स्वामी अपने स्वत्व को नष्ट कर देता है।[44]

viokn& कुछ सम्पत्ति ऐसी भी है जिनका दीर्घकाल तक भोग करने के बाद भी सम्पत्ति भोक्ता की नहीं मानी जाती है। जिन विषयों में भुक्ति को प्रमाणिक नहीं माना जाता है। वे हैं–

1. आधि (बन्धक में रखी वस्तु), भूमि की सीमा, उपनिक्षेप (किसी के पास गिनकर रखी वस्तु), मूर्ख की सम्पत्ति, बालक का धन, उपनिधि (धरोहर), राजधन, स्त्रीधन और श्रोत्रिय का धन, इनका 1० या 20 वर्ष तक भोग के बाद भी भुक्त धन पर इन्हीं लोगों का स्वत्व होता है।[45]

2. स्त्रीधन, राजधन एवं आगम रहित भोग धन सौ वर्ष के भोग के उपरान्त भी भोगकर्ता का नहीं हो सकता। क्योंकि विशुद्ध आगम स्वत्व को प्रकट करता है एवं साथ ही भोग को भी प्रमाणित करता है।[46]

3. अन्वाहित (विश्वासपात्र सौपी गई वस्तु), हृत (हरण किया धन), बलपूर्वक ली गयी सम्पत्ति, व्यवहार के लिये और सम्पत्ति स्वामी की अनुपस्थिति में भोग, इन छः विषयों में भोग प्रमाण होते हुए भी मान्य नहीं हैं।[47]

विवाद के निर्णय से पूर्व यदि अभियुक्त (अर्थात् जिस पर अभियोग लाया गया हो) के द्वारा अभियोग की निष्पत्ति हेतु प्रमाण को प्रस्तुत करने से पूर्व ही मृत्यु हो जाये, तब उस स्थिति में अभियुक्त के उत्तराधिकारी को प्रमाण उपस्थित करना पड़ता था। उत्तराधिकारी केवल आगम प्रमाण को ही प्रस्तुत करता सकता था। तद्विवाद में भुक्ति प्रमाण मान्य नहीं है क्योंकि उक्त विवाद में अभियोग की निवृत्ति हेतु दीर्घकालिक भोग संभव नहीं है।[48] बिना आगम के भोग को प्रमाणिक नहीं माना जाता है किन्तु कुछ परिस्थिति में आगम रहित भोग प्रमाणिक होता है– 1. भोक्ता की मृत्यु के बाद उसके वंशस्थ बिना आगम के उस सम्पत्ति का भोग कर सकते हैं,[49] 2. स्मार्तकाल के अन्तर्गत (१०० वर्ष) ही लिखित सहित भोग प्रमाणिक है किन्तु स्मार्तकाल के बाद लिखित प्रमाण के अभाव में तीन पीढ़ियों के क्रमागत भोग प्रमाणिक हैं,[50] 3. पिता के पूर्व तीन पीढ़ियों से जिस सम्पत्ति का अन्यायपूर्ण भोग हो रहा है वह सम्पत्ति भी परवर्ती व्यक्ति से छीनी नहीं जा सकती।[51]

...- lk{kh çek.k& किसी विवाद या मतभेद को साक्षात् देखने वाला या सुनने वाला व्यक्ति साक्षी होता है। साक्षी दण्ड प्रक्रिया में विवाद को समाधान कराने में एक कड़ी के समान कार्य करता है। क्योंकि साक्षी द्वारा वादी–प्रतिवादी के मध्य में कार्य विशेष को लेकर उत्पन्न हुए संदेह से संबंधित वे प्र.त तथ्य प्रकाश में लाये जाते हैं जो साक्षी द्वारा उस कार्य में देखा, सुना या अनुभव किया गया है।[52]

fookn;ä lk{;ks esa mfpr lk{; dh xzkfgrk& नारद स्मृति ने विवादित साक्ष्यों में किस साक्ष्य को लिया जाए इसकी विवेचना की है– 1. जब दोनों पक्षों का व्यवहार विषय पर विवाद हो जाए अर्थात् दोनों के द्वारा प्रदत्त साक्ष्य परस्पर विरोधी हों तब पूर्व पक्ष का ही साक्ष्य ग्रहीत किया जाए।[53] 2. लेकिन जिन विवादों में वादी द्वारा दिया गया प्रमाण दोषयुक्त कारण से हीन हो जाए तब प्रतिवादी के साक्षी से प्रश्न करने चाहिए।[54] 3. विपक्ष द्वारा नियुक्त किए गए साक्षी से गुप्त वार्तालाप नहीं करना चाहिए, इससे उस पक्ष का साक्ष्य हीन हो जाता है।[55] 4. जिस पर व्यवहार क्रिया (मुकदमा) चल रही हो, जो आत्मीय–सहायक–बैरी हो, जो अन्य व्यवहार में मिथ्या साक्ष्य देने से मिथ्यावादी प्रमाणित हो चुका हो आदि के द्वारा प्रदत्त साक्ष्यों को भी व्यवहार में साक्षी के रूप में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।[56]

viokn& लेकिन साहस, स्तेय, संग्रहण, दण्डपारुष्य और वाक्पारुष्य इन पांच व्यवहारों में सभी जन साक्षी हो सकते हैं अर्थात् उक्त अपराध में किसी भी वर्ण एवं जाति के व्यक्ति साक्षी हो सकते हैं।[57]

lk{kh dh la[;k& साक्षी की संख्या को लेकर विभिन्न मत हैं। नारद के मत में प्रत्येक व्यवहार अभियोग में साधारणतः तीन साक्षी होते हैं। लेकिन एक व्यक्ति भी साक्षी हो सकता हैं यदि वह वादी–प्रतिवादी दोनों द्वारा स्वीकार्य हो तो।[58]

dVlk{kh vFkkZr vlR; cksyus okys lk{kh dk O;ogkj[59] & दोष के बिना भी अस्वस्थ की तरह व्यवहार करता है, बनावटी खांसता है, जोर से सांस छोड़ता है, पैरों से भूमि को खोदता है आदि। अतः ऐसे कूटसाक्षी को नियंत्रित करना चाहिए और उसके असत्य कथनों पर विश्वास न कर अनेक प्रश्नों द्वारा उसकी परीक्षा करनी चाहिए।

4- fn0; çek.k& दिव्य प्रमाण दैविक प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं। जिस विवाद की सिद्धि मानुषी प्रमाण अर्थात् लिखित, भुक्ति एवं साक्षी आदि प्रमाणों से न हो तब अन्त में जिस प्रमाण को प्रयोग में लाया जाता है वह दिव्य प्रमाण शपथ है। दिव्य प्रमाण का प्रयोग तभी ही करना चाहिये जब इन मानुषी प्रमाणों के द्वारा विवाद का निर्णय संभव न हो सके।[60] अर्थात् जिस गांव–नगरादि घटनास्थल पर कोई साक्षी उपलब्ध न हो तब वहां पर दिव्य प्रमाण एवं अलग–अलग शपथ के माध्यम से परीक्षा करनी चाहिये।[61] दिव्य के प्रकार– दिव्य के पांच भेद हैं[62] –घटविधि, अग्निविधि, जलविधि, विषविधि, कोशविधि।मिताक्षराकार ने इन पांच दिव्य प्रमाणों के अतिरिक्त दो दिव्य प्रमाण और भी माने हैं वे हैं– तण्डुलविधि एवं तप्तमाषविधि।[63] fn0; çek.k dk mi;kx&जो विवाद या तो जंगल में या रात्रि में या घर के भीतर घटित हुआ हो उसमें साहस अर्थात् बलपूर्वक किये गये अपराधों में, स्तेय में, न्यास (धरोहर) के अस्वीकार करने में, स्त्री के चरित्र की पवित्रता संबंधी अपराधों में दिव्य को प्रमाण माना जाता है।[64] अतः बड़े एवं गम्भीर अपराधों में दिव्य प्रमाण के द्वारा निर्णय किया जाना चाहिए।[65]

धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था में राजा का कर्त्तव्य है कि शासन व्यवस्था के विधि–नियमों का सुचारू रूप से पालन कराये तथा जनता को त्वरित तथा सत्य–न्याय उपलब्ध कराये प्राचीन धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों से उस युग की विधि तथा न्याय–व्यवस्था के संगठन का विषद परिचय मिलता है, बृहस्पति, कौटिल्य, शुक्र, मनु, पराशर, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, नारद, गौतम, वसिष्ठ, अंगीरा आदि ऋषियों और मनीषियों ने विस्तार से विधि व्यवस्था के संगठन की विषद विवेचना की है। इन मौलिक ग्रन्थों के अनन्तर निबन्ध ग्रन्थों में 'वीरमित्रोदय', '.त्यकल्पतरु', 'व्यवहार–निर्णय', 'विवाद–तांडव' आदि में न्याय व्यवस्था का विस्तृत रूप से वर्णन है।

प्राचीन न्याय व्यवस्था में साक्ष्य एवं साक्षी का भी बहुत महत्व था।प्रमाणों के चार प्रकार हैं जिन्हें मानुषी एवं दैविक प्रमाणों के अन्तर्गत विभाजित गया है–[66] मानुषी– लिखित, भुक्ति एवं साक्षी। दैविक– दिव्य। लिखित, भुक्ति, साक्षी और दिव्य प्रमाण में क्रमशः पूर्ववर्ती प्रमाण अपने से परवर्ती से अधिक प्रामाणिक माना जाता है।[67] विधि सम्बन्धी ग्रन्थों में साक्षी के गुणों का विषद वर्णन किया गया है।

प्राचीन दण्डव्यवस्था में न्याय एक प्रकार से प्रा.तिक तथा स्वाभाविक था, वादी तथा प्रतिवादी स्वयं ही अपने पक्ष को प्रस्तुत करते थे, इससे वस्तुस्थिति का आकलन अधिक सही होता था, न्याय का निर्णय भी त्वरित होता था तथा व्यय भी कम होता था, इस प्रक्रिया में बिचौलिये (वकील आदि) यथासम्भव नहीं रहते थे, भ्रष्टाचार की सम्भावना न्यूनतम थी, मुकद्दमों का व्यय भी बहुत कम होता था, वादों का निर्णय बहुत कुछ स्वाभाविक था प्रा.तिक सिद्धांतों के आधार पर होता था।

धर्मशास्त्रकालीन विधिव्यवस्था में सत्य का निर्णय पूर्ण निष्पक्षता के साथ किया जाता था और निर्णय का अधिकार राजा को प्राप्त था। लेकिन राजा निर्णय अर्थात् दण्डविधान में स्वेच्छाचारिता नहीं कर सकता था क्योंकि राजा दण्ड का विधान स्वयं नहीं करता था बल्कि इसके लिए राजा को सभ्यों एवं न्यायधीशों से राय लेनी पड़ती थी। जिन सभ्यों से निर्णय के लिए राय ली जाती थी वे धर्मशास्त्र और व्यवहार में निपुण होते थे और ये धर्म एवं व्यवहार के आधार पर ही परामर्श देते थे। यदि ये सभ्य या न्यायाधीश निर्णय में पक्षपात करते या गलत परामर्श देते या निर्णय से पूर्व अभियोक्ता एवं अभियुक्त से घूस लेते तो इन्हे संबंधित अभियोग के दण्ड का दुगुना दण्ड दिया जाता था। फलतः इस प्रकार का दण्ड विधान सभ्यों एवं न्यायधीशों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव ड़ालता था जिससे इनके द्वारा हमेशा उचित परामर्श दिया जाता था। अन्तिम रूप में निर्णय राजा द्वारा लिया जाता था वह भी धर्म, तर्क, सभ्यों की राय से, जो राजा की स्वेच्छाचारिता को भी रोकता था।

lUnHkZ%

1. तस्य आत्मानुग्रहोभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। योगभाष्य पृष्ठ–78

2 धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। तैत्तिरीय आरण्यक 10/63

3. आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे ।। ऋग्वेद 4/53/3, ऋग्वेद 5/63/7, ऋग्वेद 6/70/1
4. ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं जले। अथर्ववेद 91/9/14
5. सत्यं वद, धर्म चर.....। तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11
6. छन्दोग्योपनिषद् 1/23/1
7. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। पूर्वमीमांसा 1/1/2
8. अथातो धर्म व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः ।। वैशेषिक सूत्र
9. व्यवहारानीति अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः। याज्ञ. स्म. 2/1, मिताक्षरा
10. तत्र शिष्टं छलं राजा मर्षयेद्धर्मसाधनः। भूतमेव प्रपद्येत धर्ममूला यतः श्रियः ।। ना.स्मृ. 1/31
11. व्यवहारानिति अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः। याज्ञ. स्म. 2/1 मिताक्षरा
12. याज्ञवल्क्यस्मृति 2/7
13. याज्ञवल्क्यस्मृति 2/7
14. ना.स्मृ. 2/31
15. तत्र मानुषं त्रिविधं, लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति। याज्ञ. स्मृ. 2/22 मिताक्षरा, ना.स्मृ. 2/28
16. त्रिविधस्यास्य दृष्टस्य प्रमाणस्य यथाक्रमम्। पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं भुक्तिरेभ्यो गरीयसी । ना.स्मृ. 2/76
17. विष्णुधर्मसूत्र 7/2
18. बृहस्पति (व्यवहार–प्रकाश पृ.१४१ एवं व्यवहारमयूख पृ.24)
19. ना.स्मृ. 4/75
20. ना.स्मृ. 4/70
21. ना.स्मृ. 4/71
22. ना.स्मृ. 4/70
23. याज्ञ.स्मृ. 2/84
24. याज्ञ.स्मृ. 2/85
25. याज्ञ.स्मृ. 2/86
26. याज्ञ.स्मृ. 2/87
27. याज्ञ.स्मृ. 2/88
28. याज्ञ.स्मृ. 2/89
29. ना.स्मृ. 4/136
30. ना.स्मृ. 4/140
31. ना.स्मृ. 4/141
32. ना.स्मृ. 4/137
33. ना.स्मृ. 1/138
34. ना.स्मृ. 4/141
35. ना.स्मृ. 4/146 याज्ञ.स्मृ 2/91
36. ना.स्मृ. 4/142
37. याज्ञ.स्मृ 2/92, ना.स्मृ. 4/143–144
38. याज्ञ.स्मृ 2/93–94
39. ना.स्मृ. 4/76/77
40. ना.स्मृ. 4/78
41. ना.स्मृ. 4/79
42. याज्ञ.स्मृ 4/24
43. ना.स्मृ. 4/91–92
44. ना.स्मृ. 4/82
45. ना.स्मृ. 4/81, याज्ञ.स्मृ 2/25
46. ना.स्मृ. 4/83–84
47. ना.स्मृ. 4/92
48. ना.स्मृ. 4/93 याज्ञ.स्मृ 2/29
49. ना.स्मृ. 4/88
50. ना.स्मृ. 4/89

51. ना.स्मृ. 4/91
52. ना.स्मृ. 4/147
53. ना.स्मृ. 4/163
54. ना.स्मृ. 4/164
55. ना.स्मृ. 4/165
56. ना.स्मृ. 4/177
57. याज्ञ.स्मृ 2/72, ना.स्मृ. 4/189
58. याज्ञ.स्मृ 2/72, ना.स्मृ. 4/192
59. ना.स्मृ. 4/193–196
60. याज्ञ.स्मृ 2/22
61. ना.स्मृ. 2/29, ना.स्मृ. 2/247
62. ना.स्मृ. 2/252, तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये।। याज्ञ.स्मृ 2/95 पहला
63. याज्ञ.स्मृ 2/95 मिताक्षरा
64. अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे। न्यासस्यापह्नवे चौव दिव्या संभवति क्रिया ।। ना.स्मृ. 3/30 ,ना.स्मृ. 4/241–242
65. ना.स्मृ. 2/249
66. याज्ञ.स्मृ 2/22 मिताक्षरा, ना.स्मृ. 2/28 42
67. ना.स्मृ. 4/76

***

उन्मेष Unmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

Hkh"e lkguh ds miU;klksa esa O;Dr lekt

Lk;l iqdk'k*

भीष्म साहनी आधुनिक कथा साहित्य के मर्मज्ञ और सजग प्रहरी के रूप में विख्यात रचनाकार हैं। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी रचनाकार के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने साहित्य की संभवतः सभी विधाओं में अपनी लेखनी के माध्यम से अपनी योग्यता व विशिष्टता का परिचय दिया हैं। उनकी रचनाओं में एक ओर जहां विषय की विविधता है, वहीं दूसरी ओर उनके समय के समाज का पूरा दृश्य दिखलाई पड़ता है। उनकी रचनाओं में खासकर के उनके उपन्यासों में एक विकृत समाज के जितने चेहरे हो सकतें हैं उन सभी का यथार्थ स्वरूप दिखलाई पड़ता हैं।

भारत विविध भाषा और धर्मों का देश है और इन विभिन्न धर्मों के बीच सहयोग और सहभाव की भावना भी विद्यमान है। प्रत्येक धर्म के अन्तर्गत सकारात्मक और नकारात्मक पहलू का योग होता है। भीष्म साहनी अपने उपन्यासों में धर्म की संकीर्णताओं को उजागर करते हैं। >jks[ks उपन्यास में नायक के पिता हमेशा शकुन–अपशकुन की बातों को अंधविश्वास मानते हैं। एक आर्यसमाजी पंडित जब उनके बेटे के यज्ञोपवीत के समय सारे पैसे बटोरकर ले जाता है तो नायक की मां क्रोधित हो जाती है, तब उसे समझाते हुये शुभ बोलने के लिये कहते हैं। तब नायक को अचरज होता है कि –' "शकुन–अपशकुन की बात आज पिताजी कैसे करने लगे हैं। इस उपन्यास का परिवार आर्यसमाजी है। उनके पड़ोस में रहने वाले म्लेछ जब बकरे के सिर को भूनते हैं परिवार के सभी सदस्य मिलकर हवन करते हैं। उनका विश्वास है कि–'' हवन की पवित्र आहुतियों से जो धुंआ उठेगा, वह पापी 'म्लेच्छों के गन्दे धुयें को खत्म करेगा।''

Ckl arh उपन्यास का नायक दीनू जब अपनी पत्नी को लेकर ज्वाला देवी के मंदिर में दर्शन हेतु जाता है तो वहां पर पुजारी को तीन रूपये देता है तब पुजारी उसे फेंक देता है और पांच रूपये देने के लिये कहता है। पांच रूपये मिलने पर ही पुजारी दीनू को प्रसाद देता है। यहां भीष्म साहनी यह दर्शाना चाहते हैं कि अभी भी लोग धर्म के भय के कारण पंडितों और पुजारियों के आगे नतमस्तक हो जाते हैं। धर्म को सही ढंग से परिभाषित नहीं किया जा सकता है, फिर भी धर्मांधता के कारण निर्मित धार्मिक प्रवृत्तियों का चित्रण और उनसे होने वाली समस्याओं का चित्रण भीष्म साहनी जी के कथा साहित्य में पाया जाता है। वे धार्मिक और सामाजिक बुराईयों और मनुष्य के तले पल रही उन साम्प्रदायिक या धार्मिक भेदभाव की गुत्थियों की बडी सूक्ष्म व जागरूकता से पोल खोलते हैं। और समाज में हो रही अमानवीय घटनाएं एवं विध्वंसात्मक शक्तियों से बचे रहने की ओर संकेत करते हुये समाज की सतर्क करते हैं।

भीष्म साहनी के उपन्यासों में राजनीतिक समाज का एक जीता जागता चेहरा साफ देखा जा सकता है। फिर भी धर्मांधता के कारण निर्माण हुई धार्मिक प्रवृत्तियों का चित्रण और उनसे होने वाली समस्याओं का चित्रण भीष्म साहनी जी के कथा साहित्य पाया जाता है। वे धार्मिक और सामाजिक बुराईयों और मनुष्य के तले पल रही उन साम्प्रदायिक या धार्मिक भेदभाव की गुत्थियों की बडी सूक्ष्म व जागरूकता से पोल खोलते हैं। और समाज में हो रही अमानवीय घटनाएं व विध्वंसात्मक शक्तियों से बचे रहने की ओर संकेत करते हुये समाज को सतर्क करते हैं।

भीष्म साहनी के उपन्यासों में राजनीतिक समाज का एक विद्रूप और घिनौना चेहरा भी दिखलाई देता है। इनके उपन्यास तमस, मैयादास की माड़ी, को एक राजनीतिक उपन्यास के रूप में मान्यता प्राप्त

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

है। क्योंकि इन उपन्यासों में राजनैतिक स्वर की प्रमुखता है। तमस उपन्यास के अन्तर्गत देश में विभाजन के पूर्व की स्थिति की भयानक करूण घटनाओं का जीवन्त चित्रण भीष्म साहनी जी के मस्तिष्क की अद्‌भुत व सुन्दर उपज है। अंग्रेजों ने आपस में फूट डालने के लिये, हिन्दुस्तानियों की धार्मिकता व अनेकता की कमजोरियों का अध्ययन करके हिन्दुस्तानियों के प्रति धर्म को अपना हथियार बनाकर आपस में लड़ाई करवाई और हिन्दुस्तानियों के प्रति कूटनीति को अपनाया, दोगली राजनीति को अपनाया और हिन्दुस्तानियों का अनैक्य और कौमी कमजोरियों को अच्छी तरह से जान लिया था। इन्हीं कमजोरियों के सहारे अंग्रेजों ने भरतीयों में कूटनीति को अपनाकर स्वाार्थ सिद्ध कर लिया था–

"कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है। इसके साथ मुस्लमानों का कोई वास्ता नहीं।[1]

अजीज और हकीम हिन्दुओं के कुत्ते हैं।" [2]

उपर्युक्त विचारों से अंग्रेजों को भारतीयों की एकता की कमजोरी नजर आती है। इन्हीं कमजोरियों के कारण वे आपस में फूट डालने हेतु राजनीतिक तंत्र को अपनाने लगे। अंग्रेजी प्रशासक रिचर्ड और लीजा के वार्तालाप से राजनीति की महक फूट निकलती है–

"तुम इन्हें लड़ने से रोक भी तो सकते हो। आखिर है तो एक ही जाति के लोग।"[3]

"धर्म के नाम पर आपस में लड़ते हैं, देश के नाम पर हमारे साथ लड़ते हैं।"[4]

"बहुत चालाक नहीं बनो, रिचर्ड। मै सब जानती हूँ। देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो। क्यों, ठीक है न।"[5]

मनुष्य का जीवन सामाजिक ढांचे में ढला हुआ है और सामाजिक ढांचा आर्थिक ढांचे पर आधारित है। अर्थ मनुष्य के जीवन का मूलभूत आधार है। समसामयिक भारतीय सामाजिक परिवेश में निम्नवर्ग और मध्यमवर्ग का व्यक्ति आर्थिक समस्या से लगातार जूझता हुआ नजर आता है। वह तमाम प्रकार की समस्याओं से अपने आप को सदैव घिरा हुआ पाता है, लेकिन अगर वह कहीं सबसे ज्यादा परेशान है तो आर्थिक समस्या से । भीष्म साहनी ने अपने उपन्यासों में आर्थिक समस्याओं को उठाया है। cl:rh उपन्यास में वे मजदूरों की अत्यन्त शोचनीय व मर्मस्पर्शी आर्थिक परिस्थितियों का वर्णन प्रस्तुत किया है–"बसंती तोड़ दिये जाने के बाद से लोग इधर–उधर बिखर गये थे। आस–पास की बस्तियों में अपने–अपने लिये काम की तलाश करने लगे, पर काम न मिलने पर कुछ ने फिर से रमेशनगर की राह ली। युवतियों और स्त्रियों की डोलियों, कभी पैदल चलकर तो कभी किसी बस या टैंपो की सवारी करके फिर रमेशनगर के घरों में चौका बर्तन करने पहुंचने लगी।"[6]

भीष्म साहनी निम्नवर्ग की आर्थिक परिस्थितियों का चित्र प्रस्तुत करते हैं–"राजमिस्त्रियों को छोड़कर, अन्य धंधों के लोग जैसे– तैसे, फिर इसी इलाके में आकर अपनी रोजी का जुगाड़ करने लगे थे। गोविन्दी ने रमेशनगर के बाहर सड़क की पटरी पर ही एक कोने में चाय की दुकान कर ली थी।पर फिर भी चाय बिकती थी और गोविन्दी एक मुर्गी की तरह अपने दो बच्चों को पंखों तले समेटे, अपना गुजर चलाने लगी थी।"[7] बसंती की मजदूरी के संदर्भ में oh j:Un ekgu जी के ये विचार उल्लेखनीय हैं– "जिन मजदूरों की बस्तियां उजाड़ी जा रही हैं, वे स्वयं रूप्ये मजदूरी में अपनी जाति, परिवार और वर्ग के विरूद्ध हैं। आर्थिक मजबूरियों के कारण वैज्ञानिक चेतना से शून्य मजदूरों का उपयोग शासन उन्हीं के वर्ग के खिलाफ करता है लेकिन बसंती वर्ग के सत्य को समझते हुये इसका विरोध करती है तो उत्तर मिलता है– बनाई थी तो बनाई थी, सरकार तो इन्हें तोड़ेगे ही। हम अपनी मजूरी क्यों छोड़े हम नहीं तो तोड़ेंगे तो उनको दूसरा आकर तोड़ेगा।"[8]

भीष्म साहनी मूलतः पंजाब के रहने वाले थे, जिसके कारण उन्होंने विभाजन की त्रासदी को अपनी आंखों से देखा था और इस विभाजन के द्वारा उत्पन्न दुःख को महसूस किया था जिसका जिक्र वे अपने उपन्यास तमस में करते है। अंग्रेजों के जमाने में अंग्रेजों, साहूकारों, जमींदारों द्वारा सामान्य जनता पर जो अन्याय व अत्याचार होता था उसका भी वे वर्णन अपने उपन्यासों में करते हैं। वे अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग को विशेष रूप से अपने वर्णन के केन्द्र में रखा है। >jk[k उपन्यास में भी भीष्म साहनी ने मध्यमवर्ग के कई चित्र खींचें हैं जिससे उनके रहन–सहन और जीवन यथार्थ की वस्तु स्थिति का पता

चलता है जो इस प्रकार है–"पुराने सूफे के एक ओर बहनों की आलमारी के साथ एक ओर दरवाजा खुलता है। यह कमरा हमेशा बंद रहता है। इसमें एक बहुत बड़ी आलमारी है, जिसमें पेंसिलों का डिब्बा रखा है और सिर दर्द को दूर करने वाली मशीन रखी है और सुनहरे दस्तेवाला चाकू रखा है, जिसे पिता जी देखने के लिये तो हाथ में तो देते हैं, पर फिर कमरा बंद करने से पहले वापस ले लेते हैं। पुराने सूफे में से बाहर आ जाओ तो आंगन है, सामने जंगला है, जिसके पास ऐड़िया उठाकर खड़े हो जाओ तो नीचे झांक सकते हो।"[9]

भीष्म साहनी ने बसंती उपन्यास में उच्च मध्यवर्ग की आर्थिक दशा का भी चित्रण किया है । यह वर्ग संपन्न है, ये लोग नौकर रखते हैं बर्तन चौका करने वाली नौकरानियां रखते हैं। आधुनिक साज–सज्जा से सजा परिवार हर तरह से भरा पूरा है। बच्चों के लिये बोतल में दूध , लेटने के लिये पालनों में सुन्दर बिछौने और खेलने के लिये रंग– बिरंगे खिलौने उपलब्ध हैं–

''बालों में तेल लगा दू, बीबी जी

नहीं।

झाड़ू लगा दूं, बीबी जी, बरामदा गंदा हो रहा है चाय बना दूं। जा बना ला चाय। अपने लिये भी बना ला और मैरे लिये भी। चीनी कम डालना।"[10]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि भीष्म साहनी जी के उपन्यास तत्कालीन समाज की अति सूक्ष्मता और गहनता के साथ निरीक्षण करते हैं और तत्कालीन समाज के जितने चेहरे हो सकते है, उन सभी चेहरों की वास्तविकताओं, विद्रूपताओं और जटिलताओं का पूरा यथार्थ ब्यौरा क्रमवार प्रस्तुत करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है उनके उपन्यास तत्कालीन समाज के राजनीतिक, धार्मिक , आर्थिक और सामाजिक पहलुओं को अपने अन्दर समेटे हुये है।

lUnHk %

1. तमसः भीष्म साहनी, पृ0 31
2. वहीं, पृ0–31
3. वहीं, पृ0–45
4. वहीं, पृ0–44
5. वहीं, पृ0–45
6. बसंती– भीष्म साहनी, पृ0 42–43
7. वहीं, पृ0–43
8. व्यक्ति और रचनाः– भीष्म साहनी, पृ0 122
9. झरोखे, भीष्म साहनी, पृ0 18
10. बसंती, भीष्म साहनी, पृ0 22

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

fdlku psruk ds dfo % dsnkjukFk vxzoky

jkekJ; iVsy*

केदारजी के हृदय का वास्तविक उल्लास गांव और उसके खेतों में ही देखने को मिलता है। बसन्ती हवा, लाखो–लाखों की अगणित संख्या में, मेड़ पर इस खेत में बैठा अकेला, खेतों के नर्तक उत्सव में, चोली फटी सरसों की, अब की धान बहुत उपजा है, इन धनहा खेतों के ऊपर, धूप चकमती है चांदी की साड़ी पहने आदि कवितायें हमें एक नया लोक दिखाती हैं। धरती का यह किसानी रूप, प्रकृति की यह किसानी छवि पहली बार एक कवि में इतनी समग्रता के साथ उद्घाटित हुई है। फसलों को ऐसा मनोहारी रूप काव्यात्मक संवेदना और सहज, किन्तु उन्नत शिल्प के साथ पहली बार केदार की ही कविता में अपनी पूरी गरिमा के साथ साकार हुआ है। चन्द्रगहना से लौटते हुये कवि एक खेत की मेड़ पर अकेला बैठा देख रहा है –

,d chrs ds cjkcj@;g gjk fBxuk puk @ck/ks eqjSBk 'kh'k ij @NksVs xqykch Qwy dk@lt dj [kM+k gSA[1]

तो दूसरी ओर प्रेमातुर अलसी की स्थिति है –

ikl gh feydj mxh gS@ chp esa vylh gBhyh@ nsg dh iryh dej dh gS yphyh@ uhys Qwys Qwy dks flj ij p<+dj @dg jgh gS tks Nq;s ;g@nw¡ ân; dk nku mldkA[2]

और सरसों की उमंग का तो कहना ही क्या –

vkj ljlks dh u iwNks@gks x;h lcls l;kuh @0;kg&e.Mi esa i/kkjks@Qkx xkrk ekl Qkxqu@ vk x;k gS vkt tSlsA[3]

इस प्रकार केदारनाथ अग्रवाल ने किसानी जीवन के मानवीय स्पंदन और हर्षोल्लास को खेतों में बिखेर कर उसे चेतन बना दिया है। जड़ प्रकृति की यह चेतना एक कवि कृषक को कृष्ण के रूप में देखता है। आसमान ही इसका दुपट्टा है और धानी फसल घंघरिया है –

vkleku dh vks<+uh vks<+s@/kkuh igus Qly ?kk?kfj;k @jk/kk cudj /kjrh ukph@ukpk gSle[k d`"kd lkofj;kA[4]

यहाँ कलरव करते हुये पक्षी कवि को फाग गाते से लगते हैं। हवा की लहर में फसल ऐसी झूमती है जैसे कोई नर्तकी नृत्य कर रही हो। यह दृश्य देखकर स्वयं कवि भी अपना सुध–बुध खो बैठता है –

tSls Hkjh Qkx Q[kq: xkrs@<jdh jl dh jkx xxfj;k@esjs u ,sls n'; fuxkjk@esjh jgh u eq>s [kcfj;k@ [ksrksa esa urZd mRlo esa@ Hkwyk ru&eu xsg Mxfj;kA[5]

प्रकृति को लोकरक्षक रूप से जोड़ा जा सकता है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में फसल की शोभा का चित्रण काफी है। उनकी कविताओं में फसल का सौन्दर्य प्रकृति के सौन्दर्य का अंग होते हुये भी विशिष्ट है।[6]

बसन्ती हवा में उसे भी लहराने के लिये विवश होना पड़ता है। उद्‌माद बसन्ती हवा महुआ के पेड़ के साथ धमा–चौकड़ी की आवाज में छेड़ती हुई जब खेतों में पहुंचती है तो वहाँ गेहुओं में लहर खूब मारी, पहर दोपहर क्या, अनेक पहर तक इसी में रही, लेकिन गेहुओं कोलहराने के बाद वह आगे बढ़ती है तो–

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ0 हरीसिंह गौर वि0वि0, सागर (म.प्र.)

[kMh n[k vylh fy;s 'kh'k dylh@e>s [kc l>h@ fgyk;k >yk;k fxjh ij u dylh@ blh gkj dk ik@ fgyk;h u ljlk] >yk;h u ljlkA[7]

लेकिन बसन्ती हवा जब अरहर के पास पहुंची तो वहाँ माजरा ही दूसरा नजर आया –

e>s n[kr gh vjgjh yt k;h@ euk;k&cuk;k u ekuh] u ekuh@ mls Hkh u NkMk@ ifFkd vk jgk Fkk mlh ij <dyk@ yxh tk ân; ls dej ls fpid dj@gl ygjkrs gjs [kr lkjA[8]

केदारनाथ अग्रवाल के ग्राम प्रकृति चित्रण के बारे में लेखक डॉ0 लल्लन राय लिखते हैं कि 'ग्राम प्रकृति के साथ इस प्रकार की नोंक–झोंक छेड़खानी करती हुई बसन्ती हवा का चित्र वही प्रस्तुत कर सकता है जो उसमें मनोमुग्ध होकर ग्राम प्रकृति और ग्रामीण परिवेश के चित्रण में केदारनाथ अग्रवाल की लेखनी पौधों की ओर भी गया है।'[9] पलाश के बूढ़े वृक्षों ने, उन्नत पेड़ पलाश के, खड़ा है बुजुर्गवार इमली का पेड़, गांव का बरगद छतनार, दहका खड़ा है सेमल का पुरनिया पेड़, नीम के पेड़ चढ़ी बैठी, गोद गेंद से पके–फके फल, धतूरे के पेड़ मुह से लगाये तुरही, पेड़ नहीं पृथ्वी के वंशल हैं, हंसता है गुलमोहर आदि कविताएं इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। वस्तुतः इसके अभाव में ग्राम जीवन की झाँकी अध ूरी रह जाती है। केदारनाथ अग्रवाल ने इन्हें पेड़ नहीं पृथ्वी का वंशज माना है, जो फूल लिये, फल लिये मानव के अग्रज है। बसन्त आगम पर फसले ही नहीं, पलाश के बूढ़े वृक्ष भी टेसू की लाल मौर सिर पर रखकर विवाह के लिये तैयार हो जाते हैं और फूलों के आभूषण धारण किये लाजवन्ती दुल्हन सी सजी वनखण्डी भी अपनी तैयारी में कोई भी कसर नहीं रखती। आम के अंग बौरों की सुगन्ध से महक उठते हैं और मंगलयान के सब गायक पखेरू चहक उठते हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने गांव की प्रकृति और उसके वाह्य परिवेश के साथ हर्ष–विवाद से युक्त गांव के कर्मठ जीवन को भी प्रस्तुत किया है। मेरे खेत में हल चलता है, काटो–काटो करबी, गरमी की धूम में मांजता है, फडुआ, अबकी धान बहुत उपजा है, जल्दी–जल्दी हाक किसनवा, छोटे हाथ सबेरा होते, गोठिल हंसिया, मांस काट कर रींध रहे हैं आदि सारी बहुत कवितायें हलवाही, कटाई, खुदाई और बहुत सारे कृषि कार्यों से संबंधित है।

इसके साथ ही चित्रकूट के बौड़म यात्री हट्टे–कट्टे हाथों वाले आदि बहुत सारी कवितायें इस तथ्य का प्रमाण है। नागार्जुन की भांति केदार की चेतना मूलतः किसान चेतना है। लेकिन केदार ने नागार्जुन के अपेक्षा अपनी किसान चेतना में सर्वहारा की चेतना का अधिक मिश्रण किया है। इसलिये इसकी किसान चेतना में सक्रियता, श्रमशीलता अधिक दिखाई देती है। जबकि अन्य कवियों में भावमूलता के कारण विभाव पक्ष क्षीण और अधिकांशतः अमूर्त रह गया है। नागार्जुन, मुक्तिबोध से लेकर बहुत सारे प्रगतिशील कवियों में हम इस स्थिति को स्पष्ट रूप से देख सकते है। किसान की श्रमशीलता को कवि ने अनेक प्रकार से गौरवान्वित किया है। 'छोटे हाथ' शीर्षक कविता में केदार ने लिखा है –

NkVs gkFk@ fdlkuh djr@ cht u;s ck;k djrs g @vku okys oHko ds fnu@mxyh ls Vk;k djrs gA[10]

इस कविता में छोटे हाथ किसान मजदूर से लेकर उसके क्रान्तिकारी संगठनों और शोषित और उत्पीड़ित वर्ग के कलाकारों बुद्धिजीवियों तक की सामाजिक सांस्कृतिक भूमिका को अपनी पूरी क्रियाशीलता के साथ संकेतिक करते हैं। लेकिन केदारनाथ की मुख्य विशेषता है किसानी के गतिशील चित्र प्रस्तुत करना। यह धरती है उस किसान की शीर्षक कविता में एक ऐसा चित्र है–

;g /kjrh g ml fdlku dh@ tk cyk ds dU/kk ij@cjlkr /kke e@ tvk HkkX; dk j[k nrk g@[ku pkgrh gbl ok; e@iuh dlh [kr ds Hkhrj@ nj dyt rd y tkdj@ tkr Mkyuk g feÍh dkA[11]

किसान मेहनत करने से पीछे नहीं भागना चाहता। तपती धूप हो चाहे बरसात वह अपना कलेजा खेत में रख देता है। फिर भी उसकी खेती भाग्य पर निर्भर करती है। फिर भी किसान हार मानने वाला नहीं है, वह मिट्टी का पूर्ण पारखी है, और मिट्टी के साथ खेलता है, और मां के संग खेलना किसे अच्छा नहीं लगता और मां संग तपकर गलकर, मरकर जीता है –

;g /kjrh g mI fdlku dh@ tk feÍh dk i.k ikj[kh@ tk feÍh d lx lkFk gh@ridj@xydj@ejdj@[kik jgk g thou viuk@n[k jgk g feÍh e lku dk liuk@feÍh dh efgek xkrk@feÍh d gh vUrLry e@viu ru dh [kkn feykdj@ feÍh dk thfor j[krk g@[kn thrk gA[12]

मिट्टी का कवि ही मिट्टी के बारे में ऐसा लिख सकता है जो किसानों के घनघोंर मेहनत को देखा हो। लेकिन जब वही किसान शोषित, उत्पीड़ित निरूपाय, लाचार, बेबस पड़ जाता है तो वह विश्वास भी जगाता है कि नहीं इस देश की जनता कभी भी नहीं मरती –

vR;kpkjk d gku l@ yg d cgu pl u l@ckVh&ckVh up tku l@ fdlh n'k ;k fdlh jk"V dh@dHkh ugh turk ejrh gA[13]

धरती और किसान के सहज किन्तु गहरे सम्बन्ध को केदारनाथ अग्रवाल ने अनेक विभाग–विधायक या वस्तुनिष्ट चित्रों द्वारा रेखांकित किया है, जिन्हें जोताई–बोवाई, और कटाई के गीतों में देखा जा सकता है। हरवाही का एक दूसरा चित्र है –

ej [kr e gy pyrk g@QkM dy tk xM tkrk g@rM&rM /kjrh rMdkrk g@[ku ilhuk pjkrk g@ejk ru&eu [ki tkrk g@feÍh dk ru ujekrk g@xg puk ugh ckrk g@[kuh vxkj ckrk gA[14]

इस प्रकार हाड़–तोड़ मेहनत करने वाले किसान अपने अदम्य साहस के बावजूद अपने बच्चों को पैतृक सम्पत्ति के रूप में अधिकांशतः कुछ दे नहीं पाते। इसका एक मर्मभेदी चित्र केदारनाथ ने अपनी 'पैतृक सम्पत्ति' नाम कविता में इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

tc cki ejk rc ;g ik;k@Hk[k fdlku d cV u@?kj dk eyok] VVh [kfV;k@ dN gkFk Hkfe og Hkh ijrh@pejk/k tr dk rYyk@NkVh VVh cf<;k vkxh@njdh xkj lh cgrk gDdk@ykg dh iÙkh dk fpdVkA[15]

यह है आजाद देश के एक आजाद जन की स्थिति। यह कविता स्वाधीनता के तुरन्त बाद की लिखी हुई है। यातनाग्रस्त, दीनता के दलदल में फंसे ऐसे तमाम भूखे किसानों के बेटे के लिये भी स्वाधीनता का दरकार है। इस तथ्य को कवि ने प्रच्छन्न रूप से रेखांकित कर दिया है। गांवों में अब भी तथाकथित किसानों का एक बहुत बड़ा ऐसा तबका है, जिसके पास बहुत ही अपर्याप्त जमीन के मोह में बंधकर वे दिनरात मजदूरी करते हैं और कर्ज पर अपना जीवन बसर करते हैं। आधी–तिहाई मजदूरी पर वे काम करने के लिये विवश किये जाते है। जमींदारों से प्राप्त थोड़ी बहुत जमीन पर स्वयं भी खेती करते है जिसकी जरूरत से अधिक लगान भी उन्हें देनी पड़ती है। थोड़ी सी प्राकृतिक आपदा आ जाने पर उसकी क्या स्थिति होती है, इसका एक करूण चित्र कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

tk[k ckth gkj x;k@xg e x: vk yxk@?kkxh u [kk fy;k puk@fcydy fcxMk [ky cukA[16]

उसका तो खेल बिगड़े या बने जमींदार को तो लगान देनी ही पड़ेगी –

tehnkj u dgk ejk@lc yxku vnk djk@ojuk ftUnk vkt ejkA[17]

चूंकि वह मरना नहीं चाहता अतः –

tk[k u ?kj cp fn;k@:i;k vkj m/kkj fy;k@[k.M&[k.M gk x;k fg;k@ fof/k l n[kk ugh x;k@tk[k ckth gkj x;kA[18]

जोखू के लिये अब दैनिक मजदूरी के सिवाय और कोई रास्ता नहीं रह जाता। ऐसे बहुत बड़ी जमात गांवों में तैयार हो जाती है। इसके अतिरिक्त हर गांव में एक हरिजन बस्ती होती है जिसमें रहने वालों का जीवन दैनिक मजदूरी पर ही निर्भर करती है। उनको इस यातनाग्रस्त जीवन से छुटकारा दिलाने के लिये उन्हीं के बीच उठने वाले लोग भी हैं, जो लोगों को इकट्टा कर जमीदारों को चुनौती भी देते हैं। इसको केदारजी ने अपनी 'एका का बल' शीर्षक कविता में व्यक्त किया है –

Mdk ctk xko ds Hkhrj@ lc pekj gks x;s bdÍk@,d mBk ckyk ngkMdj@ ge pekj g]@ exj gkFk lks Qkykn gs@ lks gkFkks ds ,dk dk cgqr cMk g@ge igkM dks m[kkM dj j[k ldrs gSA[19]

केदारनाथ अग्रवाल ने इस शोषित उत्पीड़ित जन को निरूपाय और बेवश नहीं माना है। इस जन की अमरता ही नहीं उसकी अन्तिम विजय के प्रति भी उन्होंने अपना पूरा विश्वास प्रकट किया है। 'कभी नहीं जनता मरती है' कविता में इस विश्वास को कवि ने साकार किया है। चाहे कितने अत्याचार हो, चाहे जितना खून–खराबा और शोषण–उत्पीड़न हो जनता नहीं मरती –

lc n'kks es lc jk"Vªks es@'kkld gh 'kkld ejrs gS@ 'kks"kd gh 'kks"kd ejrs gS@ fdlh n'k dk fdlh jk"Vª dh@dHkh ugha turk ejrh gSA[20]

इस शोषित उत्पीड़ित आम जन एवं किसान को केदारनाथ अग्रवाल ने उसकी समूची खामियों और खूबियों के साथ अपनी कविता में उपस्थित किया है। केदारनाथ अग्रवाल ने एक किसान की किसानीयत को भली–भांति देखा है –

tYnh&tYnh gkd fdluok@cSyks dks gfj;krs tk@;qx dh iSuh ykSg dqlh dks@Hkqbl es [kqc xMk;s tk@ijq[kks dh gÏh ds gy ds@vkxs vkt c<k;s tk@oHkko dks lwus [ksrks dh@Nkrh phj fn[kk;s tkA[21]

किसान, जिसने युगों–युगों से पैनी कुसी खेत को उपजाऊ बनाया और सदियों से सूनी खेतों का छाती चीर उसमें वैभव के दिन जगा दिया।

किसान देश की प्रगति का रथ है। केदारनाथ जी यह भली–भांति जानते थे, कि किसान का विकास देश का विकास है, लेकिन समाज में जिस समय के किसानों की परिस्थिति की बात कर रहे हैं, वह युग मेहनत का युग है। प्रकृति के गोद में रहने वाला कवि अपने गांव परिवेश के लोकजीवन को देखा है। 'किसान स्तवन' शीर्षक कविता में मेहनतकश किसानों का लोकजीवन ही बिखेर दिया है।

rqe tks viuS gkFkks es fof/k ls T;knk rkdr j[krs gks]
egur ls jgrs gks] [ksrks es tkdj [krh djrs gks
eMks dk Åpk djrs gks] e?kks dk ikuh Hkjrs gks]
Qlyks dh mEnk uLy ls gj lky u;h iSnk djrs gksA

----

dtjkjh xkvks ds Fku ls i; nqgrs gks
fQj Hkh eMs ij xkcj ydj pyrs gks

----

rqe tks Nkrh ij iRFkj jD[ks thus dk ne Hkjrs gks
vU;k;kvks ls tkj tqye ls eqÍh rkjs yM ejrs gks

----

egur dh eLrh es Kkuh foKkuh 'kjekrs gks
rqe tks egur dh xgq tks dh jkVh [kkrs gks

----

rqe lPps rqe ls Hkkjr dk lqUnj liuk lPpk gS
rqe xkrs gks rqe ls Hkkjr dk dkuk&dkuk xkrk gS
rqe ls e>dks ejs Hkkjr dks thou dk cy feyrk gS
rqe ij e>dks xoZ cgqr gS] Hkkjr dks vfHkeku cgqr gS
;|fi 'kklu rqedks {k.k Hkj dk dkbZ eku ugha nsrk gS

----

e re ij dforkfy[krk g@dfo;k e redk vkx ydj c<rk g@ vlyh Hkkjr i= rEgh gk@ e dgrk gA[22]

जो किसान अपने छाती पर पत्थर रखकर जीवन जीने का दम भरता है। जो अन्यायाओं और जुलुम से लड़ता है, केदारजी उसी को कहते हैं कि तुम सच्चे हो, तुम्हारा सपना सच्चा है और तुम जब गाते हो तो पूरा भारत का कोना–कोना गाता है और केदारनाथ जी कहते हैं कि तुम्हारे हाड़–तोड़ मेहनत को देखकर मुझे तो जीवन जीने का बल तो मिलता ही है, लेकिन यह बल समूची भारत को मिलता है। केदारजी को कष्ट भी इसी बात पर है कि तुम्हे शासन द्वारा कोई मान सम्मान नहीं दिया जाता है। केदारनाथ जी इन्हीं मेहनतकश किसानों पर कविता लिखते हैं भारत के असली वीरपुत्र तुम्हीं हो।

lUnHk %

1. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ. 47
2. वहीं
3. वहीं, पृ. 47–48
4. वहीं, पृ. 82
5. वहीं, पृ. 64
6. विश्वनाथ त्रिपाठी, पेड़ का हाथ, पृ. 36
7. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते है, पृ. 92
8. वहीं, पृ. 134
9. लल्लन राय, हिन्दी की प्रगतिशील कविता, पृ. 199
10. केदारनाथ अग्रवाल, कह केदार खरी–खरी, पृ. 121
11. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 21
12. वहीं, पृ. 21–22
13. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलायें तोड़ते हैं, पृ. 131
14. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 92
15. वहीं, पृ. 98
16. केदारनाथ अग्रवाल, कहे केदार खरी–खरी, पृ. 124
17. वहीं, पृ. 101
18. वहीं, पृ. 109
19. वहीं, पृ. 140
20. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ. 49
21. वहीं, पृ. 84
22. केदारनाथ अग्रवाल, कहे केदार खरी–खरी, पृ. 62

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

ck) egk;ku l=&lkfgR; e oSiY; l=k dk egÙo

MkO uhye ;kno*

बौद्ध संस्कृत–वाङ्मय में महायान बौद्ध–सूत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन सूत्रों में सदाचार एवं सद्नीति से सम्बन्ध सारगर्भ श्लोक ग्रंथित है। साथ ही इनमें महायान दार्शनिक सिद्धान्तों महाकरूण का समन्वित रूप तथा बुद्ध बोधिसत्त्व प्रज्ञार्चन भी निदर्शित है।

'सूत्र' संस्कृत–साहित्य में 'संक्षिप्त' इस अर्थ में व्यवहृत होता हैं अथवा इसका अर्थ 'लक्षणपरक संक्षिप्त वाक्य' से लिया जाता है। सूत्रकारों ने इसका लक्षण करते हुए कहा है–

vYi{kjelfUnX/k lkjof}'orkse[keA
vLrkHkeuo|p l= l=fonks fon%A[1]

किन्तु 'सूत्र' शब्द संस्कृत में जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, वही अर्थ पालि, बौद्ध संस्कृत अथवा प्राकृतसाहित्य में भी अभिप्रेत हो, ऐसी बात नही है। वहाँ सूत्र का तात्पर्य 'सुत्त' से लिया जाता हैं न कि संस्कृत सूत्र से जो वस्तुतः इनमें भ्रमात्मक माना जाता है। वैदिक संस्कृत अथवा लौकिक संस्कृत का सूक्त शब्द आवश्य ही इस सूत्र के लिए समुचित कहा जा सकता है और उक्त साहित्य–त्रय में यही सूक्त मान्य है।

पाणिनि व्याकरकानुसार जैसे विविध–मणि, सुवर्ण आदि धातुओं को एक सूत्र में आबद्ध करने पर सुन्दर अलङ्कार निष्पन्न होता है उसी प्रकार विमुक्ति रस से सिक्त नाना प्रकार के बुद्ध वचनों का एक निर्वाण में जिसके द्वारा वेष्टन किया जाता है वह 'सूत्र' हैं अथवा बुद्ध वचनों का नाम 'सूत्र' है। महायान परम्परानुसार बुद्ध का ऐसा कोई वचन नहीं है, जिसमें ज्ञेय (वस्तु), अनुष्ठेय मार्ग और प्राप्य फल तीनों संग्रहीत न हो। इस प्रकार बुद्धवचन 'सूत्र' के नाम से व्यवहृत होते है। अतएव 'सूत्र' यह समस्त बुद्धवचनों का एक सामान्य नाम है।

महायान सूत्र–साहित्य की परम्परा बहुत लम्बी है, शान्तिदेव के शिक्षा समुच्चय में सौ तथा महाव्युत्पत्ति में एक सौ पाँच महायान–सूत्रों का उल्लेख मिलता है। बी0नान्जियों ने महायान–सूत्रों की संख्या 541 बतलायी है, किन्तु इनमें से अपने मूलरूप में उपलब्ध होने वाले सूत्र एवं शास्त्र लगभग 24 है। बौद्ध महायान सूत्र साहित्य में सर्वाधिक समादृत ग्रन्थों की संख्या नौ है जो वैपुल्य सूत्र के नाम से जाने जाते हैं। नेपाल के धार्मिक साहित्य में ये सूत्र 'नवधर्म' के रूप में प्रख्यात है, वहाँ इन्हे विशेष श्रद्धा की दृष्टि देखा जाता है। महायान सम्प्रदाय की सभी विशेषतायें इन ग्रन्थों में प्राप्त होती है। ये ग्रन्थ निम्न हैं–

¼1½- v"Vlkgfl=dk&iKkikjferk% 'प्रज्ञा' का आशय उच्चतम विवेक या पूर्ण ज्ञान है। इस विषय का विवेचन प्रज्ञापरामिता में बहुत ही अल्पांश में किया गया है। उसका बहुत बड़ा अंश अन्य विषयों की विवेचना से भरा है, जैसे– योग्य गुरू व सुविनीत शिष्य प्राप्त करने की कठिनाइयाँ इत्यादि। शिष्य ऐसा हो जिसे दान, शील, समाधि, ध्यान और वीर्य का आचार करके पूर्णता प्राप्त कर ली है तक जाकर वह 'प्रज्ञा' धारण करने में समर्थ माना जायेगा। इस प्रकार यह प्रज्ञारूपज्ञान सभी विधाओं तथा रूपों का ज्ञान है, जिसे 'सर्वाकारज्ञता' कहते है। यह अवस्था ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व की अवस्था होती है जिसमें तपस्या की भी आवश्यकता होती है। साधक में बोधिचित्त अर्थात् बुद्ध विषयक ज्ञान लिप्सा तक पहुँचने की उमंग होनी चाहिये। मार्ग में विध्न बाधायें अवश्य होगी, जिन्हें साधक को लाँधना ही पड़ेगा। इन विघ्नों की तीन

*अतिथि प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

भिन्न अवस्थायें बतायी गयी है और इन्हे 'मारकर्म' (मार त्र दुष्टात्मा) कहा गया है। प्रज्ञापरामिता को कभी साधन कभी साध्य बताया गया है।[2] प्रज्ञा का अधिकांश लक्षण निषेधात्मक है, यह ज्ञान कैसे पाया जाये इस विषय में इतना नहीं परन्तु यह क्या नहीं है इस विषय में बहुत कुछ कहा गया है। बौद्ध धर्म की चार आधारशिलायें (दुःख, समुदाय, निरोध, मार्ग) हैं जिनका ज्ञान निर्वाण तक पहुँचाता है यह निर्वाण एक ओर प्रतीत्यसमुत्पाद के बराबर माना जाता है तो दूसरी ओर शून्यता के। यह शून्यता हमारे मन से सम्पूर्ण विकल्पों तथा विकारों को निवृत्ति देने का प्रयास करती है। जब मन इससे मुक्त हो जाता है, तब शून्यता का भान कर लेता है। मन की यह अवस्था प्राप्त करने के लए निषेधात्मकता ही श्रेष्ठ पंथ है। इसलिए शून्यता या प्रज्ञापारमिता का वर्णन करने में उसका अत्यन्त महत्त्व है तथापि मुक्ति प्राप्त करने के लिए शून्यता या प्रज्ञापरामिता के सिद्धान्त से चिपके रहना भी खतरनाक है। अतः प्रज्ञापारमिता साहित्य ने यह उपसिद्धान्त विकसित किया है– ''न शून्ये चरति नाशून्ये चरित, चरति प्रज्ञापारमितायाम्। या सर्व ध र्मानुपलब्धि तथा प्रज्ञा पारमितानुपलब्धिता। या सर्वधर्मचिन्त्यतया प्रज्ञा पारमिता चिन्त्यता।''[3] नीतिशास्त्र की दृष्टिकोण से इस परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति का फल ही विश्वबन्धुत्व, करूणा जैसे सद्गुणों का व्यवहार है। दार्शनिक दृष्टि से जादूगर की भूमिका सम्पन्न करने में सहायक है, जो जानता है कि अपनी पैदा की हुई वस्तु न सत्य है न असत्य (माया पुरूषवत् स्थातव्यम्)। इसी सिद्धान्त को आचार्य नागार्जुन आदि ने दार्शनिक रूप में प्रतिष्ठित किया है।

¼2½- l)eZi.Mjhd ½ सद्धर्मपुण्डरीक वैपुल्य सूत्रों में अन्यतम अद्वितीय एवं श्रेष्ठ सूत्र ग्रन्थ हैं इसकी श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए कहा गया है जैसे सभी निर्झरों, तडागों तथा सरोवरों में महासिन्धु उत्कृष्ट है, वैसे ही सुगत–भाषित समस्त सूत्रान्तों में सद्धर्म – पुण्डरीक धर्मपर्याय श्रेष्ठ है। यह धर्मपर्याय समग्र सत्त्वों को सभी प्रकार के त्रासों से त्राण, क्लेशों से विमुक्ति प्रदान करने वाला है। जिस प्रकार तड़ाग तृषार्तों की तृष्णा, अग्नि हिमार्तों का शैत्य तथा वस्त्र नग्न नरों की नग्नता को दूर कर उनकी रक्षा करता है, उसी प्रकार यह धर्म पर्याय है, जो भव कष्टों से समग्र प्राणियों की रक्षा करता है जैसे जननी अपनी सन्तान की रक्षिका है, तरणी तरणार्थियों की सहायिका है तथा जैसे भिषक् रूग्णों को रोगमुक्त एवं स्वास्थ्य लाभ कराकर उनकी रक्षा करता है उसी प्रकार तथागत वचन सद्धर्म पुण्डरीक धर्मसूत्रराज अधर्मियों के अधर्म एवं अज्ञान रूप रोग का विनाश कर, उन्हें ज्ञान पुण्य प्रकाश द्वारा प्रभासित करता है।[4]

इस प्रकार सद्धर्मपुण्डरीक में विनय, शील, सदाचार, दर्शन, यानत्रयमहत्व में बुद्धयान की श्रेष्ठता, षड्पारमिता, अवलोकितेश्वर व बुद्ध की भक्ति भावना से ओत–प्रोत है।

¼3½- yfyrfoLrj ½ ललितविस्तर में सर्वार्थसिद्ध के जन्म से लेकर धर्मचक्र प्रवर्त्तन तक की कथा को प्रस्तुत किया गया है। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' के उद्देश्य ने इस ग्रन्थ की महत्ता का प्रतिपादन किया है।–

> rn~ fHk{kok e J`.kqrg lo
> oSiqY; l= fg egkfunkueA
> ;n~ Hkkf"kra lokZrFkkxr%
> ikx~ ykdL; loL; fgrkFkkeoeAA

ललितविस्तर में लिपिशालासन्दर्शन' नामक परिवर्त में चौसठ प्रकार लिपियों तथा उनके गुरू विश्वमित्र का भी उल्लेख हुआ है।

¼4½- y³dkorkj l= ½ सद्धर्म लङ्कावतार सूत्र अर्थात् लङ्का में सद्धर्म का दिव्य प्रकाशन। यह महायान सूत्र विज्ञानवादीसिद्धान्तों का प्रकाशक एक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण रचना है इस ग्रन्थ में लंकापति रावण को सद्धर्म का उपदेश दिया गया है। जिसमें बोधिसत्व 'महामति' के निर्देशानुसार रावण भगवान् बुद्ध से धर्माधर्म के भेद विषयक प्रश्न करता हैं महामति ने स्वयं भगवान् बुद्ध से सौ प्रश्न किया हैं जिसमें विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विषद वर्णन करने के साथ ही बन्धन, मोक्ष, निर्वाण, आलय–विज्ञान आदि विषयों को लेकर भी प्रश्न किये गये है। अन्य विषयों के साथ तथागत के अनेक नामों की विशिष्ट सूची भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। लङ्कावतार सूत्र में शाक्यमुनि ने मांस–भक्षण के कुपरिणामों को अनेक कथानकों के दृष्टान्तों द्वारा प्रदर्शित किया है।

¼5½- **lo.kiHkkl l=** ¼ सुवर्णप्रभास में तथागत को अद्‌भुत पदार्थों एवं गुणों से सम्पन्न अलौकिक माना गया है। वह न तो कभी उत्पन्न होते हैं न तो कभी उनका अवसान होता है इस सूत्र को धारणी–महात्म्य के रूप में उल्लेख किया है जिसे 'देवेन्द्र समय' कहा गया है, जो महाराज 'बलदकेतु' द्वारा अपने पुत्र 'रूचिरकेतु' (जिसका राज्याभिषेक होने वाला है,) को हितोपदेश का वर्णन है, जिसके अध्ययन से शुकनाशोपदेश (कादम्बरी) की स्मृति जागृत हो जाती है सुवर्णप्रभास में वार्णित आख्यानों में एक ऐसे युवराज का वृतान्त है, जो एक क्षुधार्त व्याघ्री के भोजनार्थ निज का व्यापादन करते हुए दृष्टिगत होता है।[5] पुत्र के भष्मावशेष को पिता ने स्वर्णिम रत्न पेटिका में रखकर उसके ऊपर स्तूप की रचना की हैं इसमें कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ तन्त्र–क्रिया पद्धाति की शिक्षा दी गयी है तथा अनेक देवियों (हारीती, चाण्डिका) का उल्लेख है।

¼6½- **x.M0;g** ¼ श्रेष्ठी पुत्र सुधन के दृष्टान्त के माध्यम से गण्डव्यूह में बोधिसत्त्वचर्या व बोधिचितोत्पाद का अद्‌भुत वर्णन किया गया है।

¼7½- **rFkkxrx|º; l=** ¼ तथागतगुह्यक सूत्र के अनुसर बोधिसत्त्व प्राणिधान करता है कि शमशान में स्थित उसके मृत शरीर का तिर्यक योनि में उत्पन्न प्राणी यथेच्छ उपभोग करे और परिभोग के कारण वे स्वर्ग में उत्पन्न हो, इतना ही नहीं, वह इनके परिनिर्वाण का हेतु भी हो। 'ये मे मृतस्य कालगतस्य मांसभुञ्जीरन् स एव तेषां हेतुर्भवेत् सर्गोपपत्तये यावत् परिनिर्वाणाय तस्यं शीलवतः।"[6]

पुनश्च, तदनुसार बोधिसत्त्व धर्मकाय से प्रभावित होता है, इसलिए वह अपने दर्शन, श्रवण व स्पर्श से भी सत्त्वों का हित करता है उसी सूत्र में अन्यत्र उल्लिखित है कि शान्तमति जो वृक्षमूल से उखड़ गया है, उसकी सभी डालियाँ, शाखायें, और पत्ते सूख जाते हैं, उसी प्रकार सत्काय दृष्टि का नाश हो जाने से बोधिसत्त्व के सभी क्लेश नष्ट हो जाते है।

¼8½- **lekf/kjkt** ¼ इस ग्रन्थ में तथागत और चन्द्रप्रदीप के मध्य हुए परिसम्वाद का वर्णन है तथा यह प्रदर्शित है कि किसी प्रकार विविध समाधियों के माध्यम से विशेषतः समग्र समाधियों में श्रेष्ठ 'समाधिराज' द्वारा बोधिसत्त्व प्रज्ञा (सर्वोत्त्म ज्ञान) की प्राप्ति करते हैं तथा प्रारम्भिक अवस्थाओं का उल्लेख है; जिसमें वे अपने श्रेष्ठ को समाधि के योग्य बनते है।

इस सूत्र ग्रन्थ का वर्ण्य–विषय शून्यता की अवगति है। इस जगत् में समग्र पदार्थ तथ्यतः एक ही है, यह बात दूसरी है कि ज्ञानहीनों की दृष्टि में वे पृथक् एवं नाना रूपों में अवभासित होते हैं इस भव–सागर से सत्त्वों को मुक्ति दिलाने वाला एक मात्र आधार है– समस्त धर्मों की प्रकृति में साम्य का परिज्ञान।

¼9½- **n'kHkfe'oj** ¼ दशभूमिश्वर सूत्र में उन दशा भूमियो (प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दुरंगमा, अचला, साधुमती, धर्मभेद्य) की विवेचना है जिसके द्वारा सम्पक् सम्बोधि प्राप्त की जा सकती है। इन भूमियों का व्याख्यान बोधिसत्त्व 'वज्रगर्भ' द्वारा दिया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महायान सूत्र ग्रन्थों में नव वैपुल्प सूत्रों का अत्यधिक महत्व प्रदर्शित होता है। इन वैपुल्य सूत्रों में महायान बौद्ध से सम्बन्धित धर्म व दर्शन की सभी विशेषतायें पूर्णतया प्राप्त होती है।

lUnHk ¼

1. काव्यमीमांसा, अध्याय – 2
2. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ0–11, 12, 27 हरिभद्र विरचित आलोक व्याख्या सहित, मिथिला विद्या प्रकाशन, 1959, पृ0 11
3. तत्रैव, अध्याय 7, 22।
4. सद्धर्मपुण्डरीक – पृ0 423–424
5. तुलनीय – व्याघ्री जातक (जातकमाला)
6. तथागतगुह्य, उद्‌धृत शिक्षासमुच्चय, दरभंगा संस्करण, 1960 पृ0 89।

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

okYehfd jkek;.k e: l:pkj d: fofo/k lUnHk

Mk- ykdukFk*

रामायण महर्षि वाल्मीकि की रचना है। वर्तमान संचार विश्वव्यापी हो गया है, परन्तु संचार का केन्द्र मनुष्य का अन्तःस्थल है। सूचना मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं में से एक है। मनुष्य एकाकी हो अथवा समूह में उसके आभ्यन्तर में चिंतन की क्रिया–प्रतिक्रिया निरन्तर चलती रहती है। वर्तमान में संचार का जो स्वरूप विद्यमान है, उसके मूल में विकास की लम्बी प्रक्रिया छिपी है। मनुष्य ने चेतना के साथ प्रारम्भ में शारीरिक भाषा का प्रयोग किया। भाषा और लिपि के विकास के साथ ही संचार की प्रक्रिया में विकास की नवीन प्रवृत्तियां प्रारम्भ हुईं। धीरे–धीरे लेखन की शैली आदि का विकास हुआ। मनुष्य अपनी भावनात्मक अभिव्यक्ति को कविता, कथा आदि के माध्यम से संग्रहीत करने लगा।

वाल्मीकि कृत रामायण आदिकाव्य है। इसकी कथा जन–मानस में संचारित होती रही है। मर्यादापुरुषोत्तम राम ईश्वर के अवतार हैं, ऐसे राम का चरित्र निश्चय ही सर्वमंगलकारी है। रामायण का महत्व एक शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में अंगीकार किया जा सकता है। कथाओं के मध्य–मध्य में धर्मशास्त्रीय, नीतिशास्त्रीय तथा राजनीति विषयक श्लोक आये हैं, जिनमे शास्त्रपरक दृष्टि परिलक्षित होती है–

^dkekFkx.k l;ä /kekFkx.kfoLrjeA
lenfeo jRuk<î loJfreukgjeAA
l ;Fkk dfFkr io ukjnu egkReukA
j?kqo'kL; pfjr pdkj Hkxoku efu%AA[*1]

अर्थात् ' देवर्षि नारद जी ने पहले जैसा वर्णन किया था, उसी के क्रम से भगवान् वाल्मीकि मुनि ने रघुवंशविभूषण श्रीराम के चरित्र विषयक रामायण काव्य का निर्माण किया। जैसे– समुद्र सभी रत्नों का निधि है उसी प्रकार यह महाकाव्य गुण, अलंकार एवं ध्वनि आदि रत्नों का भण्डार है। इतना ही नहीं, यह सम्पूर्ण श्रुतियों के सारभूत अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण सबके कानों को प्रिय लगने वाला तथा सभी के चित्त को आकृष्ट करने वाला है। यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी गुणों से युक्त तथा इनका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन एवं शिक्षा प्रदान करने वाला महाकाव्य है।'

परम्परागत रूप में वाल्मीकि को 'आदिकवि' एवं उनकी रचना को 'आदिकाव्य' कहा जाता है–

^/kE; ;'kL;ek;"; jkKk p fot;kogeA
vkfndk0;fen pkk"k ijk okYehfduk dreAA[*2]

अर्थात्, 'यह ऋषिप्रोक्त आदिकाव्य रामायण है, जिसे पूर्वकाल में महर्षि वाल्मीकि ने बनाया था। यह धर्म, यश तथा आयु की वृद्धि करनेवाला एवं राजाओं को विजय देनेवाला है।'

रामायण की ऐतिहासिकता से जुड़े हुए काल के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मत की भिन्नता है। फिर भी विद्वानों ने अपने–अपने मत के अनुसार काल निर्धारण का प्रयास किया है। भारतीय कालगणना के अनुसार रामायण महाकाव्य का रचनाकाल त्रेतायुग है। भारतीय कालगणना दुनिया की सबसे प्राचीनतम, तार्किक एवं व्यापक कालगणना है। सम्पूर्ण काल को युगों से प्रतिपादित किया गया है और इन युगों का भी आवर्तन कल्प–कल्पान्त में होता है। इस युगीय कालगणना को हम, पश्चिमी एवं अन्य कालगणनाओं से इसलिए समरूपता स्थापित नहीं कर सकते क्योंकि भारतीय कालगणना का

*पी.डी.एफ., महामना मदनमोहन मालवीय हिन्दी पत्रकारिता संस्थान, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी (उ0प्र0)।

सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष के जीवन चक्र से न जोड़कर सम्पूर्ण सृष्टि के उद्‌भव से जुड़ा है। जो भी हो इतना तो कह सकते हैं कि रामायण काल्पनिक महाकाव्य न होकर त्रेतायुग में विद्यमान सामाजिक सन्दर्भ को लिपिबद्ध करने वाले अथवा व्यक्त करने वाले जीवन्त महाकाव्य हैं। इसके प्रमाण में रामायण में वर्णित भौगोलिक सन्दर्भ मुख्य हैं। इनमें जिन स्थलों, पर्वतों, नदियों आदि का उल्लेख है। वे सब वर्तमान में भी भारत में यत्र–तत्र प्राप्त होते हैं।

अध्ययन के महत्व की दृष्टि से देखा जाय तो जब भी कोई अध्ययन किया जाता है तो उसका अपना महत्व एवं उपयोगिता होती है। इस अध्ययन की भी अपनी उपयोगिता है। भारत वर्ष में युगों–युगों से रामायण जन–जन में लोकप्रिय रहा है। भारतीय समाज में रामायण की कथाओं के माध्यम से लोग अपनी जीवन–शैली को बदलते हैं। रामायण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आभ्यन्तर संचार, अन्तर्वैयक्तिक संचार, समूह संचार एवं जनसंचार की उपलब्धता एवं उपयोगिता थी। विश्व में किसी भी संस्कृति को जीवित रहने के लिए अथवा अस्तित्व एवं विकास के लिए प्रभावी संचार प्रक्रिया अपनाना पड़ता है क्योंकि बिना संचार के कोई भी धार्मिक ग्रंन्थ, संस्कृति और सभ्यता न अस्तित्व में रह सकते हैं और न विकास कर सकते हैं।

प्रस्तुत शोध का मुख्य उद्‌देश्य रामायण में प्रस्तुत संचार के विविध सन्दर्भों की पहचान करना। अध्ययन की प्रमुख उपकल्पनायें निम्नवत हैं – रामायण में आभ्यन्तर संचार, अन्तर्वैयक्तिक संचार, समूह संचार एवं जनसंचार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।

रामायण में प्रस्तुत संचार के विविध सन्दर्भ में शाब्दिक विश्लेषण विधि का प्रयोग किया गया है। इस विधि के माध्यम से मुद्रित रूप से उपलब्ध पौराणिक दस्तावेजों, धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता है। वाल्मीकिकृत रामायण में कुल 7 काण्ड हैं– बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तर काण्ड। इन काण्डों में कुल 645 सर्ग तथा 22850 श्लोक हैं। जिसमें सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन है।

संचार को समझने के लिए जब हम मानव इतिहास का अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि विश्व में अनेक ऐसे महापुरुष, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक नेता हुए हैं जिन्होंने संचार के माध्यम से मानवता को प्रभावित किया है। भारतीय संस्कृति में वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत एवं गीता आदि संचार के प्राचीनतम रूपों को अभिव्यक्त करते हैं। 'संचार शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'चर' धातु से निःसृत है जिसका अभिप्राय चलना है। गंभीर अर्थों में निरन्तर आगे बढ़ती रहने वाली प्रक्रिया संचरण कहलाती है।'3 'संचार मानवीय समाज की संज्ञानात्मक प्रक्रिया है, जिसमें उद्‌देश्यपूर्ण एवं सार्थक–अनुभवों, व्यवहारों एवं आवश्यकताओं का परस्पर आदान–प्रदान किया जाता है। इसमें निश्चित लक्ष्य निहित होता है, यह व्यक्ति के व्यवहार को परिमार्जित एवं प्रभावित करता है। इसमें समता, भागीदारी, की सूचना एक संप्रेषक एवं श्रोता के मध्य स्वतः विद्यमान रहती है।'[4]

आभ्यन्तर संचार मनुष्य का आत्मचिन्तन है। व्यक्तिगत चिन्तन–मनन स्वयं व्यक्ति के भीतर का संचार है। यह मनुष्य की भावना, स्मरण, चिन्तन या उलझन के रूप में हो सकता है। मनोविज्ञान में इस प्रकार के संचार पर विशेष अध्ययन हुआ है। वस्तुतः संचार के प्रकारों में आभ्यन्तर संचार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

रामायण कथा वर्तमान समय में जन–जन में व्याप्त हैं। वाल्मीकि रामायण का प्रारम्भ ही संचार सम्बन्धी जिज्ञासा से होता है।

^Å ri%Lok/;k;fujr riLoh okfXonk oje A
ukjn ifjiPN okYehfdeZfuiqxoeAA 1AA
dks UofLeu lkEir ykds xq.koku d'p oh;Zoku A
/keZK'p d`rK'p lR;okD;ks n<or%AA 2AA
pfj=s.k p dks ;qä% loHkwrs"kq dks fgr%A
fo}ku d% d% leFkZ'p d'pSdfi;n'kZu%AA 3AA

vkReoku dk ftrØk/kk |freku dk·ul ;d%A
dL; fcH;fr nok'p tkrjk"kL; l;xAA 4AA*5

अर्थात् 'महर्षि वाल्मीकि ने तपस्या और स्वाध्याय में लगे हुए विद्वानों में श्रेष्ठ मुनिवर नारद से पूछा— मुने! इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता और दृढ़ प्रतिज्ञ कौन है? सदाचार से युक्त, समस्त प्राणियों का हितसाधक, विद्वान, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर) पुरूष कौन है? मन पर अधिकार रखनेवाला, क्रोध को जीतने वाला, कान्तिमान् और किसी की भी निन्दा नहीं करने वाला कौन है? तथा संग्राम में कुपित होने पर किससे देवता भी डरते हैं।' इस प्रश्नों के उत्तर में देवर्षि नारद ने सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकि को रामकथा सुनायी। इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि और देवर्षि नारद के अन्तर्वैयक्तिक संवाद से ही रामायण कथा का अवतरण हुआ। आदिकवि वाल्मीकि को रामायण कथा की अभिप्रेरणा क्रौंचवध की कथा से प्राप्त हुई है। रामायण के बालकाण्ड में वर्णन आता है कि एक बार वाल्मीकि मुनि तमसा नदी के किनारे मध्याह्नकालीन स्नान हेतु गये। मुनि के साथ उनके शिष्य भरद्वाज भी थे। तमसा तीर्थ में स्नान करने हेतु शिष्य ने वाल्मीकि मुनि से वल्कल वस्त्र ले लिया और क्षणभर के लिए वन की सुषमा का निरीक्षण करने लगे। उसी समय एक क्रौंच पक्षी का युगल वहाँ विचरण कर रहा था। मुनि के देखते ही एक बहेलिये ने क्रौंचयुगल में से नर पक्षी को बाण से आहत कर दिया। वह रुधिर से लथपथ होकर तड़पता हुआ पृथ्वी पर गिरकर मर गया। अपने पति की हत्या देखकर उसकी भार्या क्रौंची करूण क्रन्दन करने लगी। ऐसे करूणाद्रि दृश्य को देखकर मुनि के हृदय में शापस्वरूप यह वाणी निकल पड़ी—

^ek fu"kkn ! ifr"Bk Roexe% 'kk'orh% lek%A
;r ØkpfeFkukns deo/kh% dkeekfgreAA15AA*6

अर्थात् 'निषाद ! तुझे नित्य—निरन्तर—कभी भी शान्ति न मिले; क्योंकि तूने इस क्रौंच के जोड़े में से एक की, जो काम से मोहित हो रहा था, बिना किसी अपराध के हत्या कर डाली।' इसके पश्चात् क्रौंच पक्षी के जोड़े में निषाद द्वारा नर क्रौंच की हत्या के उपरान्त मादा क्रौंच की दशा देखकर महर्षि वाल्मीकि के मन में जो विषाद / शोक उत्पन्न हुआ उससे सहसा श्लोक छन्द प्रकट हुआ।

^iknc)k·{kjleLrU=hy; lefUor% A
'kkdkrL; iozÙkks es 'ykdks Hkoru ukU;FkkAA 18 AA*7

वाल्मीकि ने अपने शिष्य से इस प्रकार बोले— 'तात! शोक से पीड़ित हुए मेरे मुख से जो वाक्य निकल पड़ा है, यह चार चरणों में आबद्ध है। इसके प्रत्येक चरण में बराबर—बराबर (यानि आठ—आठ) अक्षर हैं तथा इसे वीणा के लय पर गाया भी जा सकता है; अतः मेरा यह वचन श्लोकरूप (अर्थात् श्लोक नामक छन्द में आबद्ध काव्य रूप या यशःस्वरूप) होना चाहिये, अन्यथा नहीं।' इसी के पश्चात् व्यथित वाल्मीकि की अन्तःप्रेरणा से निकला छन्द रामायण की रचना का आधार बना।

^reokp rrk cãk iglu ifuixoeAA30AA
'ykd ,okLRo;k c)k uk= dk;k fopkj.kkA
ePNUnkno r cãu iozÙk;a ljLorhAA31AA*8

इसी क्रम में आगे वर्णन है कि 'ब्रह्माजी रामायण कथा के उद्देश्य से वाल्मीकि के पास आये और ब्रह्माजी उनकी मनःस्थिति को समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकि से इस प्रकार बोले— 'ब्रह्मन्! तुम्हारे मुँह से निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषय में तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे प्रेरणा से ही तुम्हारे मुँह से ऐसी वाणी निकली है।'

उक्त कथन से स्पष्ट है कि नर क्रौंच पक्षी की मृत्यु से मादा क्रौंच में उपजे विषाद को देखकर महर्षि वाल्मीकि के मन में जो सहज आभ्यन्तर संचार हुआ, वही रामायण की रचना का आधार बना। इस प्रकार रामायण की रचना में आभ्यन्तर संचार एवं अन्तर्वैयक्तिक संचार की भूमिका प्रमुख है।

संचार के चार प्रकार मानव समाज में विद्यमान रहे हैं, जो निम्नवत हैं— आभ्यन्तर संचार, अन्तर्वैयक्तिक संचार, समूह संचार एवं जनसंचार । संचार के विविध प्रकार मानव समाज में प्रत्येक

कालखण्ड में विद्यमान रहे हैं। हालांकि युगानुरूप इनके स्वरूपों में परिवर्तन अवश्य हुए हैं। इन संचारों का आधार आभ्यन्तर संचार है।

[9]

रामायण में रामायण में आभ्यन्तर संचार के सन्दर्भ मिलते हैं जैसे– चिन्तामग्न, मन ही मन प्रसन्नता, अन्तःकरण में विचार, पश्चाताप, स्मरण, अभिलाषा, स्वाध्याय, स्मृति, चिन्तन, शोकमग्न, शोक संतप्त, विषाद, मन में शंका, ध्यानमग्न आदि।

जब व्यक्ति आमने–सामने बैठकर एक दूसरे से बातचीत करता है तो उसे अंतर्वैयक्तिक संचार कहते हैं। इस संचार प्रक्रिया में संदेशों का प्रेषण मौखिक तथा अमौखिक जैसे– शारीरिक हावभाव, संकेत, बोली, स्पर्श, नेत्र सम्पर्क, मुस्कुराहट आदि से भी हो सकता है। इसमें प्रतिपुष्टि (फीडबैक) तत्काल हो सकती है। सम्प्रेषक और सग्राहक की निकटता अन्तर्वैयक्तिक संचार की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है।

एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से विचारों, मतों, भावनाओं के आदान–प्रदान को अन्तर्वैयक्तिक संचार कहते हैं। यह आमने–सामने होता है। चूँकि यह दो व्यक्तियों के संपर्क से होता है। यह कहीं भी स्वर, शाब्दिक, संगीत, चित्र, नाटक, लोककला आदि माध्यमों से हो सकता है।[10]

रामायण कालीन संचार व्यवस्था में आधुनिक संचार की प्रक्रियाएं निहित थी। वार्ता, कथा आदि संचार के रूप प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित हैं। वार्ता से अभिप्राय उपदेश, वाद–विवाद इत्यादि से है जो कि प्राचीन भारत में एक देवता अथवा ऋषि के द्वारा दूसरे को दिया जाता था। वर्तमान समय की विकसित संचार शब्दावली में इसे अन्तर्वैयक्तिक संचार की संज्ञा दे सकते हैं। जैसे– रामायण में राजा दशरथ–विश्वामित्र संवाद, श्रीराम–परशुराम संवाद, कैकेयी–दशरथ संवाद, श्रीराम–भरत संवाद, श्रीराम–शबरी संवाद, श्रीराम–सुग्रीव संवाद, अंगद–रावण संवाद, श्रीराम–भारद्वाज संवाद, अन्य ऋषियों के साथ संवाद इसके अतिरिक्त अनुरोध, आश्वासन, आज्ञा, चर्चा, आदेश, आशीर्वाद, फूट–फूटकर रोना, निवेदन, बोलना, अभिवादन, उत्तर देना, वचन कहना, उपदेश, उपाय बताना एवं कोपभवन (असन्तोष प्रकट करने का स्थान) में वार्तालाप आदि अन्तर्वैयक्तिक संचार के उदाहरण हैं।

जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों में वाद–विवाद, विचार–विमर्श, विचार–गोष्ठी, कार्य–शिविर, सार्वजनिक व्याख्यान, साक्षात्कार तथा सभी तरह की सभाओं द्वारा विचारों का आदान–प्रदान होता है, तो उसे समूह संचार कहते है।[11] प्राचीन ग्रन्थों में विशेष रूप सें रामायण में 'कथा' का वर्णन प्राप्त होता है, इन कथाओं में कथावाचक एकत्रित समूह को सम्बोधित करते थे। जिसे हम समूह संचार की संज्ञा दे सकते हैं। कथा के दौरान श्रोता अपने शंका का समाधान भी करते थे जिसे प्रतिपुष्टि कहा जा सकता है।

रामायण में समूह संचार के उदाहरण मिलते हैं। श्रीराम ने लंका पर चढ़ाई करने के पूर्व अपने सहयोगियों से विचार–विमर्श किया था। राजा दशरथ का सभा–जनों से विचार–विमर्श, राजा जनक का धनुष–यज्ञ के अवसर पर उपस्थित जनों से विचार–विमर्श, श्रीराम का अयोध्यावासियों से वन में संवाद, श्रीराम का अयोध्या वापसी पर प्रजाजनों से संवाद, महर्षियों का एकत्र होकर परामर्श,

राजा दशरथ के प्रस्ताव पर चर्चा एवं समर्थन, मन्त्रियों के साथ परामर्श, ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन, मन्त्रियों को उत्तर देना एवं गोष्ठी आदि समूह संचार के सन्दर्भ हैं।

जनसंचार को अंग्रेजी में 'मास कम्यूनिकेशन' कहा जाता है। यत्र–तत्र बिखरे लोगों तक सन्देश पहुँचाना ही जनसंचार है।12 संचार तथा माध्यम 'जन' से जुड़कर जनसंचार और जनमाध्यम शब्द बने हैं।13 जनसंचार का अर्थ सूचना को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचना है।14 रामायण में जनसंचार के सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं, जैसे– राज्याभिषेकोत्सव, अश्वमेध यज्ञ, राजाओं के आदेश से लोक में धर्म का प्रचार, सामाजिक उत्सव, आकाशवाणी, शंखनाद, धनुष की टंकार, तुमुलनाद, शंख और दुन्दुभियों के शब्द, ध्वज, लोकचर्चा आदि।

इस प्रकार अध्ययन से स्पष्ट है कि मनुष्य अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाना चाहता है। मनुष्य की इसी जिज्ञासा ने संचार के विविध सन्दर्भों को जन्म दिया। आभ्यन्तर संचार के आधार पर ही अन्तर्वैयक्तिक संचार, समूह संचार एवं जनसंचारों की अभिव्यक्ति होती है। अध्ययन में सम्मिलित तथ्यों के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि रामायण में आभ्यन्तर संचार, अन्तर्वैयक्तिक संचार एवं समूह संचार का अधिक उल्लेख है तथा जनसंचार का कम उल्लेख है।

lUnHk %

1. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, 3/8–9, वि.स. 2064, 32वाँ संस्करण, प्रकाशक एवं मुद्रक–गीताप्रेस, गोरखपुर – 273005
2. वही, युद्धकाण्ड, 128/107,
3. मिश्र डॉ. चन्द्रप्रकाश, मीडिया लेखन सिद्धान्त और व्यवहार, संजय प्रकाशन नई दिल्ली – 110002, द्वितीय संस्करण : 2003, पृष्ठ : 27
4. सिंह ओम प्रकाश : संचार माध्यमों का प्रभाव, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली–110015, प्रथम संस्करण 1993, पृष्ठ : 57
5. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, बालकाण्ड, 1/1–4
6. वही, बालकाण्ड, 2/15
7. वही, बालकाण्ड, 2/18
8. वही, बालकाण्ड, 2/30–31
9. राजगढ़िया विष्णु, जनसंचार सिद्धान्त और अनुप्रयोग, प्रकाशकः राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली – 110002, प्रथम संस्करण : 2008, पृष्ठ : 28–29
10. जैन प्रो. रमेश, जनसंचार विश्वकोष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 337, चौड़ा रास्ता जयपुर – 302003, प्रथम संस्करण 2007, पृष्ठ : 85
11. वही, पृष्ठ : 85
12. तिवारी डॉ. अर्जुन, जनसंचार समग्र, उपकार प्रकाशन आगरा – 2, पृष्ठ : 14
13. वही, पृष्ठ : 21
14. जैन प्रो. रमेश, जनसंचार विश्वकोष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 337, चौड़ा रास्ता जयपुर– 302003, प्रथम संस्करण– 2007, पृष्ठ : 275

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

c)/keZ esa lkfjferkvksa dk egÙo

MkW0 vjfoUn dqekj flag*

बौद्धधर्म के सम्प्रदाय हीनयान तथा महायान के संस्कृत ग्रन्थों में मुख्यतः छः पारमिताओं का वर्णन मिलता है। ध्यान पारमिता से चित्त का सन्धारण तथा प्रज्ञापरमिता से परमार्थ का प्रजानन बतलाया है। महायान के अन्य ग्रथों में भी इन्हीं छः पारमिताओं का वर्णन मिलता है। केवल दसभूमिकसूत्र में सर्वप्रथम दस पारमिताओं का नाम आता है। पारमिताओं का परिपूरण त्याग पर आधारित है। दृष्टि–भेद से भले ही इनके दस प्रकार हैं, पर सबके मूल में त्याग का ही प्राबल्य है।

त्याग बहुमुखी तथा विविध प्रकार का हो सकता है, पर पारमिता परम्परा में वह केवल तीन भागों में विभक्त है। वह है वस्तुपरित्याग, अंगपरित्याग व जीवनपरित्याग। वस्तु के अन्तर्गत अन्न, पान, धन, रजत, सुवर्ण, गेह, रथ आदि हैं। अंगपरित्याग से शरीर के हस्त, पाद, चक्षु आदि किसी भी अंग का त्याग अभिप्रेत है। जीवन का उत्सर्ग ही जीवनपरित्याग है।

इन तीन प्रकार के त्याग का विवरण जातक की कथाओं में उपलब्ध है। कुछ ऐसी कथायें हैं, जहाँ विशेषतः वस्तु–याग की चर्चा है, किन्हीं में अंगत्याग तथा किन्हीं में जीवनोत्सर्ग का चित्रण है। फलतः त्याग के विषयगत भेद के कारण पारमिताओं के तीन भेद देखे जाते है। वे हैं– पारमिता, उपपारमिता तथा परमार्थपारमिता। दान, शील, शान्ति आदि किसी भी पारमिता की पूर्ति करते समय जब बोधिसत्त्व द्वारा अपने शरीर के प्रिय से प्रिय अंग के परित्याग द्वारा उसका चरमभाव दर्शाया जाता है, तो उस परिपूरणभाव को पारमिता कहा जाता है।

ऐसा परिपूर्ण उत्सर्ग दान, शीलादि दसों के क्षेत्र में देखा जा सकता है, इसलिए इस दृष्टि से दस पारमितायें होती है। जब किसी भी पारमिता की परिपूर्ति बाह्य वस्तुओं के परित्यागपूर्वक उस गुणविशेष के चरमभाव को प्राप्त होती है, तो वह उपपारमिता कहलाती है। ऐसे कार्यों का सम्बन्ध दान, शीलादि सभी के साथ देखा जा सकता है, फलतः उपपारमितायें भी दस होती है।

जातक में परमार्थ–पारमिता का विशिष्ट स्थान देखा जाता है। वस्तु तथा अंग का परित्याग कुछ क्षणों के लिए अधिक पुरुषों में देखा जा सकता है, पर जीवन का त्याग कुछ ही द्वारा सम्भव है। इस दृष्टि से वस्तु तथा अंग के परित्याग की तुलना में जीवन का परित्याग महान् त्याग समझा जा सकता है। जातक–कथाओं से प्रकट है कि बोधिसत्त्व की चर्याओं में परमार्थ–पारमिता का ही बाहुल्य है। शशजातक में अभ्यागत ब्राह्मण के लिए बोधिसत्त्व द्वारा शरीरत्याग के कार्य को परमार्थपारमिता कहा जाता है। शंक पाल जातक तथा चूलसुतसोम जातक के त्याग भी इसी कोटि के हैं। स्थविरवादी तथा इसके अलावा बौद्ध परम्पराओं में पारमिताओं की संख्या में कुछ विभेद है। निदानकथा इसके दस प्रकार बतलाती है। यस्मात् प्रकृत प्रयत्न में निदानकथागत विषयवस्तु का उत्तानिकरण दृष्ट है, अतः इनदस पारमिताओं का सामान्य परिचय यहाँ निक्षिप्त किया जा रहा है।

1- nkuikjferk %

पालि त्रिपिटक में कुशल एवं अकुशल कर्मों का पर्याप्त विवेचन देखने को मिलता है। कुशल कर्मों के उद्देशक्रम में सर्वत्र दान का नाम आता है। अधिकतर दान, शील, भावना या दान, शील, भावना, वेय्यावच्च, अपचायन आदि ढंग से कुशलकर्मों की गणना देखी जाती है। इस प्रकार प्रकट होता है कि

*अतिथि सहायक अध्यापक, केन्द्रिय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय, सारनाथ, वाराणसी–221007।

दान एक कुशल कर्म है। बौद्ध परम्परा में कर्म वस्तुतः चेतना का नाम है। फलतः दान को परित्याग चेतना कहा जा सकता है।

चित्त में परित्याग की भावना सदैव एक सी नहीं रहती है। परिस्थिति के अनुसार इसमें मात्रागत भेद स्वाभाविक है। इस कारण दान कृत्य में भी भेद होता है। उत्तम–कोटि का दान वह है जिसके सम्पादन–क्षण में चित्त सौमनस्य, ज्ञान तथा तीन कुशल हेतु अलोभ, अदोस तथा अमोह से युक्त रहता है तथा उसकी ऐसी प्रवृत्ति स्वयं उत्पन्न रहती है। अभिधर्म में इसकी चर्चा प्रथम कामावचर कुशल चित्त के शीर्ष में की जाती है। निदानकथा में ऐसे दानकृत्य का सम्पादन एक पारमिता के रूप में दर्शाया गया। यहाँ यह अपनी सामान्य परिधि से ऊपर परिपूरण की पराकाष्ठागत रूप को प्राप्त है। धन, यश, स्त्री, पुत्र, अंग, शरीर आदि जिस किसी वस्तु की याचना वह करता है, वह उसके लिए अलभ्य नहीं होती है। इस पारमिता की परिपूर्ति के समय बोधिसत्त्व की भी चर्या उस उलटे हुए जलपूर्ण घट के सदृश होती है, जो अपने को पूर्णतः रिक्त बनाते हुए सम्पूर्ण जल का त्याग करता है। जिस प्रकार घट परित्यक्त जल को पुनः पाने की आशा नहीं रखता है, उसी प्रकार दानपारमिता का परिपूरण उसके फलस्वरूप कुछ प्राप्ति की आशा से विरहित होता है।

जातक कथाओं से प्रकट है कि बोधिसत्त्व ने ऐसी ही उदात्त भावना से दानकृत्य का सम्पादन किया था। बोधिसत्त्व द्वारा दानकृत्यों का परिचय अनेक जातकों में दिखलाई पड़ता है। जैसे अकीर्ति ब्राह्मण, संगब्राह्मण, धन०जय राजा, महासुदर्शन, महागोविन्द, निमि महाराजा, चन्द्रकुमार, विसय्ह सेष्ठि, राजा शिवि तथा राजा वेस्सन्तर के रूप में दिये गये दान के प्रसंगों की पारमिता–पूरण–प्रक्रिया के परिज्ञानार्थ देखा जा सकता है। जिसका परम उदात्त रूप शशजातक में दिखलाई पड़ता है। जहाँ बोधिसत्त्व ने द्वार पर आए हुए याचक के लिए अन्य देय वस्तु योग्य न पाकर अपने शश–शरीर को उसके लिए दान दे दिया।

2- 'khy ikjferk%

शील का शाब्दिक अर्थ सदाचार है, यह शील बौद्ध साधना का आधार है। शील की ही भीत्ति पर स्थित हो ब्रह्मचर्य जीवन का परिफलन होता है। जिस प्रकार सभी प्रकार के बीज पृथ्वी के आश्रय से वृद्धि वैपुल्य हो प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार श्रद्धा, स्मृति, बल, बोध्यंग, अष्टांग आदि कुशल धर्म शील में ही स्थित हो विकसित होते हैं। इस दृष्टि से ही सीले पतिट्ठाय नरो सो प०ञो चित्तं प०ञं च भावयं, आतापि निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं' ति। वचन कहे गये हैं। शील के अभ्यास के विना कुलपुत्रों का साधना में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है–"सासने कूलपुत्तानं पतित्तानं पतिट्ठा नत्थि यं विना"। शील का विभाजन पंच सील, अट्ठ सील, दस सील, इन्द्रियसंवर सील, आहारपारिसुद्धि सील, पातिमोक्खसंवर सील आदि भागों में विभाजित किया गया है। जिनका पालन अपना हित चाहने वाले व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है। इन नियमों के पालन से कायिक, वाचसिक तथा मानसिक समस्त प्रकार के अध्याचारों का निषेध हो जाता है अर्थात् काय, वचन तथा मन पूर्णतः संयमसम्पन्न हो जाते हैं।

भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को शील से सम्बन्धित नियमों का पालन जीवन के मूल्य से करें। उन्होनें कहा कि जिस प्रकार टिटहरी अपने अण्डों की, चमरी गाय अपनी पूँछ की, माता अपने एकलौते प्रिय पुत्र की और काना व्यक्ति अपनी एक मात्र आँख की रक्षा करता है। जिस प्रकार चमरी गाय पूँछ के कहीं उलझ जाने पर उसकी रक्षा के लिए जीवन का परित्याग कर देती है, पर पूँछ को नहीं जाने देती है। उसी प्रकार शील की रक्षा चमरी गाय के समान जीवनोत्सर्गपुरस्सर की जाय।

आचार्य बुद्धघोस ने विसुद्धिमग्ग के प्रथम अध्याय में बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। शील के पालन व उसके फल का परिदीपन करते हुए अट्ठसालिनी में सीहलवासी चक्कन उपासक की बहुत ही सुन्दर कथा कही गयी है। जातक में शील का पालन एक पारमिता के रूप में देखा जा सकता है। सीलवनागराज, चम्पयनागराज, भूरिदत्तनागराज, छद्दन्तनागराज व जयद्दिस्स राजा के पुत्र अलीन कुमार की कथा इस तथ्य पर प्रभूत प्रकाश डालती है कि बोधिसत्त्व ने किस अपूर्व मनोबल से शील का परिपालन किया है।चरियापिटक का यह वचन इस उदात्त भावना का परिचायक है कि शूल के बेधे जाने तथा शक्ति से प्रहार किये जाने पर भी मुझे भोजपुत्र पर क्रोध नहीं होता है। यह मेरी शील पारमिता है।

3- u"ØE; ikjferk %

भगवान् बुद्ध ने संसार के प्राणियों को दुःखों से तड़फड़ाते हुए देखा तथा इस तथ्य को पूर्ण रूप से जान लिया कि जन्म लेना, वृद्ध होना, जीर्ण होना, प्रिय जनों से अलग होना, अप्रिय जनों का साथ होना, इच्छा की हुई वस्तु का प्राप्त नहीं होना आदि मनुष्य के जीवन के साथ अवश्यम्भावी घटनायें हैं। जन्म धारण करने के उपरान्त इनसे छुटकारा पाना आसान नहीं है। इसलिए भगवान् बुद्ध ने दर्शाया कि प०च उपादानस्कन्ध ही दुःख है। जब संसार का ऐसा रूप है, तो यह वास योग्य भूमि कैसे समझा जा सकता है? यह जीवन विभिन्न बाधाओं से युक्त रजोपथ है। सम्बाधो घरावासो रजोपथो, अब्भोकासो पब्बज्जा। स्त्री, पुत्र, बन्धु, दास, दासी, खेत, हिरण्य आदि सर्वदा मनुष्य को व्याकुल बनाये रहते हैं तथा तज्जन्य बाधायें उसे अबलावत् मर्दित करती हैं। मध्य सागर में भग्न नाव में बैठे मनुष्य की भाँति सभी प्राणी निराश हो केवल दुःख में डुबे हुए हैं।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव स्मृतिमान हो इस संसार के प्रति उत्पन्न समस्त आसक्तियों का परित्याग करे। इस संसार से निष्काम हो नैष्क्रम्याभिमुख किस प्रकार हुआ जाय? इसका उत्तर है कि इस भव को बन्धनागार के रूप में ग्रहण करते हुए ऐसा सम्भव है। जिस प्रकार बहुत दिनों तक कारागार में रहते हुए भी मनुष्य उस कारागार के प्रति स्नेह–प्रेम नहीं करता है, सर्वदा उससे असन्तुष्ट रह उससे निकलना ही चाहता है। उसी प्रकार सभी भवों के कारागार के समान जानकर सभी योनियों से मुक्त होने के लिए उत्कंठित हो नैष्क्रम्याभिमुख होना चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति की परम भावप्राप्ति ही नैष्क्रम्यपारमिता है।

4- iKkikjferk&

शील, समाधि, प्रज्ञा को बौद्ध साधना के तीन मुख्य स्तम्भ कहा जाता है। इनमें प्रज्ञा उस ज्ञानविशेष का नाम है, जिसकी सहायता से संसार की वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तथा निर्वाण का साक्षात्कार होता है। प्रज्ञा के उदय होने से मनुष्य इस सत्य को स्पष्टतः जान लेता है कि सभी पदार्थ अनित्य, अनात्म तथा दुःख स्वरूप है। ऐसा जानने से उसे संसार से निर्वेद होता है तथा वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

इसे कुशल चित्त सम्प्रयुक्त विपश्यना ज्ञान भी कहा जाता है। ऐसी प्रज्ञा की चरमोपलब्धि ही प्रज्ञापारमिता है।जिस प्रकार भिक्षाचार करता हुआ भिक्षु उत्तम, मध्यम या अधम किसी भी एक कुल को बिना छोड़े पिण्डिपात प्राप्त करता है।

5- oh;Z ikjferk %

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि व प्रज्ञा सभी सत्कर्मों के सम्यक् सम्पादन के लिए अपेक्षित गुण हैं। इनमें श्रद्धा द्वारा विश्वास, वीर्य द्वारा उत्साह, समाधि द्वारा एकाग्रता और प्रज्ञा द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है। स्मृति में लवण की भाँति सबमें जागरूकता के रूप में विद्यमान रहती है। इन पाँच गुणों के समभाव–अवस्थान के फलस्वरूप कार्यों में सफलता इष्ट है। इन सभी गुणों का अपना–अपना महत्त्व है। परन्तु वीर्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वीर्य के कारण ही कार्यो में प्रवृत्ति होती है। इसलिए अन्य गुणों के साथ वीर्य का सम्यक् अभिवर्धन की वीर्यपारमिता है।

वीर्यपारमिता के सम्बन्ध में कहा गया है कि सभी कर्मों में दृढ़ वीर्य सम्पन्न होना चाहिए,वीर्यपारमिता की परिपूर्ति में लगे प्राणी द्वारा सभी योनियों तथा अवस्थाओं में दृढ़ उत्साह–उद्योग तथा वीर्य सम्पन्न होना चाहिए एवं त्वम्पि सब्बभवेसु सब्बइरियापथेसु दळ्हविरियो अनोलीनविरियो समानो बुद्धो भविस्ससि'ति, प०चमं विरियपारमि दळ्हं कत्वा अधिट्ठासि। वीर्यपारमिता का उदाहरण महाजनक–जातक में उपलब्ध है, यह पारमिता परमार्थ पारमिता के नाम से भी प्रसिद्ध है।

6- {kkfUrikjferk %

क्षान्ति का अर्थ है सहनशीलता। सम्मान तथा अपमान की उपस्थितिक्षण में समस्थिति को बनाये रखना सहनशीलता है।यह उस गुणविशेष का नाम है जिसके कारण मनुष्य सम्मान या अपमान के प्रति क्षमाशील रहता है। इसके स्वरूप को पृथ्वी की उपमा के स्पष्ट किया जा सकता है। जिस प्रकार पृथ्वी

किसी भी प्राणी के द्वारा शुद्ध या अशुद्ध वस्तुओं के फेंके जाने पर न तो शुद्ध वस्तु फेंकने वाले के प्रति स्नेह करती है, न अशुद्ध वस्तु के फेंके जाने वाले प्राणी के साथ द्वेष की भावना रखती है। वह उनके प्रति क्षमा का भाव रखते हुए सबका सहन करते हुए सबको समभाव से स्वीकारती है। उसी प्रकार क्षान्ति के विकास के लिए सम्मान एवं अपमान दोनों के प्रति सहानुभूति होना आवश्यक है। जिस प्रकार शीतल, उष्ण, मन्द व कर्कश सभी प्रकार के वायु के झकोरे को पर्वत इन सभी को एक रस से स्वीकार करता है। उसी प्रकार निदा, प्रशंसा, मान,अपमान आदि समस्त आघातों को अनासक्तभाव से सहन करना ही क्षान्ति है।

क्षान्तिवाद जातक में इस पारमिता का वृहद–रूप देखने को मिलता है। जब अचेतन वस्तु के समान जेत परशु द्वारा बोधिसत्त्व के काटे जाने पर भी इस निमर्म कृत्य के सम्पादक के प्रति तनिक भी क्रोध नहीं देख सकते हैं। इस परम भाव की प्राप्ति के कारण ही यह पारमिता परमार्थपारमी के नाम से अभिहित हुई है।

7- lR; ikjferk%

इस पारमिता में जो भी घटना जिस रूप में घटित हुई हो उसे उसी रूप में कथन करना ही सत्य कथन है। अयथार्थ को यथार्थ रूप में व अतथ को तथ रूप में व्यक्त करने से विरति ही इसका अभिप्राय है। बौद्ध शासन में ऐसे सत्य कथन में ऐसे सत्य कथन की प्रशंसा सर्वथा की गई। भगवान् बुद्ध ने शिक्षापदों का प्रज्ञापन करते हुए चतुर्थ शिक्षापद के रूप में असत्य भाषण से विरत रहने का उपदेश किया है। संसार की समस्त बाधाओं का अतिवर्तन करने के लिए जिन चार धर्मों का कथन है, उनमें सत्य प्रथम है। ऐसे सत्य कथन के सम्यक् परिपालन में जो परम भाव दर्शाया जाता है, उसे सत्यपारमिता कहते है।

चरमभाव कैसा होता है? इसका समाधान यह है कि किसी भी प्रकार के भयंकर भय या प्रलोभन केक कारण अथवा अन्य किसी इच्छा के वशीभूत हो जानकर असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। सत्य कथन कहने के सन्दर्भ में वैसे ही अडिग रहना चाहिए, जिस प्रकार औषधितारा (शुक्र) किसी भी ऋतु में अपने पथ का परित्याग नहीं करता है।

सुतसोम जातक से स्पष्ट हो जाता है कि बोधिसत्त्व ने अपने प्राण का उत्सर्ग करना न्यायसंगत समझा, पर सत्य कथन का परित्याग उनके लिए असम्भव कृत्य रहा। उनके द्वारा सत्यपरिपालन कृत्य के ऐसे परम भाव को लक्ष्य कर ही उसे परमार्थ पारमिता कहा जाता है। जिसका उदाहरण अन्य जातक कथाओं में देखने को मिलता है।

8- vf/k"Bku ikjferk%

अधिष्ठान का शाब्दिक अर्थ है दृढ़ संकल्प होना। सत्कर्म प्रतिपादन में दृढ़ निश्चय का होना अत्यन्तावश्यक है। लक्ष्य एवं तग्दामीपथ के प्रति निश्चय के प्रबल होने से ही उसकी प्राप्ति के लिए किये गया यत्न सफल होता है। इसलिए निश्चय के प्रति अचल रहना एक महान् गुण है। सम्यक् अभिवर्द्धन के सम्बन्ध में इस गुण को निदान कथा में कहा गया है कि 'जिस प्रकार पर्वत सभी दिशाओं से हवा से झगझोरे जाने पर भी न प्रकम्पित होता है, न चलायमान होता है, बल्कि अपने स्थान पर अडिग रहता है, उसी प्रकार लक्ष्य विनिश्चय के प्रति अडिग तथा अचल रही कर ही अभीसिप्सत पदार्थ की प्राप्ति की जा सकती है । इस गुण के इस प्रकार परम भाव–प्राप्त रूप को ही अधिष्ठान पारमिता कहा जाता है।

9- eS=h ikjferk%

द्वेषरहित चित्त का नाम ही मैत्री कहलाती है। जिसे परहित चिन्ता भी कहा जाता है। अनुजिसे परहित चिन्ता भी कहा जाता है। अनुदया, हितेसिता, अनुकम्पा, अव्यापाद आदि इसके अनेक पर्याय हैं। लक्षणादि दृष्टि से उसका हितकारप्रवृत्ति लक्षण, हित उपसंहारण रस, आघातविनयन प्रत्युपस्थान तथा सत्त्वों के लिए प्रियभावदर्शन पदस्थान है । यह मातृहृदय का वह समान गुण है, जिसके कारण वह अपनेसभी पुत्रों के प्रति स्वभावतः मंगल कामना करती है। इसे हितभावना समुत्थापित प्रेमविस्फार कहा जाता है।

निदानकथामें मैत्री की चर्चा एक बुद्धकारक धर्म के रूप में उपलब्ध है। इसकी भावना के सम्बन्ध में हित तथा अहित दोनों के प्रति एकचित्तता का भाव लाला प्रथम चरण बतलाया गया है । इस

भाव की अभिवृद्धि के लिए उदकवत् चर्या वा०छनीय है। जिस प्रकार पापी तथा पुण्यात्मा दोनों के प्रति जल एक भाव रखता है, दोनों को शीतलता प्रदान करता है, उसी प्रकार हित तथा अहित करने वाले समस्त प्राणियों के प्रति हित की भावना रखना ही मैत्री है।

मेत्तसुत्त में भगवान् ने इस क्रम पर प्रकाश डालते हुए निम्नलिखित उ०ार व्यक्त किया है कि "संसार के समस्त प्राणी जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान, मध्यम या स्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पत्स्यमान–सुखपूर्वक विहार करें। कोई भी किसी की व०चना या अपमान न करे। वैमनस्य या विरोध से एक दूसरे के दुःख की इच्छा न करे। जिस प्रकार माता अपने जीवन की तनिक भी चिन्ता न कर अपने प्रिय एवं एकलौते पुत्र की रक्षा करती है; उसी प्रकार मनुष्य समस्त प्राणियों के प्रति असीम प्रेम बढ़ावे। ऐसे असीम प्रेम की भावना बाधा, हिंसा, शत्रुता से रहित संसार के ऊपर–नीचे तथा तिरछे जहाँ कहीं भी रहने वाले प्राणियों के प्रति हो"। मैत्री भावना का ऐसा अप्रमाण्य रूप ही ब्रह्मविहार कहा गया है तथा इसी की चरमोपलब्धि मैत्रीपारमिता है।

10- mi{kk ikjferk %

दुःख और सुख से परे भाव को उपेक्षा के नाम से जाना जाता है। अभिधर्म दर्शन के अनुसार सुख, दुःख, सोमनस्स, दोमनस्स तथा उपेक्षा नामक पाँच वेदनाएँ होती हैं। कायिक आनन्द को सुख, कायिक पीड़ा को दुःख, मानसिक सुख को सोमनस्य, मानसिक दुःख को दोमस्य तथा मानसिक न दुःख न सुख भाव को उपेक्षा कहते हैं। आचार्य बुद्धघोस ने लक्षणादि पर प्रकाश डालते हुए– इसे प्राणियों के प्रति मध्यस्थाकार प्रवृत्ति लक्षण युक्त बतलाया है। प्राणियों के प्रति समभाव दर्शन इसका रस तथा प्रतिघानुनयुपसमन इसका प्रत्युप स्थान है।

उपेक्षा विशुद्धिमार्ग में एक कम्मट्ठान के रूप में वर्णित है। वहाँ पर इसकी भावना का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। निदानकथाकार ने इसके अभ्यास के क्रम पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "सुख तथा दुःख के प्रति तटस्थ रहना ही उपेक्षा है"। इसकी भावना पृथ्वीवत् करनी चाहिए, जिस प्रकार पृथ्वी शुचि और अशुचि के फेंके जाने पर मध्यस्थ ही बनी रहती है, उसी प्रकार सुख–दुःख की अवस्थाओं के प्रति तटस्थ बने रहना ही इष्ट बतलाया गया है। इस गुण के इस रूप में परम भाव को प्राप्त होना ही उपेक्षा पारमिता है।

इस प्रकार उपलब्ध विवरण से सर्वविदित होता है कि ये दस पारमितायें ही बुद्ध कारक धर्म हैं। इनसे भिन्न अन्य किसी धर्म का उल्लेख नहीं है। यह जान बोधिसत्त्व ने चार असंखेय्य एक लाख वर्षों तक विविध गति एवं योनियों में जाते हुए इनका परिपाचन किया। उनकी यह चर्या सुमेध ब्राह्मण के रूप में प्रारम्भ हुई तथा वेस्सन्तर राजा के रूप में समाप्त हुई। इस भव के अनन्तर तुसित लोक में कुछ दिन तक निवास कर पुनः सिद्धार्थ गौतम के रूप में जन्म लेकर उन्होंने बुद्धत्त्व की प्राप्ति की।

lUnHkZ %

1. हीनयान महायान, पृ0 11।
2. महायान सूत्रालंकार, पृ0 13, 16।
3. दशभूमिकसूत्र, पृ0 63,72, 81, 94।
4. अंगपरिच्चागो पारमियी नाम, बाहिरभण्डपरिच्चागो उपपारमियो नाम, जीवितपरिच्चागो परमत्थपारमियो नामाति। दस पारमियो, दस उपपारमियो, दस परमत्थपारमिययो ति यन्ततेलं विनिवट्टेन्तो विय महासिनेरु मन्थं कत्वा चक्कवालमहासमुद्दं आलोकेन्तो विय च सम्मधि। निदानकथा, पृ0 53, 62।
5. निदानकथा, पृ0 54।
6. अभिधम्मत्थसंग्रहो, पृ0 98।
7. विभाविनी टीका, पृ0 134।
8. अभिधम्मत्थसंग्रहो, पृ0 98।
9. निदानकथा, पृ0 50।
10. भिक्खाय उपगतं दिस्वा, सकत्तानं परिच्चजिं।
    छानेन मे समो नत्थी, एसा मे दानपारमी।। निदानकथा, पृ0 112।

11. निदानकथा, पृ0 56।
12. किकीव अण्डं चमरी व वालधिं, पियं व पुत्तं नयनं व एककं।
तथेव सीलं अनुरक्खमानका, सुपेसला होथ सदा सगारवा'ति।। वि0म0, पृ0 23।
13. यथापि चमरी वालं, किस्मिंचि पटिलग्गितं। उपेति मरणं तत्थ, न विकोपेति वालधिं।
तथेव चतूसु भूमीसु, सीलानि परिपूरय। परिरक्ख सब्बदा सीलं, चमरी विय वाळधिं'ति।। नि0क0, पृ0 50।
14. अट्ठसालिनी, पृ0 85।
15. सूलेहि विज्झयन्तेपि, कोट्टयन्तेपि सत्तिहि। भोजपुत्ते न कुप्पामि, एसा मे सीलपारमी'ति।निदानकथा, पृ0 112।
16. महावग्ग, पृ0 13।
17. महावग्ग, पृ0 13।
18. दीघनिकाय, 1.52।
19. खेत्तं वत्थुं हिर०ञं वा, गवस्स दासपोरिसं। थियो बन्धू पुथु कामे, यो नरो अनुगिज्झति।।
अबला नं बलीयन्ति, मद्दन्तेनं परिस्सया। ततो नं दुक्खमन्वेति, नावं भिन्नमिवोदकं।। सुत्तनिपात, पृ0 388।
20. निदानकथा, पृ0 52।
21. सब्बे संगारा अनिच्चा ति, यदा प०ञाय पस्सति। अथ निब्बिन्दति धीरा, सब्बदुक्खा विमुच्चति।। धम्मपद, पृ0 42।
22. विसुद्धिमग्गो, पृ0 14।
23. निदानकथा, पृ055।
24. निदानकथा, पृ0 60।
25. निदानकथा, पृ0 54।
26. अतीरदस्सी जलमज्झे, हता सब्बेव मानुसा। चित्तस्स अ०ञथा नत्थि, एसा मे पंञापारमी ति।। निदानकथा, पृ0114।
27. निदानकथा, पृ0 55–56।
28. जातक कथा, 3.208–11।
29. खुद्दक पाठ, पृ0 3।
30. यस्सेते चतुरी धम्मा, वानरिन्द यथा तब।
सच्चं धम्मो धिति चागो, दिट्ठं सो अतिवट्टती ति।। वातरिन्द जातक।
31. यथाहि ओसधितारका नाम सब्बउतुसु अत्तनो गमनवीथिं जहित्वा अ०ञाय विथिया न गच्छति, सकवीथियाव गच्छति; एवमेवं त्वम्पि सच्चं पहाय मुसावादं नाम अकरोन्तो येव बुद्धो भविस्ससी'ति। निदानकथा, पृ0 56।
32. जातक कथा, 5.535–89।
33. निदानकथा, पृ0 58–59।
34. निदानकथा, पृ0 178।
35. अट्ठसालिनी, पृ0 157।
36. हितेसु अहितेसु पि एकचित्ततो भवेय्यासि। निदानकथा, पृ0 63।
37. अट्ठसालिनी, पृ0 157।
38. विसुद्धिमग्गो, भाग 1 (नवम परिच्छेदो)।
39. निदानकथा, पृ0 65, भूमिका।
40. इसमस्मिं लोके बोधिसत्तेहि पूरेतब्बा बोधिपरिपाचना बुद्धकारकधम्मा एत्तका येव। दस पारिमयों ठपेत्वा अ०ञे नत्थि। निदानकथा, पृ0 62।

***

उन्मेषUnmesh - ISSN 2394-2207
Vol. II, No. II, May-October 2016

frryh % ukjh vfLerk dh igpku

ih;"k dekj f}onh*

^^ukjh re doy J)k gk
fo'okl&jtr&ux&ixry e
ih;"k lkr lh cgk djk
thou d lUnj lery e**[1]

उपर्युक्त पंक्तियों के रचयिता, छायावाद के प्रवर्तक, जयशंकर प्रसाद हैं। प्रसाद जी एक अच्छे कवि तो हैं ही, एक सधे उपन्यासकार भी हैं। जयशंकर प्रसाद के मुख्य रचनाओं में से एक 'कामायनी' के 'लज्जा' की यह पंक्ति नारी के गरिमामय आदर्शों की सुरक्षा कर भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित किया है। प्रसाद जी ने नारी को कोमलता का प्रतीक माना है। उन्होंने नारी के आदर्श रूप को वर्णित किया है। उनके साहित्य में हमें विविध प्रकार के नारी पात्र मिलते हैं, जिसमें से कुछ पात्र उदात्त त्याग एवं समर्पण की भावना लिए हैं,तो कुछ पात्र दुर्बलता भी लिए हुए हैं। प्रसाद जी का औपन्यासिक क्षेत्र यथार्थवादी रहा है। उन्होंने निर्भय होकर अपने उपन्यासों में सामाजिक संस्थाओं के खोखलेपन को दिखाया है। उनके उपन्यास के अधिकांश पात्र पतन की ओर है, किन्तु नारी पात्रों में 'तितली' का चरित्र अद्वितीय है। 'तितली' त्याग और बलिदान का उच्चतम् आदर्श प्रस्तुत करती है। वे दुःखद परिस्थिति आने पर भी अपने मार्ग से नहीं भटकती है। 'तितली' के जीवन में स्वावलम्बन और सन्तोष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है।

अपनी नैतिक मूल्यों की रक्षा के लिए 'प्रसाद' के नारी पात्रों ने आत्मत्याग की भावना को स्वीकार किया है। 'प्रसाद' के नारी पात्रों ने पुरुष को सद्वृत्ति की ओर प्रेरित करने के लिए तथा मानव मूल्यों की स्थापना के लिए आत्मस्वार्थ का परित्याग करते हुए संघर्षों के मध्य जीवन जीने का संकल्प किया है। प्रसाद जी ने अपने युग में परम्परा से चली आ रही संकीर्ण मान्यताओं की परिधि से आवृत नारी जीवन की व्यथा को देखा है। करुणा से कराहती हुयी। वह व्यक्ति एवं अधिकार विहिन होकर पुरुष के नृशंसता का शिकार बन रही है। मूलतः प्रसाद जी ने अपने उपन्यास 'तितली' में नारी की स्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत कियाहै।

'तितली' ग्राम जीवन से सम्बद्ध उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् 1934 में हुआ था। 'कंकाल' की अपेक्षा इसका कथानक अधिक स्पष्ट और सुसंगठित है। इसका कथानक दो भागों मे विभाजित है। प्रथम भाग शेरकोट और बंजरिया से सम्बद्ध है, इसके मुख्य पात्र मधुबन, रामनाथ, तितली और राजकुमारी है। दूसरे भाग का सम्बद्ध धामपुर से है, इसके मुख्य पात्र इन्द्रदेव, श्यामदुलारी और शैला है। 'तितली', रामनाथ की पालित पुत्री है। राजकुमारी, मधुबन की बिधवा बहन है। मधुबन और तितली का परस्पर स्नेह है। शैला विदेशी होते हुए भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। उसकी माता जेन अपने भाई वार्टली के साथ नील कोठी में रहती हैं, जो कि नील का व्यापारी है। भाई के मृत्यु के बाद जेन, शैला के साथ विलायत लौट जाती है।

प्रसाद जी नारी विक्षोभ का कच्चा चिट्ठा सामने रखकर संयुक्त पारिवारिक संगठन के एकीकरण की बात कहते हैं। वे उसके जर्जर स्वरूप का सुधार करना चाहते हैं। उपन्यास के आरम्भ में इन्द्रदेव और

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मधुबन की गृहस्थी विशृंखलित दिखायी पड़ती है, परन्तु गृहस्थी का अंत आदर्शात्मक ढंग से करते हैं। तितली के सहयोगपूर्ण गृहस्थी का चित्रण करके जिसमें बिना किसी रक्त सम्बन्ध के लोग रहकर सुखपूर्वक जीवनव्यतीत करते हैं। सम्मिलित कुटुम्ब के प्रति उदासीन भाव रखने वाला पाश्चात्य रंग में रंगा इन्द्रदेव भी तितली के इस संगठन को देखकर प्रभावित होता है। इन्द्रदेव यह अनुभव करता है कि परस्पर प्रेम और सौहार्द ही कौटुम्बिक जीवन की सफलता का अनिवार्य साधन है। प्रसाद जी यह अनुभव करते हैं कि– ''स्त्रियों को उनकी आर्थिक पराधीनता के कारण जब हम स्नेह करने के लिए बाध्य करते हैं, तब उनके मन में विद्रोह की सृष्टि भी स्वाभाविक है। आज प्रत्येक कुटम्ब, उनके इस स्नेह और विद्रोह के द्वन्द्व से जर्जर और असंगठित है।''[2] इसलिए आत्मिक स्वतंत्रता या स्नेह की स्वतंत्रता के लिए आर्थिक स्वतंत्रता आवश्यक है। इस कथन की पुष्टि के लिए प्रसाद जी ने भारतीय और पाश्चात्य दोंनो ही वर्गों का सृजन किया है। पश्चिम की प्रतिनिधि पात्र 'शैला' और भारतीय पात्र 'तितली' है। वाटसन और शैला के पिता पश्चिमी सद्भाव के उद्घोषक है। रामनाथ भारतीय आत्मवाद का उद्घोषक है।

'तितली' में सांसारिक समाज में अपनी व्यक्गित भ्रष्टता और मानवीय सात्विकता की भावना से ओत–प्रोत मनुष्यों का चित्रण किया गया है। वे मनुष्य धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित न होते हुए भी सच्चे धार्मिक है। तितली, मधुबन, शैला, वाटसन, रामनाथ, शैला के पिता आदि का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु ये मनुष्य के सच्चे मूल्यों के प्रति आस्थावान है।

प्रसाद जी धर्म और समाज दोनों को एक ही इकाई माना है। सच्चा सामाजिक ही सच्चा धार्मिक है। इस प्रकार लोग संस्था की मुहर लगाकर समाज की सामान्य व्यवहारिकता से अपने आप को अलग कर लेते हैं। धार्मिक संस्था के प्रतिनिधि महन्थ, पूँजीवादी श्यामलाल, न्यायिक तहसीलदार आदि सब अपनी–अपनी जगह भ्रष्ट है। ये समाज धर्म या मानवीय मूल्यों के प्रति निष्ठावान नहीं है। इन्द्रदेव को जागीदारी त्यागते हए, नन्दरानी तथा मुकुन्द लाल को अपने विशिष्ट स्त्री–पुरुष के बोध से मुक्त होते हुए शैला को अपने जातीय अभिमान की संस्कृति से पृथक होकर भारतीय तत्व ज्ञान की व्यवहारिकता की दीक्षा लेते हए प्रसाद जी ने चित्रित किया है।

मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए प्रसाद जी ने भारतीय इन्द्रदेव और पश्चिमी शैला का विवाह कराया। शैला भारतीय संस्कृति का अध्ययन करके इन्द्रदेव के समीप पहुँचाना चाहती है। इन्द्रदेव को स्निग्ध भाव से शैला कहती है– ''यह स्वांग नहीं है, मैं तुम्हारे समीप आने का प्रयत्न कर रही हूँ, तुम्हारी संस्कृति का अध्ययन करके।''[3] शैला इन्द्रदेव के प्रति कृतज्ञ होते हुए भी तारा की तरह समर्पण की भावना नहीं रख पाती है। शैला कहती है कि– ''मैं तुमसे अलग होने की कल्पना करके दुःखी होती हूँ, किन्तु थोड़ी दूर हटे बिना भी काम नहीं चलता। तुमको और अपने को समान अन्तर पर रखकर कुछ दिन परीक्षा लेकर, तब मन से पूछूँगी।''[4] शैला स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करती है और इन्द्रदेव जमींदारी से अलग होकर उसके धरातल पर आ जाता है। तत्पश्चात् नन्दरानी और नन्दराम के स्नेह का आदर्श सात्विक दीक्षा सहित दोनों को विवाह बन्धन में बाँध देते हैं। यहाँ भी धर्म या समाज की आड़ लिए बिना न्यायिक समझौते के आधार पर प्रसाद जी ने विवाह कराया है।

अपने आस–पास के वातावरण को लेकर प्रसाद जी ने 'तितली' की रचना की है। प्रसाद जी कहते हैं कि गावों में कृषकों का, नगरों में श्रमिकों का और परिवारों में नारी शोषण को केवल वायवीय समाधान से नहीं रोका जा सकता है। प्रसाद जी ने अपने युग की सहज परिस्थितियों के मानवतावाद को चित्रित किया है। काम ही सहज प्रवृत्ति भारतीय आत्मवाद की साम्यमूलक व्यक्ति चेतना तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता का चित्रण किया है। केवल आर्थिक हीं नहीं भावना एवं चेतना के शोषण करने वालों का भी प्रसाद जी विरोध करते हैं। परिणामस्वरूप वह व्यक्तिगत अराजकता का रूप न लेकर सामाजिक विकास का आधार बन जाती है। प्रसाद जी यह मानते हैं कि मानव के अन्तर्तम् में कल्याण के देवता का निवास है। उसकी संवर्धना उत्तम पूजा है। उसे त्याग और प्रेम से और भी उज्ज्वल बनाया जा सकता है।[5]

'तितली' जीवन की गत्यात्मकता में विश्वास रखती है। वह समाज के तमाम रूढ़ियों को त्यागकर आगे बढ़ती रहती है। वह कहती है– ''जब संस्कार और अनुकरण की आवश्यकता समाज में मान ली गयी,

तब हम परिस्थिति के अनुसार मानसिक परिवर्तन के लिए क्यों हिचके मेरा ऐसा विश्वास है कि प्रसन्नता से परिस्थिति को स्वीकार करके जीवन यात्रा सरल बनायी जा सकती है।''[6] प्रसाद जी एक ओर प्राचीन भारतीय आनन्दवाद के पहलू को लेकर चलते हैं, तो दूसरी ओर पाश्चात्य व्यक्तिवाद के पुनरुत्थान का। प्रसाद जी ने तितली के माध्यम से गृहस्थ नारी के मंगलमय स्वरूप और उसकी दम्भ विहिन उपासना के प्रति आस्था व्यक्त की है।

'तितली' के माधुरी और श्याम लाल को पारिवारिक जीवन की आस्था तोड़ देती है। मधुबन, तितली, शैला, इन्द्रदेव, नन्दरानी, मुकुन्दलाल का दाम्पत्य जीवन सुखपूर्ण वातावरण में बदल जाता है। प्रसाद जी ने तितली के वैयक्तिक पक्ष पर विचार कर उसकी सफल परिणति दिखायी है। मधुबन और तितली के दाम्पत्य जीवन में परम्परागत भारतीय आस्था और विवाह की परिपाटी की विजय दिखाई है तो दूसरी ओर शैला और इन्द्रदेव के द्वारा पाश्चात्य समझौतावाद और पारम्परिक निकटता के आधार पर अनुबन्ध की सफलता दिखाई है। इन दोनों की सफलता भावात्मक आस्था पर आधारित है।

तितली और मधुबन का आपस में स्नेह है। वे रामनाथ का प्रस्ताव स्वीकार कर समाज और धर्म को छोड़कर स्वतंत्रतापूर्वक परिणय–सूत्र में बंध जाते है। लेकिन कुछ समय पश्चात् दाम्पत्य जीवन में संदेह होने से दोनों अलग हो जाते हैं। पुरुष की अनुपस्थिति में नारी गव्यात्मक परिस्थितियों से जूझती है। वह अपनी क्षमताओं के अनुसार आर्थिक और परावलम्बिता से मुक्त होती है। पूँजीवाद के सामाजिक विकृति के ही कारण मधुबन की स्वतंत्र आत्मा को जेल खाने में डाल दिया जाता है। पूरी तरह से निराश हो जाने के बाद उसे मुक्ति मिलती है। तत्पश्चात् तितली के साथ परिणय–सूत्र में बंधने के बाद उसका जीवन सफल होता है। स्त्री–पुरुष के सम्बन्ध समाज की अनिवार्यता के रूप में तितली में स्पष्ट रूप से सामने आया है।

दूसरा दाम्पत्य जीवन इन्द्रदेव और शैला का है। दोनों ही उदार व्यक्तित्व वाले है वे कभी एक–दूसरे से प्रतिदान नहीं चाहते हैं। शैला स्वेच्छा से इन्द्रदेव से विवाह करती है, परन्त विवाह के पश्चात् शैला का पाश्चात्य संस्कृति मुखर हो उठता है। वह भारतीय रमणी के समान दान देना नहीं सीखी है।''8 इसलिए शैला में एकनिष्ठता की भावना नहीं आ पाती, परन्तु तितली का आदर्श और नन्दरानी की धुड़क से वह सन्मार्ग पर आ जाती है। भारतीय संस्कृति की प्रतीक श्यामदुलारी भी अन्त में उसे अपनी बहू के रूप में स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार यह सम्मिलन दो परिवारों का न होकर सम्पूर्ण मानवता का सम्मिलन बन जाता है, क्योंकि स्नेह की मौलिक भावना से ही प्रसाद ने सम्पूर्ण मानवता को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है।

प्रसाद जी की यह मान्यता है कि व्यक्तिको जब तक सोचने समझने का अवसर नहीं दिया जायेगा, तब तक व्यक्तित्व स्वतंत्रता अपूर्ण रहेगी। इसलिए प्रसाद जी ने एक ओर स्वतंत्र भावना की नारी शैला का निर्माण किया है। दूसरी ओर तितली और मधुबन के प्रेम पर समाज और धर्म का अत्याचार न होते हुए उनका विवाह कराया है। इस प्रकार से न उपकारों की चोट से नारी स्वतंत्र को छिपाया है और न ही परम्परा या धन के दबाव से उसकी स्वतंत्र रागात्मयी आत्मा को कुचलने दिया है।

पारस्परिक सद्भाव व्यक्तित्व का सम्मान, समानता और त्याग के काराण नन्दरानी और मुकुन्दलाल आदर्श दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते हैं। इसके विपरीत श्याम लाल और माधुरी दाम्पत्य जीवन में बँधकर भी मुक्त और स्वेच्छाचारी है। एक दूसरे पर उनका कोई दबाव नहीं है। श्यामलाल अपने पुरुषत्व के दम्भ से भरा है जबकि माधुरी को अपनी माँ के धन का आश्रय है, जिसके परिणामस्वरूप दोनों का व्यक्तित्व छिन्न–भिन्न हो गया है।

तितली में चित्रित ये चारों दम्पत्ति भिन्न–भिन्न व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में रहते हुए भी वही दाम्पत्य सफल होता है जहाँ व्यक्तित्व को समानता, स्वतंत्रता प्रतिष्ठा और सहयोग प्राप्त होता है।

'तितली' में प्रसाद जी ने स्वतन्त्र मानवतावादी सिद्धान्तों के आधार पर दाम्पत्य प्रेम और पारिवारिक संघटन की आवश्कता को प्रतिपादित किया है। 'तितली' में प्रसाद जी ने आधुनिक नारी की

मुक्ति का आह्वान किया है। 'तितली' की 'तितली' पूर्ण रूप से महीयशी और आत्मनिर्भर है। वह आस्थावान पत्नी, ममतामयी माँ और करुणाशील नारी है। सामाजिक आदर्शों के अनुरुप प्रसाद ने संघर्षशील नारी का निर्माण किया है, जो कि प्रसाद साहित्य की एकान्तिक उपलब्धि है। प्रसाद ने भारतीय संस्कृति की महत्ता को स्थापित करने के लिए रामनाथ, तितली और नन्दरानी का सफलतापूर्वक चित्रण किया है। तितली प्रेम के क्षेत्र में स्वतंत्रता, संयम, सहयोग और स्नेह की स्वांग पूर्ण आयोजन की दृष्टि से एक सफल कृति है।

प्रसाद जी के नारी पात्र भीरु नहीं होती है। जीवन के विषम परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करते हुए भी उनमें होड़ लगाने की चाह है। यही कारण है कि तितली जीवन की गुत्थियों से जूझती हुई चित्रित की गयीहै। वह एक वीरांगना की भाँति जीवन से संघर्ष कर रही है। वह पुनः गाँव में जाकर साहस के साथ लोक सेवा में लग जाती है तथा आत्मबल एवं त्याग द्वारा समस्त कठिनाईयों पर विजय पाने में सफल होती है। बाबू गुलाबराय के कथनानुसार– ''वह पर्वत सी अटल, सागर सी गम्भीर पृथ्वी सी सहिष्णु है। कभी–कभार उसका चित्र विचलित होता है, परन्तु वह चेत जाती है।''[9]

राजकुमारी का चरित्र हिन्दू विधवा का प्रतीक है। उसकी दमित इच्छाएँ संयम की बाधा को तोड़ने की ललक में है। प्रौढ़ वय में उसकी कामना के उन्मेष, बिन्दी लगाने की ललक और नए पथ पर धीरे–धीरे फिसलने को लेखक ने बड़े कलात्मक और मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। सामान्य चरित्र रहकर भी राजकुमारी उपन्यास का आकर्षण बन जाती है। प्रसाद ने राजकुमारी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है।

''संयम के प्रौढ़ भाव की प्राचीर के भीतर जिस चारिष्य की रक्षा हुई थी, आज वह संधि खोजने लगा था। मानव हृदय की वह दुर्बलता कह जाती है, किन्तु जिस प्रकार चिर रोगी स्वास्थ्य की सम्भावना से प्रेरित होकर पलंग के नीचे पैर रखकर अपनी शक्ति का परीक्षा लेता है, ठीक उसी तरह तो राजकुमारी के मन में कुतूहल हुआ था– अपनी शक्ति को जाँचने में वह किसी अंश तक सफल भी हुई और उसकी सफलता ने और भी चाहत बढ़ा दी।''[10]

अन्ततः प्रसाद जी मुक्तक कविताएँ तथा नाटक में सिद्धहस्त तो है ही परन्तु उपन्यास में भी बेजोड़ ठहरते हैं। प्रसाद जी ने तितली के माध्यम से नवजागरण को याद करते हैं। 'तितली' संघर्ष करते हुए कहीं न कहीं उसका चरित्र शैला से उज्ज्वल है। तितली में नारी के गृहणी रूप का आदर्श मूर्तिमान हो उठा है। वह अपनी सीमित सुविधाओं के माध्यम से छोटी सी गृहस्थी का निर्माण करती है। जिससे वह पूर्ण रूप से सन्तुष्ट दिखाई पड़ती है। तितली के चरित्र में पर्वत सी अटलता, सागर सा गम्भीर्य और पृथ्वी सी सहिष्णुता दिखाई देती है।

lUnHkZ %

1. कामायनी लज्जा सर्ग : जयशंकर प्रसाद, पृ0 38
2. तितली : जयशंकर प्रसाद, पृ0 130
3. तितली : जयशंकर प्रसाद, पृ0 70
4. तितली : जयशंकर प्रसाद, पृ0 69
5. तितली : जयशंकर प्रसाद, पृ0 219
6. तितली : जयशंकर प्रसाद, पृ0 219
7. तितली : जयशंकर प्रसाद, पृ0 219
8. तितली : जयशंकर प्रसाद, पृ0 184
9. प्रसाद की कला : बाबू गुलाब राय, पृ0 152
10. तितली : जयशंकर प्रसाद, पृ0 79

***

ARCHITECTURAL DEVELOPMENT OF SHARQI RULERS IN JAUNPUR

Rahul Maurya*

Abstract

Islamic architecture developed with advent of Islam during Khalifa dynasties and extended throughout the world with invasion of Islamic ruler as it was needed of religious and political purpose. Islamic architecture was not limited to structure of stone only, but they explain the glory of ruling empire. This study explained brief about early history of district Jaunpur and establishment of Islamic rule. This study is part of development of Islamic architecture in Hindustan and it is associated as major theme of architectural development and contained some of the earliest structures of province of Jaunpur which was built by Islamic ruler. The study provides an idea of early developments architecture of province of Islamic architecture and explains their architectural style with measurement plan.

Keywords : Jaunpur, Jamadagni, Firoz Shah, Jauna Khan, Sharqi Ruler, Fort, Architecture, Mosque, Mihrab, Qibla

Location and historical Background

Presently, Jaunpur is the district of Uttar Pradesh and it is 230 kilometers from state capital Lucknow and some of 60 kilometers from Varanasi, situated on the bank of river Gomti. The earliest history of Jaunpur was uncertain but it provided home of Rishis in ancient period as it was associated with Maharshi Jamdagni who established his ashram on the right banks of the Gomti between Zafrabad and Jaunpur in Jamaitha village. Presently, there is an ancient temple at this site which is known as temple of Jamdagni.

The city has rich historical background in medieval period. Its unaccountable glory spread all over the world during the reign of Sharqi dynasty then it became powerful kingdom and consisted of an area extended over Awadh. It is assumed that the city was founded by Tughlaq ruler of Delhi sultanate Firoz Shah in the honour of his cousin brother Jauna Khan in 1358-59 AD. Maliq Sarwar, an African eunuch was appointed the governor of the Jaunpur and later on, he was obtained the title of Maliq-i-Sharq which means "king of the east". He established an independent rule in 1394 AD but died soon thus this dynasty is known as Sharqi dynasty and ruled till 1478-79 AD. Once, it became more powerful than Delhi for their literature, art and cultural activities and was known as "Shiraz of India" during the time of Ibrahim Shah.

Architecture

Sharqi rulers were great patronage of art and architecture and built number of incredible architecture during their rule. Most significant architectures were the Fort, Atala mosque, Lal Darwaja mosque, Jhanjiri mosque and the Jami mosque.

The fort is known as Shahi Qila which is situated on the bank of river Gomti. It was built by Firoz Shah Tughlaq in 1360 AD on mound of an earlier fort called Kerar Kot. This mound is naturally and formed escarpment by the incision of the Gomati River. The fort has an irregular quadrangle plan enclosed by lofty wall of but most of part is dilapidated. The height of main gateway is about fourteen meters and having usual chambers on either side. Munim Khan, an officer of Akbar added a courtyard towards the eastern gateway which had an entrance of 11 feet high. The fort is built of massive stones and covered with ashlars

*Ph.D. Scholar, National Museum Institute of History of Art, Conservation and Museology, New Delhi

stones externally. Munim Khan also supervised the construction of a bridge made of seven arches known as Shahi Bridge, was built by the order of Akbar. The fort was devastated by Lodis but it was renovated during the reign of Akbar. There is a Hammam inside the fort which represents perfect model of Turkish bath, locally called as Bhool Bhulaiya. It is built partly undergrounded having arrangements of inlet and outlet water channels for hot and cold water.

The first mosque at Jaunpur was built in the fort which was made by Ibrahim Naib Barbak, brother of Firoz Shah in 1376 AD. It measured 130 feet externally from north to south with large archway. The mosque is completely built with typical Bengal style in trabeate pattern of consist of three chambered sanctuary covered by flat ceiling and pillars. Most of the designs and decorative elements demonstrate Hindu temple style.

Atala mosque is one of the principal architecture of Jaunpur built with sandstone and granite. The foundation of the mosque was laid by Firoz Shah but could not complete because opposing of Hindu. It was Ibrahim Shah who finished it in 1408 AD. The mosque is built on the site of ancient Hindu temple named as Atala Devi. Atala Mosque is in square plan and its square courtyard surrounded by cloisters of 5 bays having double storey on three sides with gateways and sanctuary hall is composed on west. The cloisters are composed of columns, corbel bracket and flat ceiling. The eastern one is largest pylon on its façade without domed structure while other two on the north and south gateways comprise with dome behind the pylon. Hindu brackets and flat ceiling which shows it is built of Hindu temple material on large scale. The noble sanctuary consist of three mihrab on qibla wall usually centre one is greater than other two and decorated with beautiful fringe of floral buds. Each wing of noble sanctuary and central mihrab is surmounted by domed ceiling and central one is greater than other two. The most striking feature of the mosque is pylon which divided by an oblong panel on each side decorated with ornamental arched and blind niches. An entrance way provided through small arch by using of lintel and brackets. The height of pylon is 75 feet and the width across the base is 54.6 feet.

Khalis-Mukhlis and Jhanjiri, are other two mosques but most of the structural parts have been ruined. Khalis-Mukhlis mosque was built by the order of two governors, Maliq Khalis and Maliq Mukhlis on the site of Hindu temple. It followed the same architecture of Atala mosque with large pro pylon and decorative style. Jhanjiri mosque built in 1430 and only the central part of the façade has been remained. The stone screen, pillars and corbels give the idea of decorative elements of the mosque.

The Lal darwaza mosque is another important structure of Sharqi period. It was built by Bibi Raja, the wife of Mahmud Shah Sharqi during 1440-56 AD. The plan of the mosque followed by the same square plan as Atala mosque but size is reduced. It was built on raised platform approached by series of steps on eastern side. It was also built by material of Hindu temple with grey sandstone and granite but the name of the mosque got by its red coloured gate painted with vermilion. The mosque measures 168 feet 6 inch in length inside by 35 feet 4 inch from front to back. The courtyard of the mosque is about 132.5 feet from east to west and 130.5 feet from north to south. The nave and the wing of the noble sanctuary comprise cloisters of four bays deep having single storey while other three sides composed by two aisles deep. Single dome is provided in whole structure over the central nave of the noble sanctuary. The pylon is about 48.6 feet high and 44.9 feet wide at the base. The entrance way provided through arches composed of double pillars, lintels and brackets.

The Jami mosque is the last religious structure of Sharqi rulers of Jaunpur. It was begun by Mahmud Shah around 1438 AD but extended and completed by Hussain Shah Sharqi in 1478 AD. The mosque raised on high plinth about 16.20 feet approached by series of steps. The central courtyard is about 217 feet 4 inch by 211 feet 6 inch and surrounded by

cloisters on three sides and other one on the west has noble sanctuary surmounted by the dome of 39 feet 8 inch in diameter. The double storey cloisters are two aisles deep and centre of each cloister comprises an entrance way open into domed hall. A pylon provided in the centre of the sanctuary façade is about 84.4 feet high and 76.10 feet wide at the base. The sanctuary comprises three mihrabs, the central one is greater than flanked two and inscribed by Quranic verses in carved pattern. The central nave of the sanctuary hall with principal mihrab is covered by dome and low pillared room provided on each side of the nave. Then the large barrel vaulted hall composed on either side of nave measuring by 49.3 X 39.7 feet and 44.4 feet in height with façade of three opening arched.

Conclusion

Above monuments explain the glory of Sharqi Empire and their architecture provided support to future architecture and made them more advanced. Their starting structures were simple but later on, they became more sophisticated. Use of temple material and sites were demand of that time, as they wanted to spread their political and religious approach. Hindu elements like flat ceiling, corbel brackets and carved motifs and also construction pattern of trabeate form determine indigenous style. Thus here too, indo-Islamic style like Delhi was developed. Use of the colossal pylons in portal is unique example of mammoth gateway which remained limited to Jaunpur but probably, it provided a unique concept to Mughal architecture.

References :

1. Nath, R. Studies in Medieval Indian Architecture. New Delhi: M D Publications Pvt Ltd, 1995. 33-45.
2. Fergusson, James. History of Indian and Eastern Architecture. Edit. James Burgees & R. Phene Spiers. London: John Murray, Albemarle Street, W., 1910. 222-228.
3. Brown, Percy. Indian Architecture (Islamic Period). Delhi: Kiran Book Agency, 2010. 42-46.
4. Earth Science India. Popular Issue, VIII (III), July, 2015, 1-9, www.earthscienceindia. info/ popular%20archival/download.php?file=pdf-64.pdf.

***

Social Networking Sites with proper Authentication

Aruni Singh*
Sita Ram Singh**

Abstract

In modern age, Social Networking Sites (SNSs) are gaining its popularity to share thoughts, views, culture, status, image, video etc. in various domain of life such as academics, religion, politics, research and development. In spite of a popular media, SNS has its weakness which is inefficient authentication of user login. Due to this disadvantage, various types of fake message, personal or national threats, non-social activities, vulgar and harassing figures and videos etc. are posted on SNS by some imposters or anti social personals. Evidenced by the literature no any technique is reported to overcome this big social problem. In this paper a novel SNS is presented with the facility of biometric recognition to defeat this attack. We have embedded face recognition technique at the time of registration of login in the site. Four different types of algorithms are implemented in it for verification purpose and a found very promising result ranges 78.1% ~ 92.9% at various protocols.

Keywords - Social Networking Site, authentication, security, biometrics, face recognition.

I. Introduction

Social Networks are used by hundreds of millions of people around the world. Social Networks is defined as an relation based service that allows individuals to construct a public or semi-public profile within a bounded system, formulate a list of other users with whom they share their views, connection. culture, thoughts etc. and traverse their list of connections made by others within the system [1].

Since, now-a-days the fascination of Social Networks is dispersing in every field of life for social reasons. Therefore, there are more than hundreds of Social Networks, with a variety of technical availabilities which support a very diverse range of interests, beliefs, activities, and practices[2]. Use of the internet and social media has grown substantially over the last decade, and the use of these new web-based technologies for work related activities has been a major part of that. In this scenario, some websites have been rendered named as Social Networking Sites (SNSs) which are internet-based systems and services that allow individuals to create multiple public or semipublic profiles either within or between different Social Networks[3] and articulate a list of other users with whom they share a connection, often referred to as 'friends'[4]. That's why more than 184 different SNSs[5] have been launched across the global world depending on the variety culture and language.

Some SNSs are specific to a topic or industry while others are more open-ended. Some users accept the challenge of seeking to have the largest number of connections, friends or followers without any real relationship. The people having similar interest utilize the SNSs as a tool for youthful revolution. These sites are earning a wide range of interests which support the maintenance of pre-existing social network. Some sites also provide to diverse audiences, while others attract people based on common language to share their diverse views. Sites also vary in the extent to which they incorporate new information and communication tools, such as mobile connectivity, image and video-sharing. There has also been considerable media coverage of the growth of social networking, its potential positive outcomes and concerns about the way that some people are engaging with it.

**Asst. Prof. in K.N.I.T., Sultanpur (India)
**Asso. Prof. in G.S.P.G. College, Sultanpur (India)

This paper is divided in six sections. Section II contains the history of SNS while section III demonstrate the issues of SNSs. Section IV includes proposed methodology and section V explains the experimental evaluation while last section VI contains conclusion and future scope.

II. History of SNSs

Today the four most popular SNS with popularity being determined by the amount of traffic to the site are Facebook, Twitter, YouTube and Linkedin. Today YouTube is considered the second largest search engine just after Google

In 2009 a face to-face survey of 2013 individuals randomly selected from UK households found that 70 per cent of the populations were using the internet an increase from 59 per cent in 2003, based on a response rate of 62 per cent. 61 percent of employed internet users made some use of the internet at work, spending on average seven hours a week online at work (Dutton Helsper & Gerber 2009). Around 91 per cent of businesses with ten or more employees have internet access (ONS 2010). More interactive online technology such as blogs, SNSs such as 'twitter' and 'Facebook' and other innovations which are part of greater interactivity interact and collaborate with each other in a social media dialogue which become more prominent. 49 per cent of internet users engage in social networking online, up from 17 per cent in 2007 (Dutton Helsper & Gerber 2009). Facehook' is the most prominent SNS to the Google web search engine in terms of internet traffic according to the Alexa internet rankings (Alexa 2011), with over 500 million users worldwide and 26 million UK users (BBC 2010) You Tube follows 'Facebook' in terms of traffic and Twitter, a micro blogging site begun in 2007, is tenth in the Alexa rankings, with around 3.7 million users in the UK (Optix 2010). This suggests that use of social networking has grown significantly, but does not provide information on its purpose and whether there are implications for employment issues [6].

Therefore the accurate user authentication is highly desirable for effective security of these sites.' This paper contributes for the authentication of the user login with his face image and will be very much effective to secure the SNSs from misleading attack.

III. Issues of SNSs

Together with the benefits there are some serious issues with such sites, particularly around data protection and protection of children. The Some major limitations of SNSs are listed below-

* According to the recently published report of the commission of a consultation on social networking and child safety. The commission is encouraging self regulation and has established a Social Networking Task Force with "17 operators of social networking sites used by under-18's, a number of researchers and child welfare organizations". The task force will establish voluntary guidelines for how children use SNSs and in 2009-20 13 it will build social networking sites into the commissions Safer Internet Programme.
* According to the e-Gov, the age of users using SNSs have dropped over the last few years and large numbers of 9-10 year old children are using the sites. Theseimpart them open to abuse by some adults, cyber bullying by peers and abuse of their private information. These can be minimized by parental control and screening. Even some SNSs also providing user safety tools, information and systems for reporting banned content behavior.
* It can stay connected with large people, it is very difficult to know who is genuine and who isn't. Identity theft and fraudulent activities are always launched by malicious people on these sites.
* Money swindlers always advantage of customers by creating a fraud business page.
* Teenagers may success to make wrong friends who always post censored content as there is no proper censorship method used. Moreover, getting the social board in a single page view seems cool but it could keep you glued to your desk for hours.

Keeping in mind the disadvantage of SNS it's problematic to decide whether the SNSs are favorable or not? According to our thought when personal logins of SNSs are properly authenticated the misuse of this networking facility will be prevented. Therefore, we have initially implemented our novel SNS with biometric authentication and tested the validation gaining very promising results. This technique will be very much beneficial for the SNSs in future.

IV. Proposed Methodology

A- In addition to computer with internet facility, proposed SNS requires web camera also for face image acquisition which protect the society from huge loss. We have implemented the facility of massaging, scrap post, photo upload, and 'friend' request accept/reject, view friend list, games, personal profile up-gradation etc.

B- For user authentication we have implemented holistic (PCA), intelligence (iSVM), texture (LBP) and feature based algorithms (SIFT) and obtained the results on the database of 100 subjects which are very promising result. A brief description of all the hour algorithms is given below-

i)Principal component Analysis (PCA)

It is a holistic information based face recognition algorithm which uses the eigenfaces[14,15,l0] where the probe and gallery images which must be of the same size and normalized to line up the eyes and mouth of the subjects within the images. This approach is used to reduce the dimension of data by the means of image compression basics[15] and provides most effective low dimensional structure of facial pattern. The main advantage of this technique is that it can reduce the data needed to identify the individual to 1/1000th of the data presented[16]. This reduction drops the unuseful information and decomposes the face structure into orthogonal (uncorrelated) components know as eigenfaces. Each face image is represented as weighted sum feature vector of eigenfaces. A probe image is compared against the gallery image by measuring the distance between their respective feature vectors then matching result is disclosed [17].

ii) Improved Support Vector Machine (iSVM)

Improved Support Vector Machine (SVM) is a popular intelligent binary classifier based on the structure of the Riemannian Geometry induced by the kernel function. Amari et al. in 1999 [18] proposed a method of modifying a Gaussian kernel to improve the performance of a SVM. The idea is to enlarge the spatial resolution around the margin by a conformal mapping, such that the separability between classes is increased[19]. Due to the very prompt results with modifying kernel, this study proposes a novel facial expression recognition approach based on improved SVM (iSVM) by modifying kernels. We have tested this algorithm on our novel database and encouraging result is obtained.

iii) Local Binary Pattern (LBP)

The LBP operator is a powerful texture descriptor [20]. The square matrix of pixels is considered to generate the labels. In this techniques binary number sequence after thresholding is considered as resultant labels and the histogram of labels is used as texture descriptor. Obtained histogram contains complete information of whole face image of about local face macula, spots, surface flat areas, edges, and all about textures. Nearest neighbor classifier is used for classification.

iv) Scale Invariant Feature Transformation (SIFT)

In SIFT, features are extracted from images for matching between different pose of same subject[21]. These features are invariant to scale and orientation. Steps to find out these features are described in 22.

V. Experimental Evaluation

A- Expeirmental Database

For our experiment we have developed two category of image database. First category of image database is the face image database of user, when user wants to register himself and create a login on the website. He or she is allowed to activate (press) the 'Register' button from the home page of our SNS, the interface logic automatically activates the web- camera and capture the face image of the user. That face image of user is stored into the database after normalization. Second category of database is the database of images presented by the user at the time of personal profile generation In this category it is not necessary for the user to present own image as his profile monogram.

B- Experiments

In our experiment, when user want to enter then own login, the web camera automatically activates on pressing the 'login' button after filling the mandatory entries and capture the face image of user. After capturing the face image it normalizes that image and starts the verification process of captured image with the face image of user previously stored in the database. After verification user's login opens.

C- Experimental Analysis

The result shows that the performance varies with the variation of poses of the user at the time of login. The verification performances are listed below.

* SVM is known as intelligent classifier which intelligently verifies the user of SNS and shows highest performance among all along algorithms.
* SIFT works on feature transformation. Facial features are exactly demonstrates only in frontal poses. That's why in frontal pose, the verification accuracy is in second position after iSVM while in other pose it lacks the accuracy from other algorithms.
* LBP algorithm is based on texture property of the surface. The texture property is directly proportional to the variation of pose. And thus, in slight displacement of pose, the verification accuracy is slight decreases and in second position after iSVM.
* PCA lacks the accuracy because PCA works on the basis of eigenface. In this case the eigenface doesn't contains the more features due to single gallery and probe image.
* It is self described from the figure 2 that equal pose variation of left and right presents nearly equal verification accuracy.

VI. Conclusion and Future Scope

Apart of several issues and challenges, we have designed an authentic and secure SNS having features massaging, scrap post, photo upload, friend request accept/reject, view friend list, games , personal profile up-gradation etc. In our SNS, biometric verified logons is embedded which will make the vulnerable aspect of networking more secure.

One of the most fundamental problems in image acquisition are the ability to take consistent, high-quality user face image to process that image online which is implemented by our site. In order to compare the performance of face recognition algorithms in this site, we have selected four face recognition algorithms PCA, iSVM, LBP and SIFT for the authentication of user login and found initial results, very promising ranges 78.1% ~ 92.9% at various poses.

The approach described in this paper is initially successful arid encouraging but more research is to be done in the following domain:

* Size of database is to be increased with covariates such as illumination variation, pose variation, distance variation, expression variation and occlusion variation conditions must be considered while capturing the face image of user.
* Some new algorithms are to be designed for the authentication of personal login to secure the Networking Site.
* In this respect the evaluation of other types of algorithms are to be done.

References :

1. Boyd, D. M.. & Ellison. N. B. (2007). "Social network sites: Definition, history, and scholarship", Journal of Computer- Mediated Communication, 13(1), article 11.
2. M.B.Danah and B. Ellison. "Social Network Sites: Definition, History and Scholarship", Journal of Computer-Mediated Communication, 13(1), article 11.
3. Dana M. Boyd and Nicole B. Ellison, "Social Network Sites: Definition, history, and scholarship", Journal of Computer- Mediated Communication, 2007.
4. M. Zuckerberg, "Building the Social Web Together, Building the Social Web Together". April 21, 2010.
5. H. Streck, "Social Network and Their Impact on Records and Information Management", ARMA International Educational Foundation 1609, January 25(2011).
6. A. Broughton, T. Higgins, B. Hicks and A. Cox, "Workplaces and Social Networking The Implications for Employment Relations", ISBN 978-1-908370-07-5.
7. O. Wasow, "personal communication," August 16 2007.
8. B. Fitzpatrick "personal communication", June 15, 2007.
9. D. Skog. "personal communication", September 24, 2007.
10. M. Turk and A Pentland "Eigenfaces for Recognition", J. Cognitive Neuroscience, 3(1) (1991).
11. Chafkin, 2007, p. I.
12. P.S. Jothi, M. Neelamalar and R.S.Prasad, "Analysis of social networking sites: A study on effective communication strategy in developing brand communication", Journal of Media and Communication Studies Vol. 3(7), pp. 234-242, July (2011).
13. G.O.Singer and A. Sundararajan, "Are digital rights valuable? Theory and evidence from the e-Book industry", 25th Int. Conf. Info. Systems, Washington, D.C., 2004, pp. 533-545.
14. P. Belhumeur, J. Hespanha, D. Kriegman, (1997). "Eigenfaces vs. Fisherfaces: class specific linear projection," IEEE Transactions on PAMI. 19(7), 711-720.
15. M. Turk and A. Pentland, (1991), "Eigenfaces forRecognition," J. Cognitive Neuroscience, 3(1).
16. L.Sirvoich and M.Kirby, (1987) "A low dimensional Procedure for Characterization of Human Faces", J .Optical SOC. Am. A, Vol. 4, No. 3, 519-524.
17. A.Singh, S.Tiwari, S. K. Singh(2012): "Performance of Face Recognition Algorithms on Dummy Faces", Advances in Comp. Sc. Engineering & Application, Advances in Intelligent and Soft Computing (Springer), Vol. 116/2012, 211-222.
18. Amari S. and Wu S., "Improving Support Vector Machine classifiers by modifying kernel", PMID: 12662656, Neural N/W 12(6): 783-789.
19. W.Liejun, Q.Xizhong, Z.Taiyi, "Facial Expression recognition using Support Vector Machine by modifying Kernels", Information Technology Journal, 8: 595-599.
20. Ojala, T., Pietikiainen, M., Harwood D.,(1996) "A comparative study of texture measures with classification based on feature distributions ", Pattern Recognition 29, pp:51-59.
21. David G. Lowe,(2004) "Distinctive image features from scale- invariant keypoints", International journal of computer vision, 60.
22. J. Krizaj, V.Struc, N.Pavesic: "Adaptation of SIFT Features for Robust Face Recognition".

***

POLITICS OF IMMIGRATION IN CANADA

Charu Ratna Dubey*

INTRODUCTION:- Canada is known as a settler society. If we go through the history of Canada, we find that people from all parts of the world reached Canada as immigrants. In fact Canada is the most immigrants receiving nation of the world. There are a number of reasons for this immigration. Some theories focus on the 'push' factor that lead the people to leave their country of origin, while other focus on 'pull' factor that attract individuals to immigrant receiving societies. But the most important reason is the unique social and political circumstances that cause for immigration to a particular or specific country.

If we go through the history of Canada we will find that the immigration to Canada is very popular since the period of colonialism. As we know that the French people settled in the eastern part of Canada before the Britishers took the whole country into clutches to make it a colony of Britain. Before this Canada was the land of Indigenous people. It is believed that Inuits came to Canada in 1200CE. With the passage of time the people of Canadian origin became less in numbers and European became the citizens of Canada. Especially at the time of American Revolution British people started to move to Canada from America.

Till the end of the Second World War the Canadian immigration policy was very racial in nature. They were of the view that Whites are the best. They believe in White supremacy and it was their conviction that the people of other races are inferior and uncivilised. But in 1960's we can notice a drastic change in Canadian immigration policy. The policy of immigration in Canada evolved slowly. Upto 60's Europe and America were the main source of immigrants to Canada but in the last decade of 20th century a drastic change took place in the demography of Canada. With the 21st century Asia, Africa and Latin America started to play an important role in changing the demography of Canada.

It is also very important to know that why this change took place in the immigration policy of Canada. Canada's immigration policies were reformulated over time to attract agricultural settlers, then to encourage those with technical skills and professional expertise, and more recently those with substantial investment portfolios. Briefly we can say that the demand of skilled labour and the internal problems of Canadian demography make the country more likely to change its policy of immigration after the Second World War. So Canada became a more vibrant and dynamic society because of immigrants. Immigrants have contributed to Canada's cultural diversity and economic prosperity without harming its social fabric and national identity. With immigration the image of Canada as a British nation changed into a cosmopolitan mosaic of different cultures and languages (Dyer, 1998).

So if we want to know that how this immigration is taking place we must go through the policies adopted by Canada in different time span to exclude or accommodate the immigrants from different parts of the world. Before we check the policy of Canada we should know that which type of people reach Canada.

*Research Scholar, SIS, JNU

TYPES OF IMMIGRANTS: There were many reasons due to which the people from many parts of world reached Canada. The immigrants are divided into four major categories.

1- Family Class.
2- Economic Class or Working Class.
3- Refugee Class.
4- Temporary Residents.

1- FAMILY CLASS: Close relatives could be sponsored for immigration if family members were willing to support them. These types of immigrants are going to Canada from a very long time. Immediate members of family are automatically allowed to Canada. Only the requirement is that they must have good health and do not have any criminal record. Father, mother, spouse and the dependent children under 21 comes in this category. The immigrants of this categories accounts for about 26% of all immigration to Canada.

2- ECONOMIC CLASS OR WORKING CLASS: Canada is a country who is becoming more and more dependent on the skilled labour for economic growth. The economic class includes skilled workers and businessmen (entrepreneurs, self employed and investors). Skilled workers are allowed to immigrate on the basis of the points achieved by them under a point system. The applicant requires 67 points for entry into Canada. The factors which are includes in selection criteria are education, language, experience, age and adaptability. This category is 19% of the total population.

3- REFUGEE CLASS: Refugees also come in the category of immigrants. Refugees are accepted into the country as a part of Canada's humanitarian commitment and legal obligations to the world. Canada recognised two categories of refugees. They are exempted from the required points for entry in the country. One category is sponsored refugees who are selected by abroad government officials. Another category is of those who arrive unannounced by foot boat or plane, usually without having any official document with them. Canada not only gives them shelter but also provide housing, food, medical care etc.

4- TEMPORARY RESIDENTS: Temporary residents consist of students and foreign workers. Students who are in canada for higher studies comes in this category. Those who are there for research work also come in this category. So who are there for a certain period of time and will return back to their country of origin is called temporary residents.

Thus immigrants lie in one of the four categories discussed above. Canada's immigration programme is very robust in nature. In recent years China has become a leading source of country for immigrants to Canada. Most of the Asians are going to Canada. In short Canada has become the popular destination of the Asians.

MAJOR POLICIES OF IMMIGRATION: In each and every country the immigration is a part of a general set of national policy. The history of immigration to Canada extends back thousands of years. Inuits were the first immigrants to Canada. In the 19th century the focus was on to provide farmers to the Canadian agriculture. From the second half of 19th century to the starting of 20th century the goal was to secure farmers, farm workers and female domestics. They also want to populate, farm and settle the Canadian west. In this period the search of the farmers was concentrated in Britain, U.S. and North Western Europe. Because of the high demand the countries of Eastern and Central Europe were also included in the last years of this period. In his period immigration was highly centralised to one particular race.

Nothing changed till the first half of 20th century. Canada continued to give preference to the Whites in their policy of immigration policy. The Chinese immigrants were imposed higher Head Taxes. Following the concept of "Any Immigrant of Any Asiatic Race" the discrimination was done to the Asians and Canadian policy makers continued to exclude Asian people to enter in the land of Canada. While after the First World War there was a

cautious encouragement to the immigration. The doors were opened to British subjects, Americans and the citizens of preferred countries. Only agriculturalists, farm labourers and sponsored family members could be admitted.

Changes in the immigration policy were done progressively. There was no sudden change immediately after 1945. Yet, the policy shifted slowly. Progressively, the discriminatory clauses in the Canadian Immigration Bill were altered then removed. Important changes were done in 1947, 1952, 1962, 1967, 1976 and 2002.

Reasons given for this change are primarily the following :

1. The economic needs of Canada changed. The country now needed highly skilled, educated, immigrants who would make an important contribution to the technological revolution taking place. Immigrants came to the cities and started to contribute for the well-being of the country. Post-war prosperity was linked to the coming of this skilled workforce.
2. In the Post-War period we noticed an unprecedented economic growth and increase in the standard of living. Jobs were plentiful and immigrants were not perceived as competing for scarce jobs.
3. Greater education among Canadians. New technology (radio, television cinema etc) and foreign travel brought Canadians into contact with people from the rest of the world and made them curious, and more open, about other cultures.
4. The effect of World War II, the horror of the death camps, etc. made Canadians see what intolerance leads to. The Post-War period, especially the 1960's, was a period of growth in the recognition of Human Rights.
5. Increasing organization of minority groups to defend their rights. Individual immigrants are not fighting prejudice alone anymore.
6. An important element of Canadian post-war immigration policy, extending to the early 1960's, was a strong anti-communist component. This sentiment was widespread at the height of the cold war period. Anti-communist and people fleeing the communist dictatorship were given asylum in Canada.
7. In the post-war period, the increasing rise in the standard of living in Europe, made European immigrants less interested in immigrating to Canada.

Thus, due to the above reasons Canada changed the policy of immigration. In 1946 Canada adopted a citizenship act which created a separate Canadian citizenship distinct from British. On 1 may, 1947 Prime Minister Mackenzie King made a statement on Canadian immigration. He said that immigration had a purpose of population growth and improved Canadian standard of living. He also said that immigration should not change the basic characteristics of Canadian population. From here the notion about the immigration of Asians and Africans started to change. Now Canadians started to recognise Chinese immigrants. They were highly discriminated from 1923 to 1947.

In 1952 a new Immigration Act was passed by the legislature. The act came into effect from 1 June 1953. This Act did not make substantial changes to immigration policy but gave the Minister and officials substantial powers over selection, admission and deportation. It provided for the refusal of admission on the grounds of nationality, ethnic group, geographical area of origin, peculiar customs, habits and modes of life, unsuitability with regard to the climate, probable inability to become readily assimilated etc. Homosexuals, drug addicts and drug traffickers were added to the prohibited classes. The Act provided for immigration appeal boards, made up of department officials, to hear appeals from deportation. In this way the policy of immigration started to change. Now the focus was not on the type of nationality, ethnic group, customs etc. Rather the policy makers started to give preference to the skill of the immigrants. So now the things have changed and a paradigm shift took place in the immigration policy.

In 1962 a major changed occurred when a reform bill was introduced. These new regulations virtually eliminated racial discrimination as a major feature of Canada's immigration policy. So with this new reform any unsponsored immigrants who had the requisite education, skill and other qualifications were to be considered suitable for admission irrespective of colour, race or national origin. When the new regulations were implemented on 1 February 1962, Canada became the first of the three large receiving countries in international migration to dismantle its discriminatory immigration policy . The other two are United States and Australia. Thus Canada abandoned its all White racist policy and started admitting individuals on personal characteristics not on nationality.

The most significant development in immigration policy in these years was the introduction of the points system. This method was designed to eliminate prejudice in the selection of independent immigrants. In the points system, immigration officers assign points up to a fixed maximum in each of several categories, such as education, employment opportunities in Canada, age, the individual's personal characteristics and degree of fluency in English or French. The points system was incorporated into new immigration regulations in 1967. Other features of these regulations included the elimination of discrimination based on nationality or race from all classes of immigrants. This point system was adopted to facilitate and encourage the flow of skilled immigrants. Family class was still prioritized. This class was exempted from this point system.

The Immigration Act of 1976 was the cornerstone of immigration policy which came into force in 1978. It broke new ground by spelling out the fundamental principles and objectives of Canadian immigration policy. The main reason for the enactment of this act was promotion of Canada's demographic, economic, cultural, and social goals. It was said that the act has four objectives (a) social- to reunify families through sponsorship, (b) economic- to foster a strong economy through a skilled workforce, (c) humanitarian- to fulfil Canada's international obligations, (d) security- to ensure safety of Canadians with immigration. Through this act the entry condition for admission to Canada were organised into three categories: sponsored, independent and nominated.

Close relatives could be sponsored for immigration if family members were willing to support them. Independents can get entry on the points the get and nominated immigrants had to rely on points (Driedger, 2003). The 1976 Immigration Act received almost unanimous support from all parties in the House as well as the widespread approval of public and private interest groups, the media, and academics.

The new Immigration and Refugee Protection Act which come into effect June 28, 2002 aims to modernize the selection process for skilled workers. The changes are intended to facilitate the entry of skilled individuals who can readily adapt to the ever-changing Canadian labour market. The Government of Canada wants to select people who can demonstrate their flexibility rather than their skill in one intended occupation. The new point system has been improved to meet the dynamic nature of the Canadian labour market. In short this act was a replacement of the 1976 immigration act. This change was done to younger bilingual educated workers. With this act more powers of detention were given to the government. The category of undocumented protected persons was eliminated. This act was a little bit influenced with the 9/11 incident.

CONCLUSSION: Now it is clear that how Canada changed its immigration according to the need of the hour. First immigration was only concentrated to the western European countries and North American countries and the requirement was for the farming purposes. But with the time the requirements changed and with the changing requirements the origin place of the immigrants also changed. This happened only after the Second World War because of many reasons. Canada now started to give shelter to the people of Eastern

Europe and also to the people of China. These changes come only in 1950's and 60's when Canada made some relaxation in the immigration policy. With the end of the 20th century the immigration policy changed a lot and there was no discrimination on the basis of race, nationality, ethnic origin. Canada also started to take people from the states which were once called 'Enemy States'.

So we can notice a gradual change in the politics of immigration in Canada. After 1960's the pattern of immigration also changed. People from Asia, Africa and Latin America started to reach there in a very large number. If we go through the 2005 data we can notice that the immigration took place because of economic reasons. Means the immigrants who reached there are basically from economic or labour class. It was estimated that in the total immigration in 2005 56.1% was from economic class, 28.5% from family class, 12.8% from refugee class and 2.6% from other class .

New data shows that China, India, Philippines, Pakistan and Columbia became the top five source countries of immigration. But the 9/11 incident made the immigration a little bit difficult because of scrutiny and security check. But still Canada is the favourite destination of the people of Third World countries.

References :

1. Cannon, Margret(1995), "The Invisible Empire: Racism in Canada", Toronto: Random House Canada.
2. Collions, Jock and Francis Henry(1994), " Racism, Ethnicity and Immigration" in Howard Adelman (eds.) Immigration and Refugee Policy: Australia and Canada Compared, Toronto: University of Toronto Press.
3. Fleras, Augie and Adie Nelson(2005), "Social Problems in Canada: Racism in Canada: Conditions, Constructions and Challenges", Toronto: Pearson.
4. Kallen, Evelyn(2003), "Ethnicity and Human Rights in Canada", London: Oxford University Press.
5. Sutzewich, Vic and Nikolas Liodakis (2010), " 'Race' and Ethnicityin Canada", London: Oxford University Press.

***

STARTUP INDIA

Dr. Ragini Shah*

Abstract :

Startup India is a plan initiated by the government of India at a large level where it aims at initiating the entrepreneurial skill of young risk takers, from every sector of the economy. The vision is to create a strong eco-system for nurturing innovation and empowering Startups in the country. The policies under this plan is made in such a way so that starting a new business venture would be easy with less legal bindings, exemptions in taxes and financial assistance from government. This plan promote new business ideas with sound base of knowledge. The government under this plan tries to provide fund from banks, angel investors, venture capitalist and many more. Thus, the plan is executed at large level with wider perspective of economic growth. This paper tries to explore the initiative taken by the government under the scheme Startup India and the benefit derived in the society.

Keywords: Startups, Startup India plan, Exemptions given to Startup, Young Entrepreneurs, Innovation.

1. Introduction :

Startup India is a plan launched by our Prime Minister Shri Narendra Modi on 16 Jan, 2015. The plan aims to promote young entrepreneur in India. The vision is to create a strong eco-system for nurturing innovation and empowering Startups in the country. The policies under this plan is made in such a way so that starting a new business venture would be easy with less legal bindings, exemptions in taxes and financial assistance from government. This plan promotes new business ideas with sound base of knowledge. The government under this plan tries to provide fund from banks, angel investors, venture capitalist and many more. Thus, the plan is executed at large level with wider perspective of economic growth. It tries to promote common man and his entrepreneurial skill. Moreover, the new Startups falling under this scheme will get unlimited benefit from government. Thus this plan not only upraise the standard of living of common man, it also make better use of resources, increasing employment throughout the country, giving boost to the economy, decreasing imports and making India a self sufficient country. nurturing innovation and empowering Startups in the country:

- From digital/ technology sector to a wide array of sectors including agriculture, manufacturing, social sector, healthcare, education, etc.; and
- From existing tier 1 city to tier 2 and tier 3 cities including semi-urban and rural areas.

The Action Plan is divided across the following areas:

- Simplification and Handholding
- Funding Support and Incentives
- Industry-Academia Partnership and Incubation

2. Objective :

The objective of this paper is to explore the new scheme floated by the government of India known as Startup India on 16 Jan, 2016. The present government is continuously making effort to promote business in all sectors of the economy and raise standard of living by promoting common man. For this a new policy launched by the government is Startup India where initiative is taken by the government to promoteentrepreneurship skill in the

*Assistant Professor, Sunbeam College for Women's, Varanasi, India

country. This paper tries to explore the initiative taken by the government under the scheme Startup India and the benefit derived in the society.

3. Data and Methodology :

The data and methodology used in the paper is descriptive one where efforts were made to explore how Startup India will promote new entrepreneurs in the country. The sole aim of this scheme is just not to business and trade rather to promote new business ventures from young risk takers. This will create employment together our economy will become self sufficient. The data is collected from various journals, articles, website, magazines and research papers. Moreover, the paper tries to present the factual situation relating to Startup India.

4. Compliance Regime based on Self-Certification :

India is a country where there are number of labour and environment laws which is very difficult in nature. It is very hard to comply to these laws and especially for small units which have just begun because they do not know about these laws. To make start up easy these laws should be flexible, easy and simplified so that new entrepreneurs could take up the business venture.A new law amended for Startups is that they are allowed to self-certify compliance (through the Startup mobile app) with 9 labour and environment laws (refer below). In case of the labour laws, no inspections will be conducted for a period of 3 years. They will be inspected on receipt of credible and verifiable complaint of violation, filed in writing and approved by at least one level senior to the inspecting officer.

Labour Laws :

- The Building and Other Constructions Workers' (Regulation of Employment & Conditions ofService) Act, 1996
- The Inter-State Migrant Workmen (Regulation of Employment & Conditions of Service) Act, 1979
- The Payment of Gratuity Act, 1972
- The Contract Labour (Regulation and Abolition) Act, 1970
- The Employees' Provident Funds and Miscellaneous Provisions Act, 1952
- The Employees' State Insurance Act, 1948

Environment Laws :

- The Water (Prevention & Control of Pollution) Act, 1974
- The Water (Prevention & Control of Pollution) Cess (Amendment) Act, 2003
- The Air (Prevention & Control of Pollution) Act, 1981

5. Startup Hub :

It is a Hub which supports young Indians who are ready to take risk, coming with good ideas and capable of doing the business. Itprovides afriendly and conducive environment so that young entrepreneurs come with their new and innovative ideas. Startup needsa strong guidance, knowledge and financial assistance.For this the government has started Startup Hub which will be guiding stakeholders and providing all kind of assistance.The hub provides a platform where entrepreneurscould collaborate with Central & State governments, Indian andforeign Venture Capitalist, angel investors, banks, incubators, legal partners, consultants, universities and R&Dinstitutions. The other aspects through which hub assist is in obtaining finance, feasibility testing, business structuring advisory, enhancement of marketing skills,technology commercialization and management evaluation. These are the divisions which also need a strong supervision otherwise a good business idea

Start Hub just not help at the organisational level rather it help the organisation to flourish its business. It organises programs together with the government organizations, incubationcentres, educational institutions and private organizations to foster growth.

6. Promote Awareness and Adoption of IPRS :

The Startup India plan was given a wide platform by promoting Intellectual Property Right to them. It is hard for old business houses to get patent, trademark and IPR. In such a situation it is very difficult for Startup to get patent. In this regard government, himself come in front and commercialised and promoted IPR to Startup so that their product gets patent. In today's scenario it is hard for a Startup to get through cut throat competition and save their product from cheating. In such a scenario IPR will serve as a boon to them. The new ideas and product will be saved from duplicated product, thus making a more developed and stronger economy of India

7. Relaxed Norms of Public Procurement for Startups :

To provide an equal opportunity to Startups the government of India has taken steps to promote the business of Startups. For this the government has initiated in giving the tender to Startups. Earlier the tender was never given to new companies. It was given on the basis of prior experience or prior turnover. In both the criteria Startups failed to comply as they are new units with low experience and low turnover. From April 1, 2015 the government has made it mandatory that any tender floated by Central Govt. and PSUs should be given to Micro Small and Medium Enterprise (MSME). But Startups need to qualify the manufacturing quality and have an industrial unit in India.

8. Faster Exit for Startups :

To promote Startups the government not only gave relaxation in entry norms rather it supported the easy exit of Startups so that young entrepreneurs do not feel puzzled in legal bindings. The Insolvency and Bankruptcy Bill 2015 ("IBB"), tabled in the Lok Sabha in December 2015 has provisions for the fast track and / or voluntary closure of businesses. In terms of the IBB, Startups with simple debt structures or those meeting such criteria as may be specified may be wound up within a period of 90 days from making of an application for winding up on a fast track basis. Thus any startup can wind off the business with ease and simplicity.

9. Providing Funding Support :

A Sartup could only be promoted if it gets financial assistance otherwise it is hard to promote young entrepreneurs because they will be lacking sufficient amount of funds. In this respect government has taken a major step by provide funding support to Startups, Government will set up a fund with an initial INR 2,500 crore per year). Corpus of INR 2,500 crore and a total corpus of INR 10,000 crore over a period 4 year. These funds will be directed through SEBI.The Fund of Funds will be managed by a Board with private professionals from industries, academia, and successful Startups. The daughter fund should raise 50% or more of the initial capital and rest will be financed by Funds of fund.

10. Tax Exemption on Capital Gains :

Government has come with all sorts of measures to promote Startups. One new scheme started by government is: if the person has any amount of capital gain by selling capital assets and he invest this capital gains in Funds of fund then that amount is tax exempted. As the start-ups are of high risk and no one wants to risk their capital in such a risky investment, thus government came out with a way of pooling funds from normal investors. This could act as the biggest way of finance where investor, SEBI and entrepreneurs will be benefited. In addition, existing capital gain tax exemption for investment in newly formed manufacturing MSMEs by individuals shall be extended to all Startups.

11. Tax Exemption to Startups for 3 years :

It is not easy for Startups to grow in the initial years. They need to meet the growing demand, cut throat competition and the acceptance of the new idea. All these things make it difficult for new entrepreneurs to run the business. To solve the problems and give a part

of relaxation to the entrepreneurs the government allowed relaxation in taxes for the span of three years. This relaxation will exempt the entrepreneurs to pay taxes at the initial stage. It will help them and allow them to survive in the beginning. Thus, it may happen that they do not fall short of working capital by not paying taxes. Moreover, it will promote risk taker to come in front and take new business ideas.

12. Tax Exemption on Investments above Fair Market Value :

Any company which issues share above the Fair Market Value and gain from the issue; then the extra income generated comes under the Income from other sources under the Income Tax Act 1961. This income is taxable under the Income Tax Act. To liberalise the norms for the Startups the government gave tax exemption on investment above Fair Market Value. This will encourage seed capital investment in Startup

13. Conclusion :

Startup India is a plan initiated by the government of India at a large level where it aims at initiating the entrepreneurial skill of young risk takers, from every sector of the economy. At the very outset, it may look like it is promoting business and trade in the economy rather it is developing the strong economical system in the country. This plan will create more employment, optimum use of resources, better managerial skill, innovative products and much more. All this will happen through this plan where government has liberalised the reforms and giving financial assistance to the Startups. At last, the government of India has come with a very good plan with all the initiatives to promote Startup through this scheme.

Refrences :

1. Athreye, S., & Hobday, M. (2010). Overcoming development adversity: how entrepreneurs led software development in India. International Journal of Technological Learning, Innovation and Development, 3(1), 36-46.
2. Bharati, P. (2005). India's IT services industry: a comparative analysis.Computer, 38(1), 71-75.
3. Dahlman, C. J., & Utz, A. (2005). India and the knowledge economy: leveraging strengths and opportunities. World Bank Publications.
4. http://startupindia.gov.in/
5. http://www.grantthornton.in/globalassets/1.-member-firms/india/assets/pdfs/grant_thornton-startups_report.pdf
6. http://www.iisermohali.ac.in/StartupIndia_ActionPlan_16January2016.pdf
7. http://www.narendramodi.in/india-s-future-is-in-innovation-creativity-pm-modi-at-the-launch-of-start-up-india-initiative-399648
8. http://www.pradhanmantriyojana.in/start-up-india-stand-up-india-scheme-hindi-pdf/
9. https://www.pwc.in/assets/pdfs/news-alert-tax/2016/pwc_india_tax_news_alert_18_jan_2016_start-up_action_plan.pdf
10. Nobrega, W., & Sinha, A. (2008). Riding the Indian Tiger: Understanding India--the World's Fastest Growing Market. John Wiley & Sons.

***

प्रकाशित पुस्तकें :

आगामी सम्पादित पुस्तक :

- स्त्री विमर्श
  - डॉ० राकेश कुमार मौर्य
  - शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सम्पादकीय सम्पर्क :
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान
सी–23, आवास विकास कालोनी,
प्रतापगढ़–230001 (उ0प्र0) भारत
मो0– 09415627372, 08004802456
ई–मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrakr.maurya@gmail.com

ISSN 2394-2207

₹ 300/-

RAJ GRAPHICS # 09415842611